

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182739

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—881—5-8-74—15,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H809**

Accession No. **H3516**

Author **C55D**

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

डा० नगेन्द्र के मालोचना-सिद्धान्त

नारायणप्रसाद चौबे

एम० ए० (अंग्रेजी, हिन्दी)

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली

प्रकाशक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस,

कार्यालय : २६ए, चन्द्रलोक, जवाहरनगर,

बिक्री-केन्द्र : नई सड़क,

दिल्ली ६

प्रथम संस्करण

मार्च, १९६२

मूल्य,

सात रुपये

मुद्रक

भारत मुद्रणालय,

दर्शन भवन, शाहदरा-दिल्ली ३२

विषय और कृति

आचार्य नगेन्द्र हिन्दी के श्रेष्ठतम आलोचकों में हैं। शुक्लोत्तर हिन्दी-समीक्षा के एक प्रमुख स्तंभ तो वे हैं ही, अपनी मौलिक स्थापनाओं और साहित्यिक व्यक्तित्व की परिव्याप्ति के कारण वे आधुनिक साहित्य-शास्त्र के एक निर्माता भी माने जाते हैं। सफल अध्यापक होने के साथ ही उनका समझाने का ढंग और साहित्य के रचना-तत्त्वों और आधारभूत उपकरणों के विवेचन की प्रक्रिया बिल्कुल अपनी है। सरस कवि होने के नाते उनकी गम्भीर आत्माभिव्यक्ति अपूर्व संस्कारशीलता और सौष्ठव लेकर चलती है। किसी भी प्रकार की संकीर्ण भावना से उनकी पैनी अन्तर्दृष्टि मुक्त है। वस्तु के गहन से गहन स्तर को स्पर्श करती हुई वह उसके मर्म में पैठती है। आवश्यकतानुसार ऐतिहासिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशाओं के प्रभाव का उद्घाटन और आलोच्य विषय के सम्पूर्ण परिपार्श्व की आलोचनात्मक अन्वेषणा करते हुए वे रूप और रस के शाश्वत मूल्यों पर अडिग आस्था रखते हैं। सामाजिक शक्तियों का यह विश्लेषण उनके सौन्दर्यात्मक मूल्यांकन में बाधक नहीं होता। उनकी कृतियों में उनका सौन्दर्य-मर्मज्ञ, कलानिष्ठ, सूक्ष्मदर्शी, सुसंयत, सुसंतुलित विचारक-रूप झलकता है।

भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के समन्वित आधारभूत ज्ञान ने उन्हें सत्य और सौन्दर्य की बहुमुख प्रक्रियाओं को पहिचानने और पकड़ने की क्षमता प्रदान की है। पारदर्शी अन्वीक्षक की सजग तटस्थता और कलाकारोचित निस्संगता ने उन्हें समीक्षा-दर्शन की समस्त प्राणमयी परम्पराओं से जीवनामृत खींचकर साहित्य-शिल्प और अंतरस्थ की तात्त्विक परीक्षा का प्रबुद्ध मापदंड प्रदान किया है। हिन्दी समीक्षा-जगत् में बढ़ती रहने वाली 'फिलिस्टाइन' प्रवृत्तियों का समुचित विरोध भी उन्होंने सदैव किया है।

स्वतंत्र चिन्तन, तथ्य-दर्शन, आत्मविश्वास, भारतीय जीवन-दर्शन के प्रति अटूट निष्ठा और व्यापक विश्लेषणात्मक अनुशीलन नगेन्द्र के आलोचना-साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं। आधुनिकतम साहित्य-शैली और मनोविश्लेषण-प्रणाली के साथ प्राचीन रस-शास्त्र का सुखद सामंजस्य स्थापित कर उन्होंने भाव-पक्ष और बुद्धि-पक्ष दोनों पर पूरा बल दिया है। उनमें गवेषणात्मक शोध-वृत्ति भी वैसी ही ऊँची और प्रखर है। उनके निर्देशन में होने वाले प्राच्य और पाश्चात्य काव्यशास्त्र

के सुसम्पादन और पुनर्मूल्यांकन में भी उनका तत्त्वनिष्ठ आचार्यत्व प्रकट होता है। साहित्य के सत्यों और कला के शाश्वत रस-प्राण मानों के प्रति उनकी विचारक वृत्ति सदैव जागरूक रही है।

नगेन्द्र की पहली दो पुस्तकें साकेत और कवि पन्त पर आज से लगभग २५ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थीं। तब से वे निरन्तर आलोचनाएँ लिखते और साहित्य-विवेचन करते आ रहे हैं। उनके दृष्टिकोण में समय-समय पर परिवर्तन भी हुए हैं पर उन्होंने अपनी रसनिष्ठा को अक्षुण्ण रखा है और साहित्य के आनन्दवादी मूल्यों पर उनका आग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। यही उनका स्वतन्त्र चिंतन, कथ्य है जिसे वे सफ़ाई के साथ अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त करते हैं। अपनी आस-क्तियों और विरक्तियों के प्रति दृढ़, सतर्क, उद्बुद्ध होते हुए भी वे अपनी आलोचनाओं को वैयक्तिक प्रभाववादी समीक्षा के हल्के स्तर पर नहीं उतरने देते। किसी प्रकार की वैचारिक या सैद्धान्तिक दुरुहता-जटिलता उनकी आलोचना में नहीं होती। छायावादी कविता के प्रबल समर्थक और गुप्तजी के मर्यादावादी काव्य के पूर्ण प्रशंसक होते हुए भी नई कविता के प्रति उनका दृष्टिकोण सुलभा हुआ और सहानुभूतिपूर्ण है। सौन्दर्य और रस के प्रति यही शाश्वत आस्था उन्हें उन समस्त साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक कृष्णाओं से मुक्त रखती है जो आज के युग की विभी-पिका बनकर अधिकांश रचनाओं पर छायी रहती है। आस्थाविहीन साहित्यकार अपनी रचनाओं में कभी अपने पूरे प्राणों से जी नहीं सकता। स्पेण्डर के शब्दों में साहित्य की प्रगति से अधिक महत्त्वपूर्ण है उस अम्लान आस्था की खोज, जो जीवन और साहित्य के मूल्यों में संश्लेषण करती है। नगेन्द्र का आलोचना-शास्त्र इसी प्रगति की ओर अग्रसर है।

हिन्दी के इस विचारवान् आलोचक के आलोचना-सिद्धान्तों के व्यवस्थित अध्ययन की कमी श्री नारायणप्रसाद चौबे की इस पुस्तक से पूरी हो सकी तो एक अभाव की पूर्ति होगी। श्री चौबे प्रतिभाशाली छात्र होने के साथ-साथ परिपक्व बुद्धि-सम्पन्न अध्येता भी हैं। अंग्रेज़ी और हिन्दी-साहित्य में उनकी समान गति है। उन्होंने परिश्रम के साथ अपने आलोच्य विषय के प्रति न्याय किया है। जिस प्रकार की आलोचना और आलोचकों के कारण साहित्य में नयी प्रतिभाओं की सर्जनात्मक मृत्यु हो जाती है—जिनके लिए चेखव ने लिखा है कि समालोचक तो घोड़े की वह मक्खी है जो उसे हल चलाने से रोकती है; वैसे आलोचक नगेन्द्र न कभी थे, न हैं। ध्वंसात्मक आलोचक के प्रति विक्षुब्ध होकर सिबेलियस ने लिखा है—‘याद रखो समालोचक के लिए कभी किसी ने कोई स्मारक नहीं खड़ा किया।’ पर यह कथन नगेन्द्र-जैसे रचनात्मक आलोचकों के लिए नहीं है, जो साहित्य के

(ड)

चिरंतन प्रतिमानों की खोज में आजीवन रत रहते हैं और आलोचना जिनके लिए जीवन-दर्शन और सौन्दर्य-विज्ञान बन जाती है ।

श्री चौबे की इस पुस्तक का स्वागत करते हुए मैं आशा करता हूँ कि वे अन्य विचारशील आलोचकों के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विवेचनपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करेंगे । उनकी इस पुस्तक का अपना महत्त्व है और रहेगा ।

शिव-कुटी,
नेपियर टाउन
जबलपूर

अंचल

आभार

काव्यालोचन की परम्परा अति प्राचीन है। संस्कृत-साहित्य में इस तरह के ग्रन्थों की प्रचुरता है, किन्तु भाषागत क्लिष्टता एवं जनभाषा न होने के कारण संस्कृत के ऐसे अनेकानेक ग्रंथ ग्रंथकार में सुपुप्त हैं।

हिन्दी-साहित्य में आलोचना का प्रादुर्भाव यद्यपि रीतिकाल में हो चुका था, किन्तु गंभीर वैज्ञानिक आलोचना का प्रारम्भ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आगमन से माना जाता है। इसके पूर्व मिश्रबंधु, पद्मसिंह शर्मा की व्यावहारिक आलोचनाओं से हिन्दी-जगत् अवगत हो चुका था, जिसमें 'कलम तोड़ दी है' और 'वाह-वाह' वाली शैली गृहीत थी। तदनन्तर शुक्लजी ने जिन सिद्धांतों एवं सैद्धांतिक आलोचना-पद्धतियों को जन्म दिया और विकासमान किया, उनसे निस्संदेह हिन्दी-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा की अपेक्षित पूर्ति हुई है।

निर्विवाद है कि शुक्लोत्तर समीक्षा-क्षेत्र में जिन समीक्षकों और आलोचकों का जन्म हुआ, उनको आधार-भूमि देने के साथ पोष्य सामग्री देने का सम्पूर्ण श्रेय आचार्य शुक्लजी को है। तथापि यह अनुपेक्षणीय सत्य है कि इन आलोचकों का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व एवं स्वकीय दृष्टिकोण है। ऐसे आलोचकों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० रामकुमार वर्मा, डा० रामविलास शर्मा आदि के साथ डा० नगेन्द्र का नाम विशेष-रूप से उल्लेखनीय है।

डा० नगेन्द्र हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक और निबंधकार हैं। पौरस्त्य एवं पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्रों का उनका गहन-गम्भीर अध्ययन है। इसी आधार पर उन्होंने छायावादी काव्य की आलोचनाओं से अपनी भौतिक विचारधारा के प्रस्तुतीकरण का शुभारम्भ किया था, और सम्प्रति नई कविता के युग में भी उनकी गति सतत है। डा० नगेन्द्र ने अपने को 'वाद' और 'सम्प्रदाय' की संकुचित परिधि से सदैव पृथक् रखा। यही कारण है कि अपनी आलोचनाओं में वह कभी किसी 'मत' या 'वाद-विशेष' के आग्रही प्रतीत नहीं होते।

प्रस्तुत विस्तृत निबन्ध में मैंने डा० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धान्तों को विस्तृत और गहन अध्ययन के पश्चात्, विभिन्न साहित्यिक सिद्धांतों की पृष्ठभूमि पर रख कर स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनके आलोचना-सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण-

(ज)

हेतु मुझे अनेक अंग्रेजी पुस्तकों का अध्ययन एवं कतिपय संस्कृत-ग्रंथों का अवलोकन करना पड़ा—इस दृष्टि से नहीं कि निबन्ध का कलेवर स्थूल बनाया जाय, प्रत्युत इसलिए कि नगेन्द्र का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके ।

उक्त श्रमसाध्य शोध-निबन्ध लिखने की मूल प्रेरक शक्ति मैंने अपने गुरुवर श्रेष्ठ पं० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' से प्राप्त की । 'अंचल' जी का पांडित्यपूर्ण मार्ग-निर्देशन एवं स्नेहिल प्रोत्साहन मैं सदैव पाता रहा हूँ, अतः उनके प्रति मेरी श्रद्धा-पूर्ण कृतज्ञता निवेदित है ।

निबन्ध प्रारम्भ करने के पूर्व मुझे इस सम्बन्ध में स्वतः डा० नगेन्द्र, कविवर दिनकर, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० विजयेन्द्र स्नातक, डा० रामकुमार वर्मा आदि विद्वान् लेखकों से साक्षात्कार करने के सुअवसर प्राप्त हुए ।

मेडीसन (विसकांसिन-अमेरिका) में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे मेरे अनन्य मित्र श्री द्विजेन्द्रजी त्रिपाठी से पत्र-व्यवहार करके मैंने अपने विषय की आलोचना को समृद्ध किया है । अतः अपने मित्र के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट की जा सकती है । मैंने उक्त विद्वानों के विमर्शों का अपने निबन्ध में अप्रत्यक्ष रूप से प्रयोग एवं आदर किया है । उनका आभार भी मेरे साथ है ।

उन सबके प्रति भी मेरी आदर-भावनाएँ गुंथी हैं जिन्होंने जब-तब इस सम्बन्ध में मुझे संकेत दिये हैं—देते रहे हैं । एवमस्तु,

महाशिवरात्रि, २०१७ वि०

नारायणप्रसाद चौवे
महाकौशल महाविद्यालय,
जबलपुर

अनुक्रमणी

१. प्रास्ताविक	
२. प्रथम उन्मेष — डा० नगेन्द्र : जीवनी और व्यक्तित्व	१-१२
३. द्वितीय उन्मेष — पृष्ठभूमि : भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र	१३-७१
४. तृतीय उन्मेष — साहित्य का स्वरूप और रस-मीमांसा	७३-१११
५. चतुर्थ उन्मेष — भारतीय साहित्य-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय	११३-१३५
६. पंचम उन्मेष — काव्य में व्यक्तित्व	१३७-१६४
७. षष्ठ उन्मेष — हिन्दी-साहित्य में विभिन्न वाद	१६५-१९९
८. सप्तम उन्मेष — नगेन्द्र और हिन्दी के कुछ अन्य साहित्यालोचक	१९९-२१९
९. अष्टम उन्मेष — डा० नगेन्द्र का हिन्दी-साहित्य को योगदान	२२१-२२८
१०. परिशिष्ट — डा० नगेन्द्र की मौलिक एवं सम्पादित पुस्तकों की अनुक्रमणिका	२२९-२३८

प्रास्ताविक

प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रतिपाद्य आलोचना के विविध स्वरूपों के मूल तत्त्वों को उद्भाषित करते हुए, समीक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन, तथा उसके विभिन्न विवर्तनों का विश्लेषणात्मक अर्थापन करना है। आलोचना का सौष्ठव, उसकी अर्थवत्ता और उसका तात्त्विक आधार उसके महत्तर अन्तःसंयोजन में निहित है, ऐसा मेरा विश्वास है। सेण्ट ब्यव के मत से साहित्य की श्लाघ्य परिपाटी की स्थापना करके ही आलोचना को ऊँचा उठाया जा सकता है। साहित्य तो अनन्त स्रोत है जिसकी प्राणदायिनी बूँदें आत्मा को अभिसिंचित कर, उसके चेतना-केन्द्रों को अनुप्राणित करने में समर्थ हो सकती हैं। साहित्य को आँकने वाली कोई निश्चित माप-रेखा तो नहीं खींची जा सकती, परन्तु कलात्मक मूल्यों का महत्त्व आलोचक की प्रबुद्ध सहानुभूति में रमकर कहीं अधिक व्यापक, कहीं अधिक सराहनीय हो सकता है—इसी अवस्था और विश्वास के आधार को केन्द्र मानकर मैंने नगेन्द्र की आलोचना के मिस आलोचना की प्राचीन एवं अर्वाचीन प्रवृत्तियों के दिग्दर्शन एवं उनके साम्य और वैषम्य के विवेचन की चेष्टा की है। सहानुभूति और श्रद्धा लेकर मैंने आलोचकों के दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा की है। मेरी दृष्टि में बिना इसके किसी भी विषय के प्रति पूर्ण न्याय नहीं हो सकता।

आधुनिक आलोचना-प्रणाली ने अपने क्षेत्र के अन्तर्गत उन सभी बातों के समावेश का प्रयास किया है जो हमारे दैनिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं और जो हमारे समाज के आर्थिक एवं राजनीतिक प्रश्नों पर भी आश्रित हैं। किसी एक आलोचना-प्रणाली को आधेय-रूप स्वीकार कर लेने पर आलोचना के एक ऐसे मानदण्ड स्थापित करने का सामर्थ्य आलोचक में नहीं रह जाता, जो आलोच्य ग्रंथ में प्रणेता के व्यक्तित्व अथवा योग्यता के प्रति न्याय कर उसका मूल्यांकन करे, साहित्यकार का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करे, कृति-विशेष की रचना की विविध मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का निरीक्षण और विश्लेषण प्रस्तुत करे, उनके उद्भव, विकास और कलात्मक मूल्यों को आँकने का सफल प्रयास करे।

समीक्षा न तो कभी पूर्ण होती है, और न ही उसकी परिधि इतनी व्यापक होती है कि वह अपने में युगों का सृजित साहित्य समेट ले। समीक्षा एक वर्ग-विशेष का साहित्य के प्रति उसकी अभिरुचि, और उस वर्ग के Approach

का दिग्दर्शन-मात्र कराती है। इससे अधिक समीक्षा से अपेक्षित भी नहीं है। कवि और उसकी सृजित कृति को भावित करने की प्रक्रिया में यदि समीक्षा किंचित् भी योग दे सकी, तो उसके कर्तव्य की इति समझिये। समीक्षा के प्रति यह दृष्टिकोण यदि सर्वथा नूतन नहीं तो उसे प्राचीन भी नहीं कहा जा सकता। आज का आलोचक प्राचीन और नवीन, गत और अनागत की रेखाओं को मिलाने के लिए प्रयत्नशील है। सफलता उसकी अपनी है। सफलता का आधार सामाजिक है। आज के इस विकट बुद्धिवादी और व्यक्तिवादी युग में कवि का व्यक्तित्व भी सामाजिक हो गया है, और यही कारण है कि आलोचक को उसके विश्लेषण और परीक्षण की आवश्यकता प्रतीत हुई।

प्रस्तुत ग्रंथ में समकालीन साहित्य और समीक्षकों की अभिरुचियों, मान्यताओं और प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित एवं यथाशक्य परिष्कृत करने का प्रयास किया गया है। मेरी अपनी धारणा है कि साहित्य और समीक्षा की मूल प्रवृत्तियों, थोड़े बहुत हेर-फेर से सार्वजनीन और सार्वयुगीन हुआ करती हैं, यही कारण है कि प्रबंध में अनेक स्थलों पर साहित्य और समीक्षा की इस प्रवृत्ति को किंचित् अधिक उभार कर रखने का मैंने प्रयास किया है।

साहित्य और उसकी समीक्षा अपनी सहज शक्ति और आत्म-नियंत्रित गति से, आप अपनी राह ढूँढ़ती, बनाती और आगे बढ़ती रहेगी—किसी आँधी-तूफान के सहारे तीव्रतर प्रगति करने की आकुलता से उसे आत्म-चेतना और अपने सहज कर्म का बोध ही बचा सकता है और बचाता रहेगा। वास्तव में जैसा श्री बालकृष्ण राव ने कहा है यह समस्त साहित्य और समीक्षा का विधायक बनने योग्य है। आधुनिक चेतना और अभिरुचि को अभिव्यक्त करना उसका (साहित्य एवं समीक्षा का) कर्तव्य है, परन्तु अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों के उत्कर्ष के प्रति जीवंत जिज्ञासा, प्रीति और आदर का प्रसार करना, उसके कर्तव्य-पालन का प्रमुख अंग है।

आज के युग में आलोचना-साहित्य इतना संवृद्ध हो गया है, और न जाने कितने प्रदेशों की पयस्विनियों ने आकर उसे इतना विशाल बना दिया है कि उसके आयाम को देखकर किसी भी अन्यदेशीय साहित्यिक को ईर्ष्या हो सकती है।

हिन्दी में आलोचना-विधा अपेक्षाकृत नवीन है, परन्तु इस कम समय में उसने जो बहुमुखी प्रगति कर दिखाई है वह उसके उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत करती है। प्रस्तुत प्रबंध की सामग्री बिखरी हुई थी, परिसीमित अवधि में उसका संकलन

कर उसे व्यवस्थित रूप में सँजोना असम्भव नहीं तो दुस्तर कार्य अवश्य था। बात यह हुई कि कार्य प्रारम्भ करने के पश्चात् उसकी गुस्ता का आभास हुआ और फिर तो मैं इतने आगे बढ़ आया था कि पीछे लौटा नहीं जा सकता था।

डा० नगेन्द्र के मौलिक और संपादित २४ ग्रन्थों का अनुशीलन तथा परीक्षण करने के उपरान्त लगा कि अँग्रेजी और संस्कृत-समालोचना के आदर्शों से परिचय प्राप्त किये बिना डा० नगेन्द्र पर कलम नहीं उठायी जा सकती। नगेन्द्र ने अपने सम्पादित ग्रन्थों में तुलनात्मक समीक्षा का ऐसा सुष्ठु स्वरूप प्रस्तुत कर दिया है जिसका इसके पूर्व एकान्त अभाव था।

आलोचना के क्षेत्र में हमें एक परम्परा तो भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक प्राप्त होती है। आधुनिक ज्ञान-सम्प्रसारण के फलस्वरूप अँग्रेजी समीक्षा के विकासात्मक स्वरूप का विवेचन भी आवश्यक हो जाता है। इनके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्यशास्त्र की प्रणाली पर भी हिन्दी में समीक्षा का सम्यक् विकास हमें प्राप्त हुआ है। डा० नगेन्द्र ने अपने संपादित ग्रन्थों में इन तीनों के विकास का एक समन्वयात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया है और फिर समसामयिक सामाजिक, राज-नैतिक, साहित्यिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर उनका विश्लेषण और परीक्षण किया गया है। नगेन्द्र की स्वतंत्र स्थापनाओं और निष्पत्तियों का महत्त्व यही है कि वे स्वतंत्र मत-स्थापन की अपेक्षा समन्वयात्मक अधिक हैं। ग्रन्थ में डा० नगेन्द्र की इस विशेषता को अनेक स्थानों पर स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

डा० नगेन्द्र के आलोचना-साहित्य के आधार पर सर्वप्रथम सृजनात्मक साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। कथ्य-प्रतिपादन में सर्वत्र ही अँग्रेजी, संस्कृत और हिन्दी की तुलनात्मक समीक्षा-प्रणाली को आधार रूप में स्वीकार कर लिया गया है। अनेक स्थलों पर हुआ यह कि विषय-विशेष अथवा समस्या-विशेष का विवेचन, अँग्रेजी में तो प्राप्त होता है, परन्तु संस्कृत और हिन्दी में उसका अभाव रहा। ऐसी परिस्थिति में अँग्रेजी के आधार पर उसका विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है, और हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र में उसकी सम्भावना व्यक्त कर नगेन्द्र के मत को व्यक्त कर दिया गया है। आलोचना के विभिन्न अर्थापनों (इन्टर-प्रिटेंशंस) के संदर्भ में आलोचना के दार्शनिक अर्थापनों की चर्चा की गई है।

‘दार्शनिक’ शब्द को मैंने दर्शन से उद्भूत प्रतिपादित कर मैटाफिजिकल से सम्बन्धित स्वीकार किया है। मैटाफिजिक्स के लिए ‘तत्त्वज्ञान’ शब्द है, पर वह मन को अधिक न भाया। संस्कृत और हिन्दी में (मैटाफिजिकल के अर्थ में) दार्शनिक अर्थापन का अभाव रहा; मुझे तो वह कम से कम नहीं प्राप्त हुआ। इसकी

आवश्यकता इसीलिए प्रतीत हुई कि आज की नई कविता और पूर्ववर्ती प्रयोगवादी कविता पर अंग्रेजी कविता का स्पष्ट प्रभाव है। अंग्रेजी काव्य में ईट्स, इलियट, डेविस, टॉमसन पर १७वीं शताब्दी की मेटाफिजिकल पोयट्री का स्पष्ट प्रभाव है। इलियट ने तो स्वीकार कर लिया है कि १७वीं शताब्दी की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों में और २०वीं शताब्दी की परिस्थितियों में साम्य है। जब नई कविता पर मेटाफिजिकल कविता का प्रभाव है, तो उसकी आलोचना का कोई मेटाफिजिकल अर्थापन भी होना चाहिए, इसीलिए आलोचना के दार्शनिक अर्थापन को समाविष्ट कर दिया गया है। नगेन्द्र में मुझे उसके अस्पष्ट संकेत-मात्र प्राप्त हुए।

‘साहित्य का प्रयोजन’ निरूपित करना, संस्कृत-साहित्यशास्त्र का एक महत्वपूर्ण विवेच्य विषय रहा है। डा० नगेन्द्र के समान ही, पौरस्त्य और पाश्चात्य मतों का समन्वय प्रस्तुत कर डा० नगेन्द्र के मत की आलोचना प्रस्तुत की गई है। वैसे तो ‘प्रयोजन’-सम्बन्धी विवाद ‘आनन्द’ और ‘कल्याण’ को लेकर है, परन्तु इनके समाहार का प्रयास डा० नगेन्द्र ने किया है। इसका स्पष्ट उल्लेख प्रबन्ध में कर दिया गया है। परस्पर-विरोधी मतों-प्रवादों की सारिणी दी जा सकती थी, परन्तु आयाम-प्रसार के कारण वैसा नहीं किया गया। इसके ‘स्वरूप’ को स्पष्ट करते समय मनोविज्ञान की अधुनातन खोजों के प्रकाश में ही पौरस्त्य मतवादों को प्रस्तुत किया गया है। ‘रस’ का आख्यान करने वाले प्रत्येक संस्कृत-आचार्य के मत को स्पष्ट करके रखा गया है। आचार्य के मत की नगेन्द्र ने जो आलोचना प्रस्तुत की, उसको स्पष्ट करने के बाद, अपने मत को प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया गया है। अंग्रेजी साहित्य के रसास्वादन प्रकरण को अरस्तू के विरेचन-सिद्धांत के संदर्भ में प्रस्तुत कर, भारतीय रस से उसका साम्य अथवा वैषम्य प्रस्तुत किया गया है। ‘साधारणीकरण’ के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त और रामचन्द्र शुक्ल के बीच के विकास को स्पष्ट कर रखा गया है। शुक्लजी के मत की मूल त्रुटि का भी उल्लेख कर दिया गया है। प्रयास किया गया है कि नगेन्द्र का मत उभर कर सामने आ सके। ‘भाव’ के स्वरूप को स्पष्ट करने में कुछ अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। भाव जिस प्रकार संस्कृत में अव्यवस्थित और अपूर्ण परिभाषाओं द्वारा विवेचित हैं, उसी प्रकार अंग्रेजी तथा मनोविज्ञान में भी। भाव (इमोशन) और मनोविकार (सेण्टीमेण्ट) के विभेद को शुक्लजी स्पष्ट नहीं कर पाये। गुलाबरायजी ने मनोविज्ञान का आश्रय लेकर भावों की स्थिति स्पष्ट करने का प्रयास किया, परन्तु इसमें उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। ‘रीतिकाव्य की भूमिका’ में नगेन्द्र ने भावों की स्थिति स्पष्ट

की, परन्तु वह भी अपनी पूर्णता में अपूर्ण है ।

अलंकार-विवेचन, संस्कृत-साहित्यशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है । आचार्यत्व-प्रतिपादन के लिए आलोचक, अपनी प्रतिभा का आलोक इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलतापूर्वक दिग्दर्शित कर सकते थे । भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तथा भानु कवि तक अलंकारों का विवेचन और उनकी (रस, रीति, गुण, वक्रोक्ति) संख्या में परिदृष्टि होती रही । संस्कृत-साहित्य शास्त्र में प्रतिपादित प्रमुख चार सम्प्रदायों पर तो अन्यत्र लिखा गया है, परन्तु अलंकार-माहात्म्य के औचित्य-प्रतिपादन में पूर्ण सतर्कता एवं पर्याप्तता निबाही गई है । डाक्टर नगेन्द्र ने सम्पादित ग्रंथों में परस्पर-विरोधी सम्प्रदायों को स्पष्ट करने का प्रयास किया, तथा उसी संदर्भ में अपना मत स्पष्ट किया । मेरा अपना मत है कि काव्य में तो केवल शब्द और अर्थ रहा करते हैं; तथा अलंकार को काव्य की आत्मा स्वीकार करने में सबसे बड़ी बाधा तो यह आती है कि शरीर को आत्मा कैसे स्वीकार कर लिया जाये ?

पश्चिम में कवि और उसके काव्य से सम्बन्धित विवाद पर समय-समय पर विवेचन होता रहा है । आज के साहित्य में भी व्यक्तिवाद प्रतिष्ठित हो गया है । 'व्यक्तिवाद' ने साहित्य में आधुनिकता का सृजन तो किया, परन्तु अपने-आप में उसका स्वरूप अस्पष्ट-सा ही बना रहा । आधुनिक काल और समीक्षा को व्यक्तिवादी आलोक में ही परख जाना सत्यान्वेषण के लिए आवश्यक है, इसीलिए कवि और काव्य के सम्बन्ध पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । इस उन्मेष की सामग्री तो अंग्रेजी-साहित्य में ही सहज प्राप्य थी, अतः उसका आवश्यकतानुसार उपयोग किया गया; परन्तु संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्य में बिखरी सामग्री का भी यत्र-तत्र उपयोग करने का लोभ मैं संवरण न कर सका ।

संस्कृत-साहित्य के चार प्रमुख मत रीति, गुण, ध्वनि और वक्रोक्ति का विवेचन तो विकास-क्रम को प्रस्तुत करने के लिए किया गया, और फिर डा० नगेन्द्र ने तो उनका आनुषंगिक विवेचन प्रस्तुत कर उनके वैज्ञानिक अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया ।

आधुनिक काव्य-मतों की पृष्ठभूमि-निर्माण में पश्चिमी साहित्य से पर्याप्त सहायता ली गई है । स्कॉट जेम्स की 'The Making of Literature' तो मेरी बाइबिल थी । काव्य-प्रवृत्तियों की मूल भावनाओं को स्पष्ट करने में इस पुस्तक ने जितनी मेरी सहायता की, उतनी कदाचित् और पुस्तक ने नहीं । 'वाद' की भूमिका तैयार कर लेने के उपरान्त काव्य-मतों की उपादेयता और उनकी साहित्यिक अभिव्यक्ति पर प्रकाश डाला गया है । 'अभिव्यंजनावाद' पर मुझे क्रोचे,

स्कॉट जेम्स, आचार्य शुक्ल, डा० नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयी के अभिमत प्राप्त हुए। किंचित् खेद के साथ उल्लेख करना पड़ता है कि नगेन्द्र को छोड़कर किसी ने भी सहृदयता से क्रोचे की स्थापनाओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया। स्कॉट जेम्स ने क्रोचे की मूल धारणा की मूल त्रुटि का जो उल्लेख किया है, उसे मैंने ग्रंथ में स्पष्ट कर दिया है।

छायावाद पर लिखते समय कुछ भय-सा लग रहा था। इतने बृहत् विषय पर क्या और कैसे लिखूँ ! तथापि छायावाद के प्रारम्भिक वर्षों की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, दार्शनिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों के संदर्भ में उसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। छायावाद के सम्बन्ध में एक भ्रंत धारणा कुछ दिनों से काम कर रही है कि अंग्रेजी रोमांटिक पोयेट्री (Romantic Poetry) का हिन्दी-संस्करण छायावाद है। डा० नगेन्द्र का भी प्रारम्भ में यही मत था, परन्तु बाद में उन्होंने अपने मत को संयत कर लिया। वास्तव में छायावाद हिन्दी-साहित्य की चिन्ताधारा का स्वाभाविक विकास है। सर्वप्रथम बाबू जयशंकर 'प्रसाद' ने छायावाद के इस आधार को पुष्ट किया। तब से तो पंत और महादेवी वर्मा भी प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक धरातल पर छायावाद के स्पष्टीकरण का कार्य कर रहे हैं। छायावाद पर जिन आठ प्रभावों की चर्चा की जाती है, अंग्रेजी रोमांटिक पोयेट्री (English Romantic Poetry) का प्रभाव उनमें से केवल एक है, शेष सात के मूल भारतीय चिन्ताधारा में ही विद्यमान हैं। डाक्टर देवराज के 'छायावाद का पतन' को मैंने दो बार पढ़ा, परन्तु मुझे उसके पतन की कोई बात न मिली। रामरतन भटनागर का 'छायावाद' छायामात्र रहा। हाँ, दीनानाथ 'शरण' का प्रबंध उपयोगी सिद्ध हुआ। उसके लिए मैं इन सबका आभारी हूँ।

'आलोचना तथा काव्य' में डा० इन्द्रनाथ मदान ने अपने दर्शन-शास्त्र और अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन की पृष्ठभूमि पर शुक्लोत्तर आलोचना एवं उत्तर-छायावादी काव्य पर विचार प्रगट किये हैं। लेखक में तटस्थता पूर्ण रूप से विद्यमान है, इसका आभास प्रारम्भिक पृष्ठों के अनुशीलन से ही मिल जाता है, परन्तु आलोचक के व्यक्तित्व में इतनी शिष्टता एवं तटस्थता अपेक्षित नहीं। परन्तु इतने पर भी पुस्तक में नयी समीक्षा और नये काल का विवेचन, साहित्य की इन विधाओं के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध आलोचकों के मन्तव्य का सार, और उनके चिन्तन की परि-सीमाओं का उल्लेख, डा० मदान के साहित्यिक व्यक्तित्व का परिचायक है।

'प्रगतिवाद' आर्थिक विचारों पर आस्था रख कर ही आगे बढ़ता है। मैंने, नगेन्द्र की बात मान मार्क्सवाद के आर्थिक और सामाजिक औचित्य का विवेचन भी

(त)

प्रस्तुत किया। प्रगति के स्वरूप को भी नगेन्द्र के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास किया गया। शिवदार्नसिंह चौहान का 'प्रगतिवाद' काफ़ी सहायक रहा।

साहित्य, संस्कृति और सभ्यता, जन-जीवन तथा समाज से पृथक् नहीं, अपितु वह मानव-विकास के सबसे उत्कृष्ट प्रारूपों में से हैं, और समाज के मूल आधार हैं—इस पृष्ठभूमि पर डा० नगेन्द्र ने प्रगतिवाद का विवेचन किया है, जो वास्तव में अनेक कथ्यगत एवं विषयगत विशिष्टताओं से संपृक्त हैं। सत्य एक है, चाहे कुछ के लिए कटु ही क्यों न हो, कि मानव-विकास के संघर्ष में जो मिट रहे हैं, साम्प्रदायिकता की जो सीमाएँ ढह रही हैं, उनकी संस्कृति, सभ्यता और साहित्य भी मिट रहा है, और मिटेगा ही, मानव को मानवता के समान, जन-आधार पर प्रतिष्ठित करनेवाली जन-संस्कृति, सभ्यता और जन-साहित्य के अनुरूप साहित्य का रूप-विस्तार होगा और नित्यप्रति उसका प्रकाश हमारे समस्त जीवन को प्रकाशवान् करेगा—यही डा० नगेन्द्र के प्रगतिवादी विचारों का सार है। वास्तव में यदि देखा जाये तो वर्ग-विभेद के समाज में संस्कृति और साहित्य का आधार और रूप भी निश्चित रूप से वर्ग ही होता है। अस्तु, जब तक समाज में यह विभेद रहता है, तब तक संस्कृति और साहित्य की इस उल्लंघन को नहीं रोका जा सकता, और न प्रगतिवाद की मूल चेतना को ही समझा जा सकता है। प्रगतिवाद के संदर्भ में डा० नगेन्द्र ने संस्कृति और साहित्य तथा जन-जीवन के सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

डा० नगेन्द्र को मैंने हिन्दी के कतिपय समालोचकों के समकक्ष रख उनकी विशिष्टता को उभारने का प्रयास किया है। डा० नगेन्द्र भावप्रवण एवं तर्कप्रधान आलोचक हैं और उनकी वाणी में संयम है। कतिपय आलोचकों की कथ्यगत तथा भावगत विशिष्टताओं के साथ डा० नगेन्द्र को रखने में मेरा अभिप्राय डा० नगेन्द्र का उत्कर्ष और अन्य व्यक्तियों का अपकर्ष कदापि नहीं था। प्रत्युत मैंने तो विकास का एक क्रम निर्धारित कर डा० नगेन्द्र के महत्त्व और वैशिष्ट्य को परखने का प्रयास किया है।

ज्ञान का सहज और सुबोध बनना आवश्यक है और नगेन्द्र ने इस दिशा की ओर समान प्रयास भी किया है। डा० नगेन्द्र ने समीक्षा को नये मान दिये, साहित्य को परखने के लिए एक नवीन दृष्टि प्रदान की, आनन्द और कल्याण, वर्ग-संघर्ष और वर्ग-चेतना, सौंदर्य-बोध और नैतिक बोध को प्राचीन एवं विदेशी पृष्ठभूमि से पृथक् कर, उन्हें सहवर्ती साहित्यिक चेतना के रूप में अंकित करते हुए उन्हें अभिनव परिभाषाओं के रूप में नवीन सौंदर्य प्रदान कर, उनकी देशगत और समाजगत विशेषताओं का उल्लेख कर टी० एस० इलियट के समान, साहित्य

(थ)

और समीक्षा को एक नवीन रूप में सँजोया ।

प्रस्तुत ग्रन्थ डा० नगेन्द्र से सम्बन्धित है, इसलिए उन्हीं को केन्द्र मान विश्लेषण, अन्वेषण तथा गवेषण का प्रयास किया गया है । सम्भव है डा० नगेन्द्र की विशेषताओं, उनके महत्त्व, उनकी स्थापनाओं और निष्पत्तियों को उभारने में जाने या अजाने अन्य व्यक्तियों के महत्त्व को न्यून कर दिया गया हो । ऐसी परिस्थिति में विज्ञ जन क्षमा करने की उदारता दिखलायेंगे ।

समीक्षा-साहित्य की एक क्लिष्ट एवं गंभीर विधा है । उसके किसी अंग-विशेष को लेकर उसका सम्यक् अध्ययन, मनन, चिंतन एवं विवेचन कर सकना निस्संदेह श्रमसाध्य कार्य है । विद्वज्जनों की बहुमूल्य मान्यताओं को पूर्ण बौद्धिक सामर्थ्य से देख-परख कर मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है । अपने परिश्रम और अपनी मान्यताओं पर मुझे विश्वास है; किन्तु जहाँ पर सफलता का प्रश्न है उसका समाधान अधिकारी विद्वानों के अधीन है ।

विद्वज्जनानुचर

नारायणप्रसाद चौबे

प्रथम उन्मेष

डा० नगेन्द्र : जीवनी और व्यक्तित्व

जीवनी और व्यक्तित्व

परिचय :

डा० नगेन्द्र का जन्म अलीगढ़ ज़िले की तहसील अतरीली के जाने-माने ज़मींदार पं० गंगाप्रसाद नगायक के घर में हुआ। उनके पिता पं० राजेन्द्र पर, जो पं० गंगाप्रसाद के दत्तक पुत्र हैं, स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों का गहरा प्रभाव था और यही कारण है कि सामन्तीय या अर्ध-सामन्तीय सुख-सुविधाएँ उपलब्ध रहने पर भी वे आत्म-निर्भर बन गये थे और इसीलिए उन्होंने अध्यापन-कार्य स्वीकार कर लिया था। पश्चिमी उत्तरप्रदेश के सनाढ्य ब्राह्मणों में नगाइक-परिवार का अच्छा महत्त्व और प्रतिष्ठा थी। ज़मींदारी ही घर का प्रमुख व्यवसाय था, परन्तु राजेन्द्रजी के घर के प्रति, परिवार के प्रति, उदासीन रहने के कारण पितामह को सारा कारबार सँभालना पड़ता था। इसी परिवार में चैत्र कृष्णा ६, संवत् १९७१ विक्रमी (मार्च, १९१५) को नगेन्द्र का जन्म हुआ। प्रारम्भ से ही नगेन्द्र पर अपने माता-पिता की अपेक्षा पितामह और पितामही का ही प्रभाव अधिक पड़ा। उनके परिवार में बालक का जन्म कदाचित् एक अभूतपूर्व घटना थी और इसी कारण उनकी नगेन्द्र के प्रति अगाध ममता थी। इसीलिए नगेन्द्र के शैशव में जो स्थान माता-पिता का होना चाहिए था, वह स्थान पितामह और पितामही ने ले लिया।

नगेन्द्र प्रारम्भ से ही संवेदनशील बालक थे। वे कभी-कभी सोचने लगते थे कि यदि पितामह और पितामही दोनों में से कोई न रहा तो उनका भविष्य क्या होगा। उन दोनों के प्रति उनके मन में अपार प्रेम था। उनके निधन के उपरान्त नगेन्द्र के जीवन-प्रवाह में अनेक प्रकार के आवेगों का ज्वार आता गया, प्राचीन स्मृतियों पर नवीन स्मृतियाँ आरूढ़ होती चली गईं, राग-द्वेष और उनके पात्र बदले, परन्तु वे अगाध ममतामयी मूर्तियाँ आज भी उनकी चेतना के गहरे स्तरों में पूर्ववत् विद्यमान हैं।

शिक्षा :

प्रारम्भ से ही नगेन्द्र पर कोरे नैतिक आदर्शवाद का प्रभाव उतना स्पष्ट नहीं रहा। सहवर्ती प्रभाव के कारण प्रवृत्ति का मार्ग ही उन्हें विशेष विश्वसनीय प्रतीत हुआ। नगेन्द्र के आदि अभिभावकों ने नैतिक मूल्यों की अपेक्षा मानव-मूल्यों को

ही अधिक श्रेयस्कर माना था। अतः उस प्रकार की जीवन-पद्धति के कतिपय संस्कार नगेन्द्र के व्यक्तित्व में समाहित हो गये।

परिवार के अतिरिक्त नगेन्द्र के प्रारम्भिक जीवन को शिक्षा ने भी विशेष प्रभावित किया। सामान्तीय वातावरण में रहने के कारण प्रारम्भ में नगेन्द्र की अहम्मन्यता, दुराग्रह और उग्रव्यवहार ने शिक्षक का आरोप अपने व्यक्तित्व पर नहीं होने दिया। इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन उनके परिवार ने भी दिया, अतः प्रारम्भ में नगेन्द्र को शिक्षा भार-स्वरूप ही प्रतीत हुई। फिर भी बत्सल पितामह एक के बाद एक शिक्षक का परिवर्तन करते गये और अंततः नगेन्द्र को अपनी रुचि के अध्यापक पं० राधावल्लभ और मुशी किशनलाल प्राप्त हो गये। वास्तव में शिक्षा के प्रति बढ़ती अरुचि का अवरोध इन्हीं शिक्षक-द्वय ने किया। इन्होंने ही स्वातंत्र्य-भावना, हिन्दी-प्रेम आदि का बीज-वपन नगेन्द्र के हृदय में किया। अध्यापक किशनलाल के सौम्य एवं सच्चरित्र व्यक्तित्व का प्रभाव नगेन्द्र पर गहरा पड़ा। उन्होंने स्वतः स्वीकार किया है कि 'इन अर्ध-शिक्षित अध्यापक के व्यक्तित्व में जो संस्कृति और शालीनता थी, जीवन में जो विशेष स्वच्छता थी, वह नैतिक कठोरता से सर्वथा भिन्न थी। उसका मेरे संस्कारों पर विशेष प्रभाव पड़ा।'^१

इस प्रकार की क्रम-रहित शिक्षा के पश्चात् अतरौली के अंग्रेजी स्कूल में आठवीं क्लास तक नगेन्द्र पढ़े। यहाँ उन पर अध्यापक प्रसादीलाल चूड़ामणि का विशेष प्रभाव पड़ा—जिन्होंने उनके मन में प्रसुप्त हिन्दी-प्रेम को उद्बुद्ध किया। इसके पश्चात् हाई स्कूल की परीक्षा पास करने के लिए नगेन्द्र को अतरौली छोड़कर अनूपशहर के एंग्लो-वैदिक हाई स्कूल में आना पड़ा। फिर चेंदौसी-कालेज से इन्होंने इण्टर की परीक्षा पास की। कविता और साहित्य के प्रति अनुराग यही से प्रारम्भ हो जाता है। नगेन्द्र हिन्दी और संस्कृत के प्रति प्रारम्भ से ही आकृष्ट थे; यद्यपि जैसा कि नगेन्द्र ने स्वतः कहा है कि, इण्टर तक वे स्वतः निश्चित नहीं कर पाए थे कि उनका क्षेत्र क्या है। वैसे कविता करना उन्होंने फ़र्स्ट इयर से ही प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु हिन्दी ही उनका अपना क्षेत्र है, यह वे इण्टर के बाद ही निश्चित कर सके थे।

उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए नगेन्द्र को चेंदौसी छोड़ कर आगरा आना पड़ा। सेण्ट जॉन्स कॉलेज में इन्होंने बी० ए० की शिक्षा प्रारम्भ की। सुयोग और सौभाग्य ही समझिये कि इसी समय प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त और डा० गुलाबराय से नगेन्द्र का सम्पर्क हुआ। बी० ए० में नगेन्द्र के विषय हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी

थे । अंग्रेजी के प्रति अनुराग प्रो० गुप्त के सत्प्रभाव का परिणाम था । नगेन्द्र स्वतः लिखते हैं कि प्रकाशचन्द्रजी में उन्हें पहली बार उस साहित्यिक संस्कारिता के दर्शन हुए जिसकी वे अपेक्षा किया करते थे । प्रो० गुप्त की अभिरुचि अत्यन्त परिष्कृत और दृष्टि स्वच्छ थी । गुलाबरायजी में प्रकाशचन्द्रजी की व्यवस्था का अभाव था । ऐसा लगता था जैसे एक कोमल वृक्ष अपनी छाया और फलों के साथ सहज ही अतगढ़ रूप में बढ़ गया हो और बढ़ता जा रहा हो । प्रकाशचन्द्रजी का ग्रहण और परित्याग जहाँ अत्यन्त निर्मम एवं स्पष्ट था, वहाँ गुलाबरायजी के पास अपनाव ही अपनाव था । विधि और निषेध, स्वीकृति और परित्याग में गुलाबरायजी का पहला ही अंग अधिक प्रबल था । उनमें सहानुभूति की वृत्ति असामान्य रूप से विकसित थी । इसके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य में भी बाबूजी तब तक गौरव-लाभ कर चुके थे । निदान नगेन्द्र अत्यन्त विनय और श्रद्धा का भाव लेकर उनकी ओर बढ़े और उनके पाण्डित्य और सहज सौजन्य से उन्होंने बहुत-कुछ प्राप्त किया ।^१ इन दोनों विद्वानों के साथ नगेन्द्र के मधुर सम्बन्ध यथावत् विद्यमान हैं ।

१९३६ में सेण्ट जॉन्स कॉलेज आगरा से अंग्रेजी में एम० ए० पास किया और १९३७ में नागपुर-विश्वविद्यालय से हिन्दी का एम० ए० । दिल्ली के कॉमर्स कॉलेज में नगेन्द्रजी दस वर्षों तक अंग्रेजी के अध्यापक रहे । इसी समय वे साहित्य और मनोविज्ञान के गम्भीर एवं विशद अध्ययन में लग गए । उन्होंने मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया । फ्रायड और क्रोचे के कृतित्व का अध्ययन भी उन्होंने किया । इस अध्ययन के फलस्वरूप उनकी प्रवृत्ति व्यावहारिक आलोचना से सैद्धान्तिक आलोचना की ओर अग्रसर होने लगी । सन् १९४६ में उन्होंने 'रीति-काव्य की भूमिका में देव का अध्ययन' विषय पर डी० लिट्० के लिए प्रबन्ध प्रस्तुत किया और १९४६ में उन्हें उपाधि प्राप्त हो गई । यही नगेन्द्र के शैक्षिक-साहित्यिक जीवन की रूपरेखा है ।

उपलब्धियाँ :

विद्यार्थी-जीवन की अपेक्षा डा० नगेन्द्र का परवर्ती जीवन कहीं अधिक सफल रहा । दस वर्ष तक दिल्ली-विश्वविद्यालय के अन्तर्गत कॉलेज ऑफ़ कॉमर्स में अंग्रेजी के प्राध्यापक रहने के उपरान्त १९४७ में वे ऑल इण्डिया रेडियो में चले गये जहाँ उन्होंने पाँच वर्ष तक समाचार-विभाग में हिन्दी-अधीक्षक के पद पर कार्य किया । रेडियो में उर्दू के स्थान पर हिन्दी की प्रतिष्ठा का ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न करने में जिन अधिकारियों ने योगदान दिया, उनमें नगेन्द्रजी का नाम

विशेष उल्लेखनीय है। १९५२ में स्टेशन-डाइरेक्टर के पद के लिए उनका निर्वाचन हो गया था, किन्तु सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं के रहते हुए भी उन्हें ऐसा लगता था कि उनका वास्तविक क्षेत्र रेडियो नहीं है। अतः पहला अवसर पाते ही १ अक्टूबर, १९५२ को अनेक हितैषियों के परामर्श के विरुद्ध, जिनमें उनके पिता जी का स्वर सबसे अधिक मुखर था, वे दिल्ली-विश्वविद्यालय में हिन्दी के रीडर-अध्यक्ष होकर लौट आये। शीघ्र ही उनके परिश्रम और प्रयास से विश्वविद्यालय का हिन्दी-विभाग देश के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी-विभागों की श्रेणी में प्रतिष्ठित हो गया। और, उधर स्वयं नगेन्द्रजी का भी बड़ी तेजी के साथ उत्कर्ष हुआ। १९५५ में आचार्य (प्रोफेसर) के पद पर उनकी नियुक्ति हुई, १९५८ में वे कला-संकाय के अधिष्ठाता (डीन, फ़ैकल्टी आफ़ आर्ट्स) बने, और १९६० में मानविकी शोध मंडल के अध्यक्ष (चेयरमैन, बोर्ड आफ़ रिसर्च स्टडीज इन ह्यूमेनिटीज़)। इसी वर्ष उनका निर्वाचन भारतीय हिन्दी-परिपद के सभापति-पद पर हुआ।

अपने शैक्षिक तथा साहित्यिक जीवन में राजकीय और सार्वजनिक संस्थाओं में उन्हें उच्चतम सम्मान प्राप्त हुआ है और उत्तरप्रदेश शासन, मध्य-प्रदेश शासन के पुरस्कार तथा डालमिया-पुरस्कार आदि मिले हैं। हिन्दी की सार्वदेशिक प्रगति एवं प्रतिष्ठा के फलस्वरूप स्वदेश-विदेश से विभिन्न प्रकार के आकर्षक प्रस्ताव उनके सम्मुख आते रहे हैं; किन्तु उन्होंने पूर्ण निष्ठा के साथ अध्यापन-धर्म का वरण कर लिया और यही निष्ठा उनकी सिद्धि का आधार है।

साहित्यिक अभिरुचि :

साहित्यिक क्षेत्र में डा० नगेन्द्र का जीवन काव्य से प्रारम्भ होता है। उनका प्रमुख विषय काव्यालोचन ही रहा है। प्रारम्भ में वे उपन्यासों और आख्यायिकाओं को काव्य का एक हल्का और मनोरंजक रूप मानकर उसकी उपेक्षा किया करते थे। यद्यपि आज उनकी इस धारणा में परिवर्तन हो चुका है, उपन्यास और कहानी को वे आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन स्वीकार करते हैं, फिर भी उपन्यासों के आकार से उन्हें भय लगता है और कहानी में भी विशेष मन नहीं रमता। प्रारम्भ से ही नगेन्द्रजी के मन को काव्य-सेवन से सारभूत रस के आस्वादन का कुछ ऐसा अभ्यास हो गया है कि साहित्य के वे रूप, जिनमें आकार की विपुलता के कारण मिश्र पदार्थ भी काफ़ी मिलते हों, उन्हें विशेष रुचिकर नहीं लगते। आज भी उन्हें मोटे उपन्यास की अपेक्षा मनो-विज्ञान, काव्यशास्त्र या दर्शन का विशालकाय ग्रंथ ही अधिक ग्राह्य है।

विद्यार्थी-जीवन में तुलसी उनके विशेष कवि थे। परन्तु तुलसी की अति-

वादी नैतिकता को वे कुछ अधिक स्वीकार नहीं कर सके। उन्हें तुलसी में जीवन की उन्मुक्तता और उस पर आश्रित असीमित सहानुभूति की कमी लगी। सूर उन्हें कुछ अधिक अच्छे लगे। रीतिकाल के अनेक रससिद्ध कवि उन्हें पसन्द हैं; परन्तु जीवन की व्यापक दृष्टि के अभाव में रीति-काव्य को नगेन्द्रजी महान् काव्य नहीं मानते। आधुनिकों में वे मैथिलीशरण गुप्त को, उनके दोषों के प्रति सचेष्ट होने पर भी, महाकवि मानते हैं। उधर 'प्रसाद' की मेधा, बौद्धिक वैभव और हार्दिक विभूतियों ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया है। महादेवी के सूक्ष्म-कोमल गीति-तत्त्व के प्रति भी उन्हें रुचि है और पंत के काव्य में आत्मा के सौंदर्य का कोमल प्रकाश मिला है। सियारामशरण गुप्त के तपःपूत व्यक्तित्व के प्रति भी उन्हें श्रद्धा है परन्तु उन्होंने एक स्थल पर कहा है कि कदाचित् मेरा राग-लिप्त मन उनके काव्य के अत्यन्त शुद्ध और छने हुए सात्त्विक रस का स्वाद लेने में कभी-कभी असमर्थ रहता है। छायावादोत्तर कवियों में वे दिनकर को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं; और, नये कवियों में गिरिजाकुमार माथुर के गीत उन्हें प्रिय हैं। अंग्रेजी साहित्य के प्रति उनकी रुचि प्रारम्भ से ही रही है। शैले उनका प्रिय कवि है, वैसे कीट्स की मांसलता भी उन्हें खूब भाती है। परन्तु बौद्धिक और उलभी अनुभूतियों की नई कविता के महत्त्व को नगेन्द्रजी स्वीकार नहीं कर पाते।

व्यक्तित्व-निर्माण :

डा० नगेन्द्र के व्यक्तित्व पर संस्कृत के आचार्यों, हिन्दी के मनीषियों और पश्चिमी साहित्य चिन्तकों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। प्रारम्भ में वे कविता के प्रति आकृष्ट थे और जो कुछ उन्होंने लिखा था, वह उनकी प्रतिभा का द्योतक है। यद्यपि सापेक्षिक दृष्टि से उनका काव्य-सृजन परिमाण में नगण्य ही है, फिर भी इस सत्य को विस्मृत नहीं किया जा सकता कि यदि नगेन्द्र काव्य-साधना में रत रहते तो एक सफल छायावादी कवि के रूप में हमने उन्हें पाया होता। हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य के अनुशीलन ने नगेन्द्र की विचारात्मक प्रतिभा और विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति को अधिक उभार दिया और उनका कवि-रूप अवि-कसित ही रह गया।

गंभीर साहित्य-साधना ही उनका श्रेय एवं प्रेय रहा है। सामाजिक और राजनीतिक सेवा-कार्यों के प्रति प्रारम्भ से ही उन्हें विरुचि रही है। यही कारण है कि देश-विदेश की राजनीतिक गतिविधियों और क्रान्तियों की ओर न तो वे आकृष्ट हुए और न उन्होंने उन्हें कभी अपना प्रेय ही बनाया। परन्तु वस्तुतः

अपने बौद्धिक क्रिया-कलापों में अनुरत रहने पर भी नगेन्द्र जीवन के रागात्मक पक्ष का बड़े आग्रह के साथ पोषण और संवर्द्धन करने के लिए व्यग्र रहते हैं; क्योंकि इसे ही वे व्यक्तित्व की समृद्धि मानते हैं।

नगेन्द्र के व्यक्तित्व-निर्माण में उन समस्त व्यक्तियों का प्रभाव पड़ा जिनके सम्पर्क में वे आये या जिनकी रचनाओं का अनुशीलन उन्होंने किया। व्यक्तित्व-निर्माण में देशी-विदेशी विचारकों, दार्शनिकों, साहित्यिकों का योग है। प्रारम्भ में ही आचार्य शुक्ल का प्रभाव नगेन्द्रजी के मन पर पड़ चुका था। यद्यपि आचार्य शुक्ल और नगेन्द्र के संस्कारों में भिन्नता थी, परन्तु नगेन्द्र के साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में शुक्लजी का प्रभाव अनिवार्य रहा है। विशिष्ट अध्ययन के रूप में वे रस-सिद्धान्त की मूल समस्या तक गये हैं और उन्होंने उसकी 'जेनिसिस' के अन्वेषण का प्रयास किया है। संस्कृत-साहित्य के आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, कुन्तक प्रभृति आचार्यों के विचारों और साहित्य-ग्रन्थों से उनका घनिष्ठ संबंध है। पौरस्त्य आचार्यों में नगेन्द्रजी भट्टनायक और अभिनवगुप्त से विशेषतः प्रभावित है। उनका मत है कि भट्टनायक का ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है इसीलिए संस्कृत के पंडित उनके साथ न्याय नहीं कर सके। तुलनात्मक समीक्षा के गंभीर अध्ययन के पश्चात् नगेन्द्र का मत है कि सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में भारतीय काव्य-शास्त्र विदेशी काव्य-शास्त्र से निश्चित ही आगे बढ़ा हुआ है और रस-सिद्धान्त काव्य-शास्त्र की अन्तिम परिणति है।

प्रायः कहा जाता है कि डा० नगेन्द्र फ्रायडवादी है, परन्तु वास्तव में यह ठीक नहीं है। फ्रायड की मेधा नगेन्द्रजी को स्वीकार्य है, परन्तु उनका दर्शन एकांगी है। काव्य में नगेन्द्रजी व्यापक रसवाद और उसी के अनुकूल जीवन में व्यापक आनन्दवाद के समर्थक हैं।

साहित्य-सृजन :

नगेन्द्र का साहित्यिक जीवन काव्य से प्रारम्भ हुआ। स्कूल और कॉलेज के दिनों में होने वाले कवि-सम्मेलनों में वे अपनी रचनाएँ साग्रह पढ़ा करते थे। उन्हें स्वतः छायावादी रचनाओं से मोह था और वे स्वयं छायावादी कविताएँ लिखा करते थे।

कविता के क्षेत्र से हटकर नगेन्द्र जब समीक्षा के क्षेत्र में आये तब भी उनका काव्य-प्रेम मात्रा में किंचित् न्यून नहीं हुआ था। अपनी आलोचनात्मक पुस्तकों में जहाँ भी काव्य-उद्धरणों द्वारा नगेन्द्र ने अपने मत की पुष्टि एवं स्थापना की है, वहाँ उनकी काव्य-प्रतिभा उभर आई है। नगेन्द्र की प्रथम पुस्तक 'सुमित्रानन्दन

पन्त' साहित्य रत्न भंडार, आगरा से १९३८ में प्रकाशित हुई। वैसे इस प्रथम पुस्तक की अपनी परिसीमाएँ हैं, परन्तु उन्हें हम नगेन्द्र की परिसीमाएँ न मानकर युग की परिसीमाएँ मानेंगे। १९३७ में 'वनबाला' के प्रकाशन के पश्चात् लेखक की यह पहली पुस्तक थी जिसका हिन्दी-जगत्में हार्दिक स्वागत हुआ। डा० नगेन्द्र ने स्वतः स्वीकार किया है कि 'सुमित्रानन्दन पन्त' जल्दी में लिखा गई थी, उस समय उनमें आत्म-विश्वास भी कम था और हाथ भी मँजा हुआ नहीं था।

१९३९ में 'साकेत : एक अध्ययन' दूसरी आलोचनात्मक पुस्तक प्रकाश में आयी। पुस्तक के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने सामग्री-चयन में पर्याप्त परिश्रम किया है। अंग्रेजी की समीक्षात्मक पुस्तकों की पद्धति पर इसका प्रणयन हुआ है।

'आधुनिक हिन्दी-नाटक' १९४० में, नगेन्द्र की तीसरी कृति के रूप में प्रकाशित हुई। स्पष्ट है कि नगेन्द्र की मान्यताएँ अधिक परिपक्व और संश्लिष्ट हो रही थी। भाषा-शैली में भी एक विकासात्मक प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। फिर भी, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने उचित ही कहा था कि नगेन्द्र के लिए यह एक दिशान्तर-प्रयाण था। यहाँ तक आते-आते शास्त्रीय विवेचन में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आ जाता है। इस पुस्तक में हिन्दी-नाटककारों और नाटक की व्यक्तिपरक मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या का सफल प्रयास किया गया है।

यहाँ से डा० नगेन्द्र गंभीर अध्ययन और चिन्तन की ओर प्रवृत्त होते हैं। फ्रायड, कोचे आदि के मनोवैज्ञानिक और सौन्दर्य-सिद्धान्तों का विधिवत् अध्ययन प्रारम्भ होता है। व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र से लेखक सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में पदार्पण करता है। इसी समय १९४४ में उनकी पुस्तक 'विचार और अनुभूति' प्रकाशित होती है। पुस्तक में पश्चिमी काव्य, दर्शन, सौन्दर्य, मनो-विज्ञान के आधार पर प्रवृत्तियों और काव्य-सृजन-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। नगेन्द्रजी की भाषा यहाँ तक आते-आते पर्याप्त समृद्धि प्राप्त कर लेती है। 'विचार और विवेचन' में यह कला और विकसित होती है। विषय के अनुरूप ही भाषा और शैली भी प्रौढ़ होती जाती है। नगेन्द्र ने यहाँ अपने अंग्रेजी ज्ञान की उपलब्धियों का भरपूर प्रयोग कर हिन्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा का तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया है जो विषय और प्रास्ताविक-शिल्प दोनों दृष्टियों से नवीन है।

विषय-सामग्री और शिल्प की दृष्टि से समृद्धि प्राप्त करने के पश्चात् डा० नगेन्द्र ने डी० लिट्० के लिए अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया, जो दो भागों में प्रकाशित हुआ : क—रीतिकाव्य की भूमिका, और ख—देव और उनकी कविता।

(क) भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा

विकास-क्रम

संस्कृत-परम्परा में सम्पूर्ण वाङ्मय को शास्त्र तथा काव्य—इन दो स्वतंत्र प्रकारों में विभाजित किया गया है। यथा :

‘इह वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च’।^१

काव्य के अनुशीलन के लिए शास्त्र का ज्ञान आवश्यक माना गया है। राज-शेखर का अभिमत है कि दीपक के प्रकाश के अभाव में पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, उसी प्रकार शास्त्र-ज्ञान के बिना काव्य-ज्ञान असम्भव है। राजशेखर ने ही चार वेद, छः वेदांग, चार शास्त्र—इन चौदह विद्याओं के साथ काव्य-विद्या को पन्द्रहवाँ स्थान दिया और इसे चौदहों विद्याओं का एकमात्र आधार माना है।

‘संसार में कर्म-प्रकाशन के साथ-साथ भाव-प्रकाशन भी चलता रहता है और बाह्य जगत् हमारे रस में पग कर अन्तर्जगत् की वस्तु आया है।’^२ यह भी निश्चित है कि इस प्रवाह को बाँध रखने के लिए ही चिरकाल से मनुष्य के अन्तर में साहित्य के रागात्मक सूत्र विद्यमान हैं। वास्तव में साहित्य में हम उस मनुष्य का परिचय पाते हैं जो अपनी सीमा लाँघ जाता है। आलोचना सोद्देश्य हुआ करती है। आलोचना का उद्देश्य यह खोज करना है कि कवि या लेखक की कल्पना में मनुष्य के हृदय के किस विशेष रूप ने घनीभूत होकर अपने अनन्त वैचित्र्य के प्रकाश को सौन्दर्य द्वारा प्रस्फुटित किया है। देखना यह भी आवश्यक है कि इसमें वह कितना सफल हो सका है और किस सीमा तक उसने सामान्य हृदय को उद्देलित किया है। आलोचना का उद्देश्य यह देखना भी है कि कवि या लेखक की कृति में मानव-हृदय कितना और किस सुन्दरता के साथ चित्रित हुआ है। भाषा, रस, अलंकार आदि परखना ही पर्याप्त आलोचना नहीं। बा० श्यामसुन्दर दास ने कहा है कि ‘यदि साहित्य को जीवन की व्याख्या’^३ मानें, तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।’

१. राजशेखर : काव्यमीमांसा, अ० २

२. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १६७

३. Poetry is the criticism of life : Matthew Arnold.

आलोचना की सामान्य प्रकृति एवं उसकी विविध प्रमुख सीमाओं पर विचार करने के साथ-साथ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि आलोचना का रूप और उसका ध्येय प्रत्येक आलोचक के लिए अलग-अलग होता है। किसी एक आलोचना-सम्प्रदाय के सिद्धान्त अकाट्य भी नहीं होते। आलोचना में या तो सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण किया जाता है या साहित्य और मनुष्य की चेतना, साहित्य और जीवन, रूप तथा विषय के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार किया जाता है।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र का स्थान विश्व के विकसित साहित्य-शास्त्रों में है। अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन साहित्यों के साथ संस्कृत साहित्य-शास्त्र भी सम्पूर्ण अर्थ में प्रौढ़ है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में अभिव्यक्ति और संवेदना दोनों की प्रौढ़ता प्राप्य है।

संस्कृत साहित्य में भरत मुनि की प्रसिद्धि आचार्य के रूप में है। 'नाट्य-शास्त्र' के अन्तःसाक्ष्य एवं समसामयिक उल्लेखों के आधार पर भरत मुनि का समय दूसरी और तीसरी शताब्दी के मध्य माना गया है। नाट्य-शास्त्र में प्रारम्भिक काव्य-शास्त्र के स्वरूप एवं स्थिति के दर्शन होते हैं। साहित्य में विशेष विवेचनीय तत्त्व कौन-सा है और उसका सामाजिक महत्त्व क्या है? इन प्रश्नों पर भी नाट्य-शास्त्र अच्छा प्रकाश डालता है। नाटक की प्रकृति एवं उसके अंगों के विवेचन के पश्चात् नाटक के उद्देश्य का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। नाट्य-शास्त्र का अनुशीलन एक बात स्पष्ट कर देता है कि भरत-पूर्व युग में भी साहित्य के स्वरूप एवं तत्त्वों पर गम्भीर विवेचन होता रहा है, अन्यथा भरत द्वारा इतना सागोपांग एवं विश्लेषणात्मक विवेचन सम्भव नहीं था। नाट्य-शास्त्र में नाटक की उत्पत्ति, प्रेक्षागृह-निर्माण, अभिनय के विभिन्न प्रकार, नाटकीय संधियाँ, वृत्तियाँ एवं अन्य अनेक तत्सम्बन्धी विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। भरत ने रस, गुण, दोष, अलंकार, छन्द-निरूपण, नायक-नायिका-भेद का भी विशद विवेचन किया है। भरत प्रथम रसवादी आलोचक माने जाते हैं। उन्होंने ही रसवाद की प्राण-प्रतिष्ठा कर, रस-स्वरूप-निर्देश तथा रसोत्पत्ति की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की है। यद्यपि भरत के नाट्य-शास्त्र में विवेचन की वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक बुद्धि का अभाव है; परन्तु उसमें नाटक के विभिन्न अंगों का जैसा सूक्ष्म दिग्दर्शन है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत-पूर्व भी साहित्य और काव्य-शास्त्र का विवेचन भारत में प्रारम्भ हो चुका था, जिसका सुविकसित स्वरूप हमें नाट्य-शास्त्र में प्राप्त होता है।

संस्कृत-साहित्य में साहित्य के प्रयोजन एवं उद्देश्य के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन हुआ है। प्रायः प्रत्येक संस्कृत-आचार्य ने साहित्य के प्रयोजन के विषय में अपना विशिष्ट मत निरूपित किया है और अन्यान्य मतों एवं सिद्धान्तों की तुलना

में अपने मत की आवश्यकता, स्पष्टता एवं औचित्य का प्रतिपादन किया है। भरत के पश्चात् काव्य-शास्त्र की विकसित परम्परा छठी शताब्दी के मध्य तक मौन ही रहती है और हमें किसी महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृति का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। भरत ने रस का श्रेष्ठत्व प्रतिपादित किया। छठी शताब्दी के आचार्य भामह अलंकारवादी हुए, जिन्होंने रस के स्थान पर अलंकारों को काव्य की आत्मा माना। भामह का ग्रंथ 'काव्यालंकार' काव्य-शरीर, अलंकार, दोष, न्याय-निर्णय, शब्द-शुद्धि का विवेचन कर स्वतन्त्र मतवाद की स्थापना करता है। भामह ने अलंकार-वाद का समर्थन किया एवं रस के स्थान पर तीन काव्य-गुणों—माधुर्य, प्रसाद एवं ओज—की सर्वप्रथम स्वीकृति भामह से ही प्राप्त हुई। भामह ने ही वैदर्भ और गौड़ नामक काव्य-मार्गों का विवेचन-प्रस्तुत किया। भामह का साहित्य-विवेचन अपने मत की स्थापना और औचित्य-निरूपण में पूर्ण सफल है।

भारतीय काव्य-शास्त्र का अधिकांश विवेचन मत-स्थापना और व्याख्या के रूप में हुआ। परम्परागत दृष्टिकोण का प्राधान्य रहने के कारण आलोचना की कृतियों में मौलिकता के दर्शन नहीं होने पाते। काव्य-तत्त्व के समस्त पक्षों का विवेचन विभिन्न दृष्टिकोणों से न होकर, एक ही दृष्टिकोण से किया गया। भामह के पश्चात् सातवीं शताब्दी में दण्डी के तीन ग्रंथ प्राप्त होते हैं। दण्डी भी भामह के समान ही अलंकार के समर्थक थे। दण्डी के तीन ग्रंथ 'काव्यादर्श' 'दशकुमारचरित' और 'अवन्ति-सुन्दरी-कथा' हैं। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, रीति-गुण-अलंकार, यमक, चित्र-बन्ध और प्रहेलिका के अतिरिक्त दोषों का निरूपण किया है। दण्डी अलंकारवादी थे और इसीलिए रस-भाव को भी इन्होंने रसवत् अलंकारों में अन्तर्निहित कर दिया है। उन पर भामह और भरत दोनों का प्रभाव पड़ा।

अन्य आलंकारिक आचार्यों में ९वीं शताब्दी के उद्भट का नाम भी उल्लेखनीय है। 'काव्यालंकारसार-संग्रह', 'भामह-विवरण' और 'कुमारसंभव' उद्भट के इन तीन ग्रन्थों में अन्त के दो ग्रन्थ तो प्रायः अप्राप्य हैं। काव्यालंकारसार-संग्रह में भामह के आधार पर प्राचीन एवं कतिपय नवीन अलंकारों का विवेचन किया गया है। यद्यपि रसवत् अलंकारों की स्थिति स्पष्ट करने का श्रेय दण्डी को है, परन्तु सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप इन्हें उद्भट ने प्रदान किया। अलंकारों के विवेचन के साथ ही साथ उद्भट ने उपनागरिका आदि वृत्तियों का निरूपण किया। स्पष्ट है कि काव्य-शास्त्र का विवेचन सूक्ष्म होता जा रहा था और नवीन तत्त्वों का उद्घाटन, प्राचीन तत्त्वों का विश्लेषण एवं महत्त्व-प्रतिपादन काव्य-चिन्तन की दिशा-विकास का परिचय देता है। काव्य-सम्बन्धी अनेक मत इस युग में प्रतिष्ठित

हुए और उनके आधार पर काव्य-सम्प्रदायों की पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ।

रुद्रट का समय भी ९वीं शताब्दी स्वीकार किया जाता है। इनके 'काव्यालंकार' में अलंकार, काव्य-स्वरूप, काव्य-भेद, रीति, दोष, रस, नायक-नायिका-भेद निरूपण किया गया है। रुद्रट के ग्रन्थ में अलंकारों की ओर आकर्षण है, साथ ही रस के प्रति भी आस्था है। भरत के उपरान्त रुद्रट ने ही रस का व्यवस्थित एवं स्वतन्त्र निरूपण किया है। इसी प्रकार नायक-नायिका-भेद के विवेचन में व्यवस्था भी रुद्रट ने स्थापित की है। स्वकीया, परकीया और सामान्य नायिकाओं का प्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया है और प्रेयान् रस की चर्चा भी रुद्रट ने ही की है।

ऐतिहासिक काल-क्रम की दृष्टि से वामन का समय रुद्रट एवं उद्भट के भी कुछ पूर्व (आठवीं शती) पड़ता है। वामन रीतिवादी आचार्य थे, अपने 'काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति' में उन्होंने काव्य-प्रयोजन, रीति-विवेचन, गुण और अलंकार-विवेचन किया है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया। उनका मत यह भी था कि गुण काव्य के नित्य अंग हैं एवं अलंकार अनित्य। उल्लेखनीय है कि वामन-पूर्व आचार्यों ने वक्रोक्ति को अर्थालंकारों का स्थान नहीं दिया, परन्तु वक्रोक्ति को लक्षणा का एक रूप मानते हुए भी वामन ने इसे अर्थालंकारों में स्थान दिया है और उधर रस को भी कान्ति नामक गुण में अन्तर्भूत किया है।

अलंकार और रीति के सम्प्रदायों के प्रतिष्ठित हो जाने पर ९वीं शताब्दी के मध्य में कश्मीर में आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि-सिद्धान्त' की स्थापना की। इनका 'ध्वन्यालोक' सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसमें ध्वनि-विरोधियों (अभाववादी, भक्तिवादी, अलक्षणीयवादी) का खण्डन एवं ध्वनि के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। ध्वनि के संदर्भ में ही गुण, अलंकार, संघटन एवं दोषों का विवेचन किया गया है। अभी रीति एवं अलंकारों को ही काव्य की आत्मा प्रतिपादित करने का प्रयास वामन एवं भामह द्वारा किया गया था। सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने इनका विरोध कर ध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया। उल्लेख-योग्य है कि इन्होंने रस को भी ध्वनि के अन्तर्गत ही समाहित कर लिया। वास्तव में आनन्दवर्धन के इस रस-ध्वनि-सिद्धान्त ने काव्य-शास्त्र की एक नवीन दिशा का उद्घाटन किया। आनन्दवर्धन के मत की तुलना में रीति और अलंकार-सिद्धान्त महत्वहीन प्रतीत होने लगे। काव्य-शास्त्र का भी पूर्व-ध्वनि एवं उत्तर-ध्वनि के रूप में विभाजन सम्भव हो गया। ध्वनि के अन्तर्गत वस्तु, अलंकार और रस, इन तीन ध्वनियों की स्थिति स्वीकार की गई। काव्य का लक्ष्य भावों और रसों की व्यंजना करना स्वीकार कर लिया गया।

११ वीं शताब्दी से काव्यशास्त्रीय विवेचन-पद्धति दर्शन-शास्त्र की ओर

उन्मुख होने लगी। १०वीं और ११वीं शताब्दी के मध्य में अभिनवगुप्त ने आनन्द-वर्धन और भरत के ग्रंथों की उच्चस्तरीय व्याख्या प्रस्तुत की। वास्तव में 'ध्वन्या-लोक-लोचन' और 'अभिनव-भारती' भाष्य होते हुए भी स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष विश्लेषण-बुद्धि का परिचय देने में समर्थ हैं। भरत-सूत्र की व्याख्या शंकुक, लोल्लट एवं भट्टनायक ने प्रस्तुत की थी। अभिनवगुप्त ने रस-निष्पत्ति-सम्बन्धी उपर्युक्त विभिन्न मतवादों की आलोचना कर 'अभिनववाद' की स्थापना की। सबसे पहली बार अभिनवगुप्त ने सामाजिक आनन्द को उचित मान्यता दी।

राजशेखर १० वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए थे। 'काव्य-मीमांसा' में काव्य-स्वरूप, काव्य-भेद, काकुवक्रोक्ति, रीति-प्रकार, कवि-भेद, आलोचक-भेद, कवि-चर्चा, राज-चर्चा, राजदरबारी वैभव, शब्द-हरण, अर्थ-हरण, कवि-समय, काल-विभाग आदि विषयों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। धनिक एवं धन-जय ने भी १०वीं शताब्दी में ही अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन किया। धनंजय के ग्रन्थ 'दशरूपक' पर धनिक ने विद्वत्तापूर्ण एवं सारगर्भित टीका लिखी। नाट्य-तत्त्वों, नायक-नायिका-विभेद, रस-विवेचन का विस्तृत निरूपण इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है।

'वक्रोक्तिजीवितम्' के रचयिता आचार्य कुन्तक का समय निश्चित नहीं। दसवीं शताब्दी के अन्त से १२ वीं शताब्दी तक उनका समय स्वीकार किया गया है। राजानक कुन्तक का ग्रन्थ काव्य के अभिव्यक्ति-कौशल का उच्चस्तरीय विवेचन प्रस्तुत करता है। कुछ विद्वानों का मत है कि कुन्तक का वक्रोक्ति-विवेचन वस्तुतः राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी की उक्ति 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' को आधार मानकर हुआ है। कुन्तक ने काव्य-प्रयोजन, वक्रोक्ति का स्वरूप और उसके भेदोपभेदों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। 'वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है, इस सिद्धान्त के पुरस्कर्ता आचार्य कुन्तक ही थे। उन्होंने विदग्धता में रमणीयता के भाव का स्पष्टीकरण कर वक्रोक्ति का सीमा-विस्तार वर्ण-विन्यास-वक्रता से लेकर रस-वक्रता और महाकाव्य-वक्रता तक किया। वक्रोक्ति के छह भेद इस प्रकार हैं : वर्ण-विन्यासवक्रता, पदपूर्वाद्धिवक्रता, प्रत्ययवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता।

कुन्तक वास्तव में युगान्तरकारी आचार्य थे। उनके वक्रोक्ति-विवेचन में पर्याप्त मौलिकता के दर्शन होते हैं। काव्य के समस्त अंगों को उन्होंने वक्रोक्ति के अन्तर्गत समाहित कर दिया है और अलंकारों की वर्द्धमान संख्या को निश्चित किया है। कुन्तक की स्वभावोक्ति एक साहसपूर्ण स्थापना है और इसी प्रकार रसवाद अलंकारों का विवेचन भी नितान्त मौलिक है। वैदर्भ आदि मार्गों के

प्रादेशाभिधानवाद का कुन्तक ने खण्डन किया और रूढ़ि एवं परम्परा से बाहर आकर कतिपय नवीन गुणों की सृष्टि की।

अलंकार, रीति, ध्वनि एवं वक्रोक्ति मतों में काव्य-शास्त्र की एक सुगठित एवं सुव्यवस्थित परम्परा हमें प्राप्त होती है। यदि सूक्ष्म बुद्धि एवं सहृदयता से विचार किया जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि किस प्रकार काव्यशास्त्र-विवेचन स्थूल से सूक्ष्म होता गया, किस प्रकार बाह्य अंगों और उपकरणों के विवेचन से प्रारम्भ होकर अन्तर्निहित सूक्ष्मता का उद्घाटन किया गया। इस विकसित परम्परा में जिस विश्लेषक दृष्टि और वैज्ञानिक विवेचन के दर्शन होते हैं, वह युग के वैचारिक द्वन्द्व और समृद्धि का द्योतक है। इस तरह १२वीं शताब्दी तक काव्यशास्त्र के दर्शन का निर्माण हो चुका था। इसके बाद किसी नवीन मतवाद का उदय संस्कृत साहित्य-क्षेत्र में नहीं हुआ, परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ तक इन विभिन्न मतवादों की खण्डनात्मक एवं मण्डनात्मक प्रक्रिया अवश्य चलती रही। खण्डन और मण्डन के ऊपर अपेक्षाकृत एक अधिक शक्तिशाली प्रवृत्ति काम करती रही और वह थी समन्वय की प्रवृत्ति। नवीन मतवाद के उत्थान और प्राचीन मतवाद के पोषण के स्थान पर परस्पर-विरोधी मतवादों के मध्य एकता के तन्तुओं का अन्वेषण कर समन्वय का प्रयास ही आचार्यों का श्रेय एवं प्रेय बन चुका था। १६वीं शताब्दी के मध्य में महिमभट्ट का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने आनन्दवर्धन-सम्मत ध्वनि-सिद्धान्त को अनुमान में अन्तर्भूत करके अपने विलक्षण पाण्डित्य का परिचय दिया है।

राजा भोज का समय ११वीं शताब्दी स्वीकार किया गया है। 'सरस्वती-कण्ठा-भरण' और 'शृंगारप्रकाश' में क्रमशः दोष, गुण, अलंकार और रस का विवेचन किया गया है। भोज का शृंगार-निरूपण परम्परा-प्राप्त विवेचन से भिन्न है। भोज ने काव्य-शास्त्र-निरूपण में पूर्ववर्ती आचार्यों का विभिन्न सन्दर्भों में उल्लेख कर अपनी समन्वय-दृष्टि का सफल परिचय दिया है। भोज के ग्रन्थों में गद्य और पद्य दोनों का समावेश है। यहाँ यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि १२वीं शताब्दी के आते-आते पद्य के साथ-साथ गद्य का भी समीक्षा में प्रयोग होने लगा था।

यह विलक्षण बात है कि काव्य-शास्त्र और साहित्य के प्रणेताओं में से अधिकांश आचार्यों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध काश्मीर से रहा है। ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान मम्मट भी काश्मीर-निवासी थे। मम्मट का 'काव्यप्रकाश' समन्वयात्मक प्रवृत्ति का परिचायक है जिसमें काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-भेद एवं शब्द-शक्ति का विशद विवेचन किया गया है। इसी में ध्वनि के के भेदोपभेद, रस-भावाद, गुणीभूत व्यंग्य, चित्रकाव्य, दोष, गुण

तथा शब्दालंकार एवं अर्थालंकार का निरूपण हुआ है। जितने अधिक विषयों का विवेचन मम्मट ने किया है वह उनकी विद्वत्ता एवं विश्लेषक बुद्धि का परिचायक है। मम्मट ने ध्वनि-सम्प्रदाय की पुष्टि के हेतु अनुमानवादी, अभिधावादी और लक्षणावादी मतों का बलपूर्वक खण्डन किया। ध्वनि-मत के महान् समर्थक होते हुए भी मम्मट के काव्य-लक्षण में समन्वय की प्रवृत्ति मिलती है। १२वीं शताब्दी में 'अलंकारसर्वस्व' और 'व्यक्ति-विवेक' के टीकाकार रुय्यक हुए। ये भी काश्मीर-निवासी थे। पूर्ववर्ती आचार्यों के विभिन्न सिद्धान्तों के सम्बन्ध में तुलनात्मक समीक्षण रुय्यक की विशेषता है।

१४वीं शताब्दी के विश्वनाथ उत्कल-निवासी थे। 'साहित्य-दर्पण' में इन्होंने काव्य-स्वरूप, काव्य-भेद, शब्द-शक्ति, रस, नायक-नायिका-भेद, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, व्यंजना वृत्ति, दृश्य-काव्य-विवेचन, दोष, गुण, रीति और अलंकार-निरूपण किया है। काव्य-शास्त्र के विषयों में नवीनता न होने पर भी उनके प्रतिपादन में पर्याप्त स्पष्टता का परिचय मिलता है। विश्वनाथ ने रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया। मम्मट, आनन्दवर्धन, कुन्तक और भोज के मतों एवं काव्य-लक्षणों का इन्होंने बलपूर्वक खण्डन कर सूत्रबद्ध एवं समाज-प्रधान शैली के स्थान पर सुबोध शैली में पद्यबद्ध सिद्धान्त-प्रतिपादन किया। किन्तु सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से इनका योगदान मौलिक नहीं है।

संस्कृत काव्य-शास्त्र के अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ का समय १७ वीं शताब्दी है। 'रसगंगाधर' में काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-भेद, रस, रस-दोष, गुण, ध्वनि, अभिधा, लक्षणा और अलंकारों का निरूपण किया गया है। जगन्नाथ का काव्य-लक्षण-विवेचन अधिक पूर्ण एवं गम्भीर है। जगन्नाथ द्वारा काव्य के उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद निरूपित किये गए हैं। ये ध्वनिवादी आचार्य थे। भरत-सूत्र के व्याख्याकारों के मत का संकलन इनके ग्रन्थ में उपलब्ध है। जगन्नाथ की समर्थ भाषा-शैली, सिद्धान्त-प्रतिपादन में अनुरत विचित्र एवं परिपक्व विचार-शक्ति और खण्डन करने की विलक्षण प्रतिभा इन्हें प्रौढ़ एवं सिद्धहस्त आचार्य मानने के लिए विवश करती है।

भरत से लेकर जगन्नाथ तक संस्कृत-साहित्य में हमें काव्य-सिद्धान्तों का ऐतिहासिक विकास प्राप्त होता है। भरत-पूर्व युग से लेकर लगभग ढाई हजार वर्षों तक यह काव्यशास्त्रीय विवेचन विकासरत रहा और उत्तरोत्तर परिपूर्णता की ओर अग्रसर होता रहा। प्रत्येक युग में विशेषत्व-सूचक तत्त्वों के विकास एवं विश्लेषण का पूरा ध्यान रखा गया। इस विशाल युग में अनेक काव्य-सम्बन्धी मत प्रवर्तित एवं प्रतिष्ठित हुए और इनके आधार पर अनेक सम्प्रदायों की सृष्टि हुई।

समय-समय पर खण्डन और मण्डन की प्रवृत्ति अधिक उभर कर सामने आती रही, तथा इसके पश्चात् विघटन का युग आया जिसमें स्वतन्त्र मतवादों की स्थापना न होकर प्रवर्तित एवं स्थापित मतवादों की व्याख्या ही प्रस्तुत की गई। संस्कृत के काव्य-शास्त्र-निरूपण के आधार पर ही १७वीं शताब्दी में हिन्दी में भी काव्य-शास्त्र-विवेचन प्रारम्भ हुआ। वैसे तो भक्तिकाल में भी नायक-नायिका, अलंकार एवं रस-सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों का निरूपण प्राप्त होता है; परन्तु व्यवस्थित रूप में काव्य-शास्त्र का निरूपण हमें हिन्दी के प्रथम आचार्य केशवदास की 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' में ही मिलता है। 'रसिकप्रिया' में शृंगार रस एवं नायक-नायिका-भेद विवेचित है। 'कविप्रिया' में काव्यांगों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। केशव ने हिन्दी में सर्वप्रथम सचेष्ट रूप से संस्कृत की पूर्व-ध्वनि और उत्तर-ध्वनि परम्पराओं का अनुसरण कर अपने पांडित्य-गुरु व्यक्तित्व के माध्यम से हिन्दी-काव्य में शास्त्रीय पद्धति की प्रतिस्थापना की। वस्तुतः केशव स्वतन्त्र सिद्धान्त-निरूपण न कर संस्कृत के सिद्धान्तों का अनुवाद ही करते रहे; परन्तु भक्ति के प्रवाह की रीति की ओर उन्मुख करने में जिस प्रतिभा एवं पांडित्य-पूर्ण व्यक्तित्व की अपेक्षा थी, वे केशव में सहज प्राप्य थे।

चिन्तामणि त्रिपाठी का आविर्भाव १७वीं शताब्दी के अन्त में हुआ। इन्होंने काव्य-विवेक, काव्य-प्रकाश, कवि-कुल-कल्पतरु, रसमंजरी, पिंगल और रामायण की रचना की। केशवदास और चिन्तामणि त्रिपाठी का जन्म ऐसे परिवार में हुआ था, जिसमें संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वानों का जन्म होता रहा था, इसीलिए उनके संस्कारों का प्रभाव उन पर अनिवार्यतः पड़ा। 'कविकुलकल्पतरु' में काव्य-स्वरूप, काव्य-भेद, गुण, अलंकार, दोष, शब्द-शक्ति और ध्वनि का निरूपण संस्कृत के ग्रन्थों के आधार पर हुआ है। चिन्तामणि ने मम्मट, विद्यानाथ, विश्वनाथ, भानुमिश्र की ओर भी अनेक स्थलों पर संकेत किया है। कहा जाता है कि हिन्दी-रीतिकारों में चिन्तामणि प्रथम सर्वांग-निरूपक आचार्य हैं जिन्होंने मम्मट आदि उत्तरवर्ती आचार्यों की शैली पर काव्यांगों का निरूपण किया है।

हिन्दी रीति-परम्परा का विकास करने वालों में १७वीं शताब्दी में आगरा के कुलपति का उल्लेख भी आदर से किया जाता है। 'रस-रहस्य' में काव्य का स्वरूप काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण, शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, गुण, दोष आदि का निरूपण मम्मट के आधार पर हुआ है। कुलपति की विशेषता उनकी शैली है। इन्होंने 'काव्यप्रकाश' की कारिकाओं का ही हिन्दी-अनुवाद न कर काव्य-शास्त्रीय व्यापक सिद्धान्तों को सहज, सरल एवं सुबोध शैली में प्रतिपादित किया है।

१८वीं शताब्दी में 'रसपीयूषनिधि' के रचयिता सोमनाथ ने रीति-परम्परा का विकास किया। रस, अलंकार के साथ-ही-साथ छन्द-शास्त्र के ज्ञान का परिचय भी लेखक ने दिया है। लेखक अप्पय दीक्षित, मम्मट और विश्वनाथ का प्रभाव स्पष्ट स्वीकार करता है। ग्रन्थ में काव्य-स्वरूप, काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण, शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, दोष, गुण और अलंकारों का निरूपण किया गया है। रस एवं नायक-नायिका का विवेचन भानुमिश्र की 'रसतरंगिणी' पर आधारित है। ग्रन्थ की सामग्री में नवीनता नहीं है, किन्तु यत्र-तत्र विवेचन में मत-वेषम्य द्वारा स्वतन्त्र उद्भावनात्मक प्रवृत्ति का परिचय दिया गया है।

१८वीं शताब्दी में ही भिखारीदास ने 'रस-सारांश', 'काव्य-निर्णय' और 'शृंगार-निर्णय' की रचना कर काव्य-शास्त्र को समृद्धि प्रदान की। 'काव्य-निर्णय' वास्तव में रीति-विवेचना-सम्बन्धी उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें काव्य-स्वरूप, शब्द-शक्ति, तुक और दोष-निरूपण प्रस्तुत किया गया है। इस पर मम्मट और विश्वनाथ का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। यद्यपि अलंकार-निरूपण में आधार अप्पय दीक्षित को माना गया है, परन्तु अलंकारों को नवीन क्रम एवं वर्गों में विभाजित करने का श्रेय भिखारीदास को ही है। इस दिशा में इनका प्रयास सर्वथा मौलिक एवं स्तुत्य है और इसीलिए रीतिकालीन आचार्यों में दास अग्रगण्य हैं।

१९वीं शताब्दी में प्रतापसाहि ने 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी', 'काव्य-विलास', 'काव्य-विनोद', 'शृंगार-मंजरी' और 'अलंकार-चिन्तामणि' की रचना की। ग्रन्थ के टीका-भाग में मौलिक उद्भावनाओं एवं स्वतन्त्र स्थापनाओं के लिए लेखक को पर्याप्त क्षेत्र प्राप्त हो गया है। प्रतापसाहि पर ध्वनि-आचार्यों का प्रभाव अत्यधिक रहा है।

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सम्पूर्ण रीतिकाल में काव्य-शास्त्र का जो विवेचन हुआ है वह संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर ही हुआ है। इनमें भी उत्तरकालीन आचार्यों का प्रभाव अधिक मुखर रहा, परिणामतः रीति-परम्परा रूढ़ हो गई और काव्यशास्त्रीय विवेचन मत-संकलन-मात्र रह गया।

इसके बाद आधुनिक युग आरम्भ हो जाता है। आधुनिक युग के प्रारम्भ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' में वर्तमान सैद्धान्तिक समीक्षा का गद्य में प्रादुर्भाव किया। इस पुस्तक में नाट्य-स्वरूप, भेद-प्रभेद, रचना-शिल्प, रंगमंच जैसे विविध विषयों पर प्रकाश डाला गया है। निरूपण में संस्कृत-आचार्यों के मतों एवं सिद्धान्तों का अनुसरण किया गया है। 'नाटक' में हिन्दी नाट्य-साहित्य का विकास भी निरूपित होने के कारण उसका समसामयिक महत्त्व बढ़ जाता है।

बीसवीं शती के आरम्भ में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी भाषा

के परिष्कार और हिन्दी साहित्य के विकास का स्तुत्य कार्य किया। आलोचना के क्षेत्र में द्विवेदीजी ने प्राचीन एवं नवीन के मध्य सामंजस्य स्थापित कर साहित्य के व्यापक सिद्धान्तों का निरूपण किया। 'रसज्ञ-रंजन', 'आलोचनांजलि', 'साहित्यालाप', 'साहित्य-सन्दर्भ' आदि ग्रन्थ उनकी समीक्षात्मक प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हैं।

इसी समय मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न', 'मिश्रबन्धु विनोद' एवं 'साहित्य-पारिजात' की रचना कर हिन्दी में तुलनात्मक एवं निर्णयात्मक समीक्षा का प्रवर्तन किया। इनकी दृष्टि व्यापक एवं समन्वयात्मक थी।

हिन्दी-आलोचना का वास्तविक विकास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा ही हुआ। शुक्लजी का युग-प्रवर्तनकारी कार्य है भारतीय काव्य-मतों का पाश्चात्य सिद्धान्तों के आधार पर पुनस्तथान। रस-सिद्धान्त को उन्होंने मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि प्रदान की। शुक्लजी की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समीक्षाएँ अन्योन्या-श्रित हैं। उनके निर्णय विचार एवं अनुभूति दोनों से परिपुष्ट रहते हैं। वे रसवादी आलोचक थे और भारतीय आचार्यों की गौरवपूर्ण परम्परा में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण रहेगा।

शुक्लजी के समकालीन अन्य आलोचक हैं—डा० श्यामसुन्दर दास और आचार्य पद्मसिंह शर्मा। श्यामसुन्दर दास ने 'साहित्यालोचना' तथा 'रूपक-रहस्य' में अपने समन्वयवादी आलोचनादर्श का अच्छा परिचय दिया है। पौरस्त्य एवं पाश्चात्य समालोचनादर्शों को हृदयंगम करने के उपरान्त इन्होंने काव्यांगों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। आचार्य पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी-सतसई की भूमिका' और 'पद्म-पराग' लिखकर हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात किया। इन समीक्षाओं में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष पर्याप्त सबल हैं। शर्माजी की आलोचना प्रधानतः परम्पराभुक्त काव्यशास्त्रीय आलोचना है, जो रसोद्रेक की अपेक्षा ध्वनि एवं वक्रता पर अधिक आश्रित है।

यहाँ से छायावाद-युग आरम्भ हो जाता है। छायावाद के कवियों ने अपने नवीन दृष्टिकोण को सिद्ध करने के लिए सिद्धान्त-प्रतिपादन भी किया। इनके अग्रणी थे—प्रसाद। 'काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध' उनके काव्य-सम्बन्धी लेखों का संकलन है। प्रसाद ने काव्य-सिद्धान्तों को दार्शनिक एवं ऐतिहासिक क्रम में विवेचित किया। रसवाद का मूल स्रोत उन्होंने शैवागमों में अन्वेषित किया। अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में उन्होंने अनुभूति के महत्त्व को स्वीकार किया। इसी प्रकार काव्यानन्द को उन्होंने प्रेय एवं श्रेय-सम्पृक्त माना। सत्य, शिव, सुन्दर,

सार्वजनीनता, चिरन्तनता, अनुभूति और आदर्श की समष्टि प्रसाद के साहित्यिक मानदण्ड थे ।

निराला ने 'प्रबन्ध-पद्य', 'प्रबन्ध-प्रतिमा,' तथा 'चाबुक' में काव्य-चिन्तन प्रस्तुत किया है । सौन्दर्य के आधार पर निराला ने काव्य और कला में अभेद स्वीकार किया । उन्होंने कहा, "कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अलंकार, रस या ध्वनि की सुन्दरता नहीं, अपितु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है । पूरे अंगों की सत्रह साल की सुन्दरी की आँखों की पहचान की तरह देह की क्षीणता, हीनता में तरंग-सी उतराती-चढ़ती हुई भिन्न वर्णों की बनी वाणी में खुल कर क्रमशः मन्द मधुरतर होकर लीन होती है ।" छन्द और लय पर निराला के विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं ।

इस सन्दर्भ में पंतजी की काव्य-भूमिकाओं का विशेष महत्त्व है । नवीन सौन्दर्य-बोध के उद्घाटन का जो प्रयास पंतजी ने किया है वह अंग्रेज़ कवि-आलोचक वर्ड्सवर्थ के कार्य का स्मरण दिलाता है । पंतजी ने इन भूमिकाओं में भाषा, अलंकार, छन्द, लय और तुक विषयों पर मनोविज्ञान-सम्मत गंभीर मौलिक विवेचन प्रस्तुत कर काव्यालोचन की एक नवीन दिशा का उद्घाटन किया है ।

महादेवी की काव्य-भूमिकाओं में काव्यांग का तो नहीं, काव्य की अन्तरात्मा का संश्लिष्ट विवेचन प्राप्त होता है । चिन्तन की जो सम्पृक्ति महादेवी की आलोचना में प्राप्त है, वह उनकी अपनी विशेषता है । उनकी आलोचना में ऐतिहासिक एकसूत्रता सहज ही मिल जाती है । छायावाद की भाव-भूमि के उत्स का विकास उन्होंने वैदिक साहित्य से निरूपित किया है । उनकी समीक्षाओं में अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी वृत्तियों का और काव्य के शाश्वत सिद्धान्तों का प्रौढ़ व्याख्यान प्राप्त होता है ।

छायावाद युग के व्यावहारिक आलोचकों में प्रमुख हैं—डा० गुलाबराय, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डा० नगेन्द्र । बाबू गुलाबराय ने 'नव रस', 'सिद्धान्त और अध्ययन' एवं 'काव्य के रूप' में अपने आलोचना-सम्बन्धी सिद्धान्त निरूपित किये हैं । रस का इन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विशद विवेचन किया है । साहित्यांगों का विवेचन भी पाश्चात्य एवं पौरस्त्य साहित्य-शास्त्रों के आधार पर समन्वयात्मक रूप में हुआ है ।

ऐतिहासिक आलोचना के क्षेत्र में हजारीप्रसाद द्विवेदी का विशेष महत्त्व है । साहित्य को द्विवेदीजी विकास के क्रम में देखते हैं और उस पर सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक प्रभावों का आकलन भी करते हैं । विवेच्य को समष्टि के साथ सम्बद्ध कर देना द्विवेदीजी की आलोचना का वैशिष्ट्य है । उनकी समा-

लोचना का आदर्श मानववादी है और उनके व्यक्तित्व में उसको सँभालने योग्य पाण्डित्य, सहानुभूति तथा कल्पना आदि गुणों का उचित सद्भाव भी है।

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन करने में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को समान रूप से सफलता प्राप्त हुई है। वे सौष्ठववाद आलोचना-पद्धति के प्रमुख समीक्षक हैं। सैद्धान्तिक की अपेक्षा व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में आचार्य वाजपेयी की गति अधिक है। उनका दृष्टिकोण आचार्य शुक्ल के समान ही आदर्शवादी एवं सांस्कृतिक है।

इस प्रकार अपने अतीत की समृद्धि का पूरा उपभोग करता हुआ हिन्दू काव्य-शास्त्र पश्चिम का प्रभाव ग्रहण कर, अपने काव्य की विशिष्ट चेतना के आलोक में निरन्तर विकासशील है।

(ख) पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा

विकास-क्रम

पश्चिम में साहित्य एवं कला का उत्कर्ष एवं प्रारम्भिक विकास यूनान और रोम में ही हुआ। यही कारण है कि पश्चिमी साहित्य में कला और समीक्षा के मान-दण्ड काफ़ी समय तक वे ही मान्य रहे जिनका प्रणयन यूनान और रोम के विद्वानों ने किया था। प्लेटो-पूर्व युग में और उसके परवर्ती काल में भी समीक्षायुगीन साहित्य को दृष्टि में रख कर ही की जाती रही और उसकी दिशा भी आदर्शात्मक ही रही। प्लेटो-पूर्व युग के ग्रीक साहित्य में नैतिक तत्त्व गौण था, और यही कारण है कि आलोचक नैतिक एवं सामाजिक पक्ष को अधिक उभार कर सामने रखते थे। युगीन परिस्थितियों में परिवर्तन हो रहे थे और इस कारण युग का वैचारिक द्वन्द्व भी अभिनव रूप ग्रहण कर रहा था। मनुष्य नवीन अनुभव प्राप्त करता जा रहा था और समय ने उसे एक विशेष दिशा की ओर एक विशेष प्रकार से सोचने के लिए बाध्य कर दिया था। 'डायोनिशियस' के आयोजनों का स्थान कालान्तर में 'एटिक नाट्य' ने ले लिया। यूनानी सभ्यता, यूनानी धर्म और यूनान देश की पौरुष-सम्बन्धी उपलब्धियों ने ग्रीक साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित कर रखा था। असम्भव नहीं कि आलोचकों के विचारों और चिन्तन-पद्धतियों पर भी उनका प्रभाव पड़ा हो। यूरिपिडीस (एउरिपिदेस) एरिस्टोफेस (अरिस्तोफेनेस), गोरजिअस और प्रोतगोरेस के सिद्धान्तों, समीक्षण-पद्धतियों और चिन्तन-प्रणालियों में युगीन परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। सम्भव है कि राजनीति ने साहित्य को प्रभावित किया हो।

यूनान के पतन के पश्चात् एथेन्स सभ्यता का केन्द्र बन गया। रोमी प्रजातन्त्र, राजनीति, नाट्य, संगीत, दर्शन आदि विश्व में आदर्श माने जाने लगे। यहाँ से ही समाज और साहित्य पर धर्म का प्रभाव अधिक स्पष्ट होने लगा। होमर, हेसिअद, कैफलस और व्सेनोफने में यह परिवर्तित रुचि और प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। एसकिलस और एरिस्टोफेन्स ने कवि और काव्य पर अपने युगान्तरकारी अभिमत व्यक्त किये। उन्होंने ही कहा कि काव्य की भाषा सामान्य जीवन में प्रयुक्त भाषा नहीं होती।¹ यूरिपिडीस ने रूढ़िग्रस्त नीति, धर्म और स्त्रियों से सम्बन्धित विचारों की भर्त्सना की। इस अर्थ में उसे युगान्तरकारी विचारक कहा जा सकता है। उधर, होमर के विचार किसी भी अर्थ में उदात्त नहीं कहे जा सकते। कहा जा सकता है कि होमरयुगीन सभ्यता एवं संस्कृति एक जवान देश की सभ्यता और संस्कृति थी। यही कारण है कि होमर के विचारों और साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों में एक युवा व्यक्ति की परिसीमाएँ अन्तर्हित हैं।

स्पष्ट है कि प्लेटोपूर्व-युग में राजनीति और धर्म का प्रभाव साहित्य और समीक्षा पर अतिशय रूप में पड़ा। यूनान और रोम की सभ्यता, संस्कृति, कला, संगीत, साहित्य और समीक्षात्मक विचारों को इन्हीं परिसीमाओं के मध्य रखकर परखना उचित है। साहित्य और जीवन-सम्बन्धी स्थापनाओं पर भी राजनीति और धर्म का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। वास्तव में जीवन और साहित्य-सम्बन्धी कोई भी दृष्टिकोण रूढ़ि के रूप में स्वीकृत हो जाने पर स्वतः अपनी गति में बाधक हो जाता है और फलस्वरूप यहीं से उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। प्लेटो-पूर्व युग के साहित्य और समीक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त इतने रूढ़िबद्ध और जड़ हो गए थे कि प्लेटो और परवर्ती युग में इनके विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई।

ई० पू० ५वीं शताब्दी में प्लेटो ने पश्चिम में दार्शनिक और साहित्यिक-राजनीतिक सिद्धान्तों की स्थापना की। साहित्य-समीक्षा के व्यवस्थित क्रम का नियोजन भी प्लेटो ने ही किया। प्लेटो ने साहित्य, दर्शन और राजनीति के क्षेत्र में ऐसे सिद्धान्तों की स्थापना की जिन पर आज भी चिन्तन एवं वाद-विवाद होता रहता है। साहित्य के सम्बन्ध में प्लेटो ने कहा कि वह दृश्य जगत् की वस्तुओं और व्यापारों की अनुकृति है। प्लेटो की मान्यता यह भी थी कि साहित्य में

1. The language of poetry, according to the traditional view, was not the language of daily life.

मनुष्यों को प्रभावित करने की अपूर्व शक्ति है। स्मरण रखना चाहिए कि इसी मान्यता के आधार पर प्लेटो सत्-साहित्य के निर्माण का पक्षपाती था और प्लेटो-युग में उच्च कोटि के सत्-साहित्य का अभाव था तथा अनैतिक, चरित्रहीन कवियों को उसने अपने 'गणतन्त्र' में कोई स्थान प्रदान नहीं किया था। प्लेटो यह भी मानता था कि साहित्य-सृजन की प्रक्रिया बौद्धिक नहीं, अपितु भावनात्मक है। वास्तव में इन्हीं तीन सिद्धान्तों के आदर्शात्मक विवेचन ने प्लेटो को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया। प्लेटो के सिद्धान्तों का समुचित अनुशीलन करने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें प्लेटो-युग की परिसीमाओं में रख कर परखा जाये। प्लेटो ने अनुकृति को हीन माना। इसके लिए, प्लेटो के पास उसके अपने कारण थे। प्लेटो ने कहा कि होमर और हैसिअद के काव्य में ईश्वर की रचना की अनुकृति है; परन्तु यह पूर्ण नहीं है और अपूर्ण अनुकृति जन-साधारण में ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्ति फैलाती है। इसी सिद्धान्त के आधार पर प्लेटो ने काव्य को तिरस्कृत किया था। रूपक-काव्य को भी प्लेटो महत्त्व प्रदान नहीं कर सका। क्योंकि रूपक में प्रकारान्तर से सत्य की अनुकृति की जाती है, परन्तु साधारण मनुष्य में इस कोटि के विवेक का अभाव रहता है कि वह रूपक-काव्य में से सत्य को ग्रहण कर सके। प्लेटो के अनुसार काव्य से प्राप्त होने वाला आनन्द और प्रसाद, बौद्धिक एवं आत्मिक न होकर भावनात्मक, ऐन्द्रिय एवं पाशविक हुआ करता है। वह हमारी चेतन-वृत्ति और विवेक को जागृत न कर आत्मविस्मृति द्वारा ऐसी वृत्तियों को उद्दीप्त करता है जो उदात्त न होकर हीन हुआ करती हैं। इस प्रकार प्लेटो ने साहित्य और राजनीति के क्षेत्र में नैतिकता और दर्शन को अत्यधिक प्रश्रय एवं महत्त्व प्रदान किया। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पश्चिम में वैचारिक द्वन्द्व और चिन्तन की दिशा का नियन्त्रण प्रारम्भ से ही प्लेटो के इन सिद्धान्तों द्वारा होता रहा। यह ठीक है कि प्लेटो नीति और आदर्श के सामने सब-कुछ भूल गया, यहाँ तक कि उसकी रचनाओं में जीवन का व्यावहारिक पक्ष भी उपेक्षित ही रहा।

ई० पू० चौथी शताब्दी में प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने पाश्चात्य चिन्तन को एक नवीन दिशा की ओर उन्मुख किया। प्लेटो के सैद्धान्तिक एवं आदर्शवादी साहित्य-सिद्धान्तों को अरस्तू ने व्यावहारिकता प्रदान कर उनका सहृदयता से विवेचन किया। काव्य को अरस्तू ने भी अनुकृति माना; परन्तु प्लेटो के समान हीन अनुकृति नहीं, अपितु श्रेष्ठ अनुकृति। अरस्तू ने कहा कि अनुकृति के माध्यम—शब्द, लय; अनुकृति की शैली—दृश्य, श्रव्य के आधार पर विभिन्न कलाओं—काव्य, संगीत, नृत्य, चित्र, मूर्ति और वास्तु—में तथा एक ही कला की विभिन्न

कृतियों में अन्तर आ जाता है। अरस्तू के अनुसार अनुकृति श्रेष्ठ इसलिए है कि कलाकार की कल्पना ने उसे श्रेष्ठत्व प्रदान किया है। अरस्तू ने काव्य के अन्तर्गत ही प्रगीत, आख्यानक और रूपक का उल्लेख किया। उसके त्रासदी और कामदी के विवेचन में केवल त्रासदी का विवेचन प्राप्य है। कलाओं तथा काव्य से प्राप्त होने वाले आनन्द के सम्बन्ध में अरस्तू ने प्रसिद्ध विवेचन-सिद्धान्त की स्थापना की। अरस्तू ने काव्य और विशेषकर त्रासदी के माध्यम से साहित्य-समीक्षा का एक व्यापक क्षेत्र उद्घाटित किया। नाट्य-विवेचन में तो आज तक अरस्तू के वस्तु, चरित्र, विचार, कथोपकथन, संगीत और उद्देश्य के आधार को स्वीकार किया जाता है। स्थान, समय और कार्य के संकलन-त्रय का सिद्धान्त आज भी सैद्धान्तिक नाट्य-विवेचन में पथ-प्रदर्शन कर रहा है।

यद्यपि अरस्तू ने समीक्षा को एक दृढ़ आधार प्रदान किया, परन्तु कालान्तर में उसके सिद्धान्तों को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया गया कि सृजन-प्रतिभा और कवि की अन्तरंग प्रेरणा की उपेक्षा होने लगी। अन्तरंग की उपेक्षा के परिणाम-स्वरूप केवल रीति का विवेचन समीक्षा का उद्देश्य स्वीकृत हो चला। फलतः रुढ़िबद्धता और जड़ता के आधिक्य ने प्रतिक्रिया का वातावरण उत्पन्न कर दिया।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने कहा है कि 'ईसा की पहली शताब्दी के आस-पास पाश्चात्य साहित्य और समीक्षा रीति के बन्धन में बँधने लगे। इसी के साथ ही एक अन्य संकट भी उपस्थित हुआ। ग्रीक प्रजातन्त्र और ग्रीक सभ्यता का विघटन हो चला और रोम में यूरोपीय सभ्यता का नया केन्द्र बनने लगा। संक्रान्ति-काल की यह परिस्थिति भी विकास के प्रतिकूल थी। फिर इसी समय ख्रिष्टीय धर्म की नयी स्थापना हुई जिसने क्रमागत काव्य और कलाओं को जोर से झकझोर डाला। ख्रिष्टीय धर्म निवृत्तिमुखी और वैराग्य-प्रधान था। अपने पहले आवेश में उसने ग्रीस की सुन्दरतम कला और काव्य-साहित्य को लौकिक कह कर अस्पृश्य करार दिया। ख्रिष्ट की शिक्षा निवृत्तिमुखी अथवा पारलौकिक थी। ग्रीस की लोकमुखी कला उक्त शिक्षा के अनुकूल न थी। एक नये और अन्तर्मुख जीवन-आदर्श का पहला आघात, यूरोपीय कला-विकास के लिए घातक सिद्ध हुआ।'

अरस्तू की समीक्षात्मक दृष्टि पूर्ण नहीं थी। समालोचना-सिद्धान्तों के निर्माण में उसने केवल पीछे की ओर देखा—वह सृजनात्मक साहित्य की विकासरत

प्रतिभा का आकलन न कर सका। उसने केवल आदर्श कला का विवेचन किया, पर वह मृत थी। उसने केवल उदात्त जीवन-मूल्यों और आदर्श काव्य एवं कला का विवेचन किया; परन्तु उसने इस ओर निर्देश न किया कि आदर्श एवं उच्च कोटि के साहित्य की सृष्टि कैसे की जा सकती है।

प्रतिभा और विद्वत्ता में यवन आचार्यों से कुछ अंशों में न्यून थे रोमन आचार्य। सिसरो ने अपने सिद्धान्तों को व्यावहारिकता प्रदान की। वह बुद्धिवादी था और कला एवं साहित्य के क्षेत्र में रूढ़िवादिता एवं जड़ता का विरोधी भी था। राजनीति और साहित्य में उसने अरस्तू के प्रभाव को एक भिन्न दिशा की ओर उन्मुख अवश्य किया था। सिसरो की प्रवृत्ति और साहित्य-सम्बन्धी मान्यताएँ रूढ़िग्रस्त न थीं, उनमें युगानुरूप परिवर्तित होने की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती थी।

होरेस जन्म से रूढ़िवादी और पुरातन-प्रेमी था। साहित्य एवं कला-सम्बन्धी यूनानी आदर्शों के प्रति उसमें एक विशेष प्रकार की आस्था थी। प्राचीनता-प्रेम होरेस का सबसे बड़ा गुण था। वह कहता था कि यूनानी आदर्श तुम से कभी दूर न हों।^१ उसके सिद्धान्त थे—आकार और क्रम की व्यवस्था, प्रकार-बद्धता और पूर्व-योजना। इन सिद्धान्तों के पक्ष में उसने खूब प्रचार किया।^२ होरेस के अनुसार काव्य का उद्देश्य आनन्द और शिक्षा दोनों था।^३

होरेस के आनन्द और शिक्षा वाले सिद्धान्त को वरजिल ने भी स्वीकार किया था। रोमी समीक्षकों में क्विंटिलियन अधिक सुयोग्य, सहज और सहृदय था। उसने भी रूप पर विशेष ध्यान दिया और वस्तु का उतनी विशदता से विवेचन नहीं किया। वह तर्क, सजीवता और हास को गद्य के प्रमुख गुण मानता था। उसने वस्तु-नियोजन और शब्द-चयन पर अधिक सहृदयता एवं पूर्णता से विचार किया और समीक्षा की शब्दावली का निर्माण किया। उसने प्रतिपादित किया कि सौन्दर्य कला का सहयोगी है। इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है उसकी तुलनात्मक समीक्षा। उसने यूनानी और रोमी काव्यादर्शों के आधार पर तुलनात्मक समीक्षा का सूत्रपात किया।

आभिजात्यवादी (क्लासिकल) युग के अवसान-काल में हमें एक स्वच्छन्दता-

1. Let the Greek models be never out of your hands.

2. Observe proportion and order. Adhere to the type. Be consistent.

3. The aim of poetry is 'to instruct or to delight'.

वादी समीक्षक के दर्शन होते हैं जिसने अरस्तू, प्लेटो प्रभृति आभिजात्यवादी समीक्षकों की उपलब्धियों के आधार पर युगानुरूप समालोचनादर्श का निर्माण किया। प्लेटो के समान काव्य और कला में लांजाइनस ने नैतिकता की और आनन्द के हीन-भाव की चर्चा नहीं की। उसने (होरेस के समान) कहा कि काव्य केवल सुखानुभूति या शिक्षा का साधन मात्र नहीं; उसका वास्तविक ध्येय है मनुष्य को आनन्द में विभोर कर दिव्यतर स्थिति में पहुँचा देना। लांजाइनस ने उदात्त तत्त्व के महत्त्व का प्रतिपादन जोरदार शब्दों में किया। क्विंटिलियन के आनन्द और शिक्षा में लांजाइनस ने प्रभावित करने की शक्ति को भी समाविष्ट किया। उसने कहा कि काव्य अपनी उदात्त भावना के कारण हमें लोकोत्तर आनन्द के क्षेत्र में पहुँचा देता है। वह यह भी कहता है कि साहित्य में उदात्त तत्त्व तर्क से नहीं, अपितु आत्म-प्रकाशन से आता है। वास्तव में रोमांटिक कवियों के कारण और आलोचकों व काव्य-सिद्धान्तों पर लांजाइनस का प्रच्छन्न प्रभाव रहा। उसने कहा कि जब साहित्य विकास के अन्तिम शिखर पर रहता है, वह हमें लोकोत्तर आनन्द के क्षेत्र में पहुँचा देता है जहाँ तर्क और विचार उस आनन्द की अनुभूति को न्यून नहीं कर सकते।^१ लांजाइनस ने कहा कि निरन्तर काव्याभ्यास से परिष्कृत रुचि वाला सहृदय ही काव्य का सच्चा पारखी हो सकता है।

लांजाइनस के पश्चात् पश्चिम में अन्धकार-युग प्रारम्भ हो जाता है। साहित्य और कला के क्षेत्र में इस युग में प्रगति एवं विकास नगण्य रहा। पुनर्जागरण-काल तक ईसाई धर्म के अत्यधिक प्रभाव और उसकी अत्यधिक निवृत्तिमूलक चिन्ताधारा ने साहित्य और काव्य के विकास को अवरुद्ध कर दिया। अधिमानसशास्त्रीय विवेचन में सौन्दर्यपरक एवं कलात्मक मूल्यों की सहज उपेक्षा हो गई। धार्मिक विश्वास ने कला, काव्य, आनन्द, सौन्दर्य, सम्यता, संस्कृति—सभी को प्रवृत्तिमार्गी कह कर जीवन से असम्बद्ध और त्याज्य प्रतिपादित किया। प्रतिभा और कल्पना का स्थान ज्ञान ने ले लिया। स्वभावतः ही इस प्रकार के वातावरण में किसी भी प्रकार के उदात्त कला-काव्य का सृजन सम्भव नहीं था।

1. Literature, when it reaches the peak in the domain of creative art—it can transport and lift us out of ourselves by a power, which confounds the judgment, eclipses mere reason and illumines a subject with the vividness of lightning.

पुनरुत्थान-युग के बीज दान्ते की 'डिवाइन कामेडी' में मिलते हैं। दान्ते ने धार्मिक बन्धनों को तोड़ कर प्रेम और सौन्दर्य के क्षेत्र में पदार्पण किया, जो अभी तक धार्मिक प्रभाव के कारण उपेक्षित-सा था। दान्ते की डिवाइन कामेडी लोक-भाषा और लोक-जीवन का सबल प्रतिनिधित्व करती है। दान्ते काव्य को केवल स्वतःस्फूर्त नहीं मानता था। काव्य-सृजन उसके लिए एक परिश्रम-पूर्ण कार्य था। उत्तम काव्य के लिए उसने उत्तम भाषा के चयन पर बल दिया और कहा कि उत्तम विषय है प्रेम। प्राचीन काल से चली आती काव्य-परम्परा में दान्ते ने जन-जीवन का संचार किया एवं उसके लिए स्वस्थ वातावरण का निर्माण किया।

दान्ते ने जिस मार्ग को प्रशस्त किया, उसी पर सिडनी ने चलना प्रारम्भ किया। अन्धकार-युग से ही काव्य सम्य सम्राज में उपेक्षित था। ऐसी परिस्थिति में सिडनी ने अपनी पुस्तक 'एन एपोलॉजी फॉर पोइट्री' लिख कर स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया कि काव्य वस्तुतः हेय नहीं। उन्होंने काव्य को ज्ञान की जननी माना। सिडनी ने काव्य को ज्ञान और सम्यता का मूलाधार माना। बाइबिल की ऋचाओं को सिडनी ने काव्य की श्रेणी में रखा और कहा कि संगीत-प्रधान काव्य मनुष्यों को ही नहीं, अपितु पशु-पक्षियों को भी प्रभावित करता है। वस्तुतः इस विवेचन द्वारा सिडनी ने न केवल धार्मिक विचारों की आलोचना प्रस्तुत की, प्रत्युत प्लेटो के आक्षेपों का उत्तर भी दिया। काव्य के अंगों और उद्देश्यों की चर्चा करते हुए उसने कहा कि काव्य शिक्षा प्रदान करता है, उसका ध्येय नैतिक है, और वह वास्तविक धर्म का आख्यान करता है। सिडनी ने अपने युग में फैली हुई साहित्यिक कुप्रवृत्तियों के दमन और अरस्तू के प्राचीन सिद्धान्तों को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया।

१६ वीं एवं १७ वीं शताब्दी में शेक्सपीयर, इन प्रभृति साहित्यिकों द्वारा काव्य एवं नाटकों में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को प्रश्रय मिल रहा था। प्राचीन रूढ़ियों एवं परम्पराओं के प्रति उनमें आस्था न रह गई थी। इसी समय जबकि स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ रहा था, बेन जॉनसन ने साहित्यिक प्रवृत्ति को नव्य शास्त्रवाद की ओर उन्मुख किया। बेन जॉनसन ने प्रतिभा के महत्त्व को तो स्वीकार किया और स्पष्ट शब्दों में कहा कि प्रतिभा के अतिरेक से उतनी हानि नहीं होती जितनी कि उसके अभाव से होती है। प्रतिभा की कमी काव्य को निर्जीव एवं अशक्त बना देती है, ऐसा भी बेन जॉनसन का मत था। उसने यह भी कहा कि जिस प्रकार नैतिक मान हुआ करते हैं, उसी प्रकार

कला के मान भी हुआ करते हैं। उसने यह भी स्वीकार किया कि कवि स्रष्टा हुआ करता है और काव्यालोचन का सच्चा अधिकारी भी वही, कवि ही, है।

स्वच्छन्दतावाद का प्रकृत प्रभाव तो यह हुआ हुआ कि प्रकृति की ओर साहित्यिक आकृष्ट होने लगे। इसी समय फ्रांस में इस प्रवृत्ति को नियन्त्रित करने का प्रयास रूढ़िवादी समीक्षकों द्वारा किया गया। यद्यपि क्लासिकल युग में भी प्रकृति-चित्रण हुआ था, परन्तु वह सहज न होकर रीतिबद्ध प्रकृति-चित्रण था।

नव्य शास्त्रवाद का प्रभाव सबसे अधिक ड्राइडन पर पड़ा। ड्राइडन ने ग्रीक और अंग्रेजी नाट्य-साहित्य का अनुशीलन कर तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया। अरस्तू और प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त अभी तक सर्वमान्य एवं सर्वयुगीन माने जाते थे। ड्राइडन ने उनकी मान्यताओं का सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों के आधार पर पुनर्मूल्यांकन किया। ड्राइडन का सापेक्षता-सिद्धान्त सर्वथा उचित ही था। साहित्य को उसने विकासशील एवं प्रवहमान माना। ड्राइडन ने यह भी कहा कि यद्यपि साहित्य का लक्ष्य 'शिक्षा' एवं 'मनोरंजन' ही होता है, परन्तु साहित्य का मूल उद्देश्य है आह्लाद। इसी माध्यम से वह शिक्षा दिया करता है। उससे पूर्व अनुकृति का महत्त्व अधिक था। उसने कल्पना-तत्त्व के महत्त्व का प्रतिपादन किया। ड्राइडन की समीक्षण-पद्धति में नवीनता एवं प्राचीनता का समानुपात था।

लॉक, बर्क और एडीसन ने काव्य-विवेचन को रूढ़िवादी धाराओं से निकाल कर एक नवीन दिशा की ओर प्रवाहित किया। एडीसन ने कल्पना-तत्त्व का विश्लेषण प्रस्तुत किया। इसके पूर्व एडमंड बर्क ने मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक आधारों पर कल्पना का विवेचन किया था। एडीसन ने बताया कि कल्पना इन्द्रिय-गोचर सुखात्मक संवेदना है, तथा उसने कल्पना के तीन स्वरूपों का विवेचन भी किया। परन्तु इतना सब होने पर भी एडीसन का कल्पना-सम्बन्धी विवेचन यांत्रिक था। कल्पना के उत्स पर उसने विचार नहीं किया। फिर भी यह निश्चित है कि स्वच्छन्दतावादी युग में कल्पना का जो विवेचन किया गया, उसे एडीसन के विवेचन से बड़ी सहायता मिली।

यहाँ तक आते-आते आभिजात्यवाद और स्वच्छन्दतावाद का विभेद पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो चुका था। आभिजात्यवादी विचारों को, कार्नेल, पोप, एडीसन और डा० जॉनसन का सहयोग प्राप्त था, नवीन विचारों के उद्भावकों में लेसिंग, गेटे, कॉलरिज और वर्ड्सवर्थ थे। उस समय रूसो के विचारों का समाज पर क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ रहा था और उनसे साहित्य भी अप्रभावित नहीं था।

जर्मनी में स्वतन्त्र विचारों के पुरस्कर्ताओं का प्रभाव भी स्वच्छन्दतावादी विचारों पर पड़ा। लेसिंग ने कला की अभिव्यंजना पर अपने विचार व्यक्त किये। लेसिंग ने कहा कि कला केवल अभिव्यंजना नहीं है, वरन् प्रेषणीय अभिव्यंजना है। उसका मत था कि मूर्ति-कला और काव्य-कला में प्रेषणीयता का तत्त्व भिन्न-भिन्न रूपों में गृहीत होता है। मूर्ति-कला में प्रेषणीयता के लिए—साधारणीकृत अनुभूति के लिए—मूर्ति का बाह्य सौन्दर्य आवश्यक है। लेसिंग ने अभिव्यंजना को काव्य का लक्ष्य स्वीकार किया।

स्वच्छन्दतावादी युग में अभिव्यक्ति को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया मानसिक क्रिया में ही कला की सत्ता की खोज की गई। भावना और कल्पना-तत्त्व का उत्कर्ष हुआ। सारा काव्य-व्यापार मनोभव व्यापार के रूप में स्वीकार कर लिया गया। सामाजिक परिस्थितियों और समाज-मानस का साहित्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया। ब्लेक स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा का कवि था जो काव्य को अलौकिक प्रेरणा-जन्य व्यापार मानता था। उसके मत से प्रातिभ ज्ञान अलौकिक ज्ञान है और काव्य में प्रातिभ ज्ञान की ही सत्ता रहती है। ब्लेक रहस्यवाद पर भी आस्था रखता था। उसकी रहस्यानुभूति ही कल्पना का पर्याय बन गई और इस प्रकार ब्लेक की कुछ स्थापनाएँ कहीं-कहीं साहित्य के बाहर भी भटकने लगी।

तभी वर्डस्वर्थ ने काव्य के क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तन किया। काव्य, वर्डस्वर्थ के लिए भाव-प्रवणता की सृष्टि था। कवि भाव-प्रवण व्यक्ति है। वह काव्य-विषय एवं भाषा-चयन में ग्राम्य चरित्रों की ओर आकृष्ट हो गया था, क्योंकि अभिजात्यवादी युग में इन चरित्रों के प्राकृतिक सौन्दर्य को विकृत किया गया था या उपेक्षित। काव्य की भाषा के सम्बन्ध में भी वह बोलचाल की भाषा और काव्य-भाषा में साम्य का पक्षपाती था और अलंकारों का प्रयोग वह काव्य के लिए आवश्यक नहीं समझता था।

शेले का कवि-हृदय कल्पना-शक्ति के आरोह-अवरोह द्वारा नियन्त्रित था। आयास-रहित प्रकृत काव्य-रचना के महत्त्व का प्रतिपादन उसने बलपूर्वक किया। शेले के काव्य का दर्शन और चिन्तन-पक्ष काफ़ी सवल था। शेले का मत था कि मन में आन्दोलित होने वाले चित्रों का बाह्य अंकन उतने वेग से नहीं हो सकता जितने वेग से वे मन में उठा करते हैं; क्योंकि भाषा भावों की सूक्ष्मता को वहन करने में समर्थ नहीं है। शेले ने प्रतिभा और कल्पना पर इतना जोर दिया कि काव्य के अन्य पक्षों की साधारणतः उपेक्षा-सी हो गई।

कॉलरिज ने काव्य में अकृत्रिमता, अनुभूति की सूच्चाई, अभिव्यंजना की

सरलता के महत्त्व का प्रतिपादन किया। काव्य-रचना-प्रक्रिया में उसने हृदय एवं मस्तिष्क दोनों का समान सहयोग स्वीकार किया। कोरी बौद्धिकता का उसने तिरस्कार किया। कॉलरिज कल्पना की मौलिकता पर विश्वास करता था। मानस के व्यष्टि और समष्टि-रूप पर कॉलरिज ने सुन्दर प्रकाश डाला। उसके अनुसार कवि की कल्पना में विषय-विषयी या मन-प्रकृति की एकान्विति हो जाती है। कल्पना को प्रधान और गौण रूपों में विभक्त कर उसने यह निर्णय दिया कि काव्य-सृजन में प्रधान नहीं, गौण कल्पना का सहयोग रहता है। कॉलरिज की कल्पना लोकोत्तर निर्माण-शक्ति की पर्याय है। कविता में उसके लिए प्रधान तत्त्व था सौन्दर्य। काव्य-रस सौन्दर्य पर आश्रित है, सौन्दर्य रस पर नहीं। कॉलरिज ने आनन्द को सौन्दर्य का अनुवर्ती माना।

स्वच्छन्दतावादी युग में जहाँ कवि-आलोचक काव्य की आत्मा का विश्लेषण कर रहे थे, वहीं दार्शनिक आलोचक व्यष्टि और समष्टि के पारस्परिक सम्बन्धों के उद्घाटन में लगे हुए थे। व्यक्ति को महत्त्व प्रदान कर, समाज को विश्व की इकाई के रूप में प्रतिपादित किया जा रहा था। व्यष्टिवाद और समष्टिवाद में सैद्धान्तिक विभेद है। व्यष्टिवादी दर्शन इन्द्रिय-संवेदन को प्रमुख आधार मानते हैं, समष्टिवादी दर्शन बुद्धि पर आधारित होते हैं। कांट ने इन विरोधों का शमन करने का प्रयास किया। कांट ने कहा कि काव्य एवं कला की गुणात्मक विशेषता यह है कि उसके द्वारा अनुकूल वेदना की अनुभूति होती है। कांट ने यह भी कहा कि कला एक ऐसी सार्वजनिक वस्तु है जो न तर्क पर आश्रित है और न वस्तुमूलक ही है। वस्तुतः वह रूपात्मक है। कला के सौन्दर्य को कांट ने सोद्देश्य प्रतिपादित किया। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने उचित ही कहा है कि आधुनिक युग में कला-सम्बन्धी चिन्तन का प्रथम महामनीषी कांट था, जिसने पूर्व-युगों के चिन्तन को बहुत आगे बढ़ाया। इसीलिए वह आधुनिक तत्त्व-विचारण का जनक माना जाता है।^१

आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सम्पृक्तता ही है। समाज, राजनीति, दर्शन, साहित्य तथा जीवन के समस्त क्षेत्रों में इस प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। जीवन-दर्शन एवं वैचारिक द्वन्द्वों में अनेकरूपता के कारण अनेक साहित्यिकवादों का प्रवर्तन हुआ।

हीगल ने पदार्थ-विज्ञान के आधार पर द्वन्द्व के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया था। मार्क्स ने हीगल की दार्शनिक निष्पत्तियों का भरपूर लाभ उठाया

और हीगल के दर्शन की पृष्ठभूमि पर ही अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की स्थापना की। इन काव्य-समीक्षकों का दृष्टिकोण आदर्शवादी ही रहा। यही कारण है कि हीगल, मार्क्स और क्रोचे आदर्शवादी समीक्षा-पद्धति के पुरस्कर्ता कहे जाते हैं। लेसिंग ने सौन्दर्य के साथ कला को अभिव्यंजना की वस्तु भी स्वीकार किया था, क्रोचे ने उसे विशुद्ध अभिव्यंजना की वस्तु प्रतिपादित किया। वास्तव में यदि ध्यान से देखा जाये तो पश्चिम का सौन्दर्य-चिन्तन बहिर्मुख से अन्तर्मुख हो गया और स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ता गया।

बीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवादी सिद्धान्तों में अन्तश्चेतनावाद प्रमुख है फ्रायड्जीय मनोविज्ञान के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया कि मानस व मुख्यांश अचेतन है और अल्पांश चेतन। व्यावहारिक जीवन में मनुष्य को अनेक सामाजिक एवं सांस्कृतिक बन्धनों को मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है और उसे इन बन्धनों के कारण अपनी इच्छाओं व वासनाओं का दमन करना पड़ता है वासनाएँ दमित तो होतीं नहीं, अचेतन में जाकर अवस्थित हो जाती हैं और पुनः प्रकट होने का अवसर देखती रहती हैं। कभी-कभी उनका उदात्तीकरण भी सम्भव हो जाता है। अचेतन में पड़ी जिन वासनाओं एवं काम-इच्छाओं को तृप्त करने का अवसर मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता, उन्हें वह मनो-व्याधि, स्वप्न, दिवा स्वप्न और साहित्य के माध्यम से पूर्ण करने का प्रयास करता है। कहा जाता है कि कलाकार अपनी अचेतन पाप-ग्रन्थि से छुटकारा पाने के लिए सृष्टि करत है। अचेतन पाप-ग्रन्थि, उसके प्रकाशन का प्रयास एवं समान भावभूमि पर उसके विनियोग—यही फ्रायड् के कला-सिद्धान्त का आधार है।

एडलर ने प्रतिपादित किया कि हीन भावनाएँ व्यक्ति में सत्ताकांक्षा एवं महत्वाकांक्षा की प्रेरणा उत्पन्न करती हैं। उसके मत से साहित्य एवं कला हीन-भाव की क्षतिपूर्ति के साधन हैं। मनोविज्ञान, शिक्षा, साहित्य—इनका एकमात्र लक्ष्य है : मिथ्या अहङ्कार का दमन कर विश्व-बन्धुत्व की भावना को सशक्त एवं व्यापक बनाने का प्रयास। इन्हीं अर्थों में साहित्य महत्त्वपूर्ण माना गया है।

युंग के मत से कला एवं काव्य के निर्माता का व्यक्तित्व द्वित्व प्रवृत्तियों का समूह है। दो परस्पर-विरोधी स्वार्थों के द्वन्द्व में कलाकार विकल रहता है। कलाकृति के निर्माण-काल में वह जीवन की वस्तु-स्थिति की उपेक्षा करता है। यद्यपि यह दुःखदायी होती है परन्तु यह दुःख उसे सह्य होता है। युंग कला का उत्स सामूहिक अचेतन में स्वीकार करता है।

अतियथार्थवाद फ्रायड् के अनुसंधानों पर आश्रित एक विद्रोही साहित्यिक आन्दोलन है। इसके प्रवर्तकों में आंद्रे ब्रिता, पाल अलुअर्ड थे। इन्होंने साहित्य

को अचेतन में अवस्थित अतीन्द्रिय यथार्थ की अभिव्यक्ति का साधन स्वीकार किया। सैद्धान्तिक रूप से अतियथार्थवादी कृति का सम्बन्ध प्रमुख रूप से स्वप्नों तथा व्यक्ति की अर्द्धजागृत अवस्थाओं से है। अतियथार्थवाद कला को अत्यधिक बौद्धिक मानने का विरोध करता है। वास्तव में उसे तो जीवन का एकान्त काल्पनिक पक्ष ही प्रिय है। अतियथार्थवाद के मूल सिद्धान्त प्रचलित नैतिक मान्यताओं के एकदम विरुद्ध हैं, कला-विधान के क्षेत्र में भी वे विद्रोही सिद्ध हुए हैं। इसका प्रभाव हिन्दी में प्रयोगवादी कविता को छोड़कर किसी अन्य पर नहीं पड़ा।

उपयोगितावाद का प्रचार टॉल्स्टाय ने लोकमांगलिक भावना से प्रेरित होकर किया। किसी काल-विशेष के सामाजिक एवं उपयोगिता-सम्बन्धी प्रतिमानों में परिवर्तन आ जाने पर भी उपयोगितावादी सिद्धान्त का मूल सुरक्षित रहता है। उपयोगितावादी विचार के अनुसार व्यक्तिवादिता की परिणति होती है समाजोन्मुख विचारधारा में। यह कोई नवीन मतवाद नहीं माना जा सकता। भारतीय काव्य-मतों में उपयोगितावाद का स्वरूप सुरक्षित है। उपयोगितावादी विचारधारा के अनुसार कला आत्मा का उत्कर्ष कर मानव-सम्बन्धों का परिष्कार भी करती है। कला और साहित्य की मूल समस्या को इस प्रकार उठाने के पश्चात् ही टॉल्स्टाय ने आदर्श एवं मानवतावादी दृष्टिकोण बनाया। उन्होंने कला और विज्ञान के सम्बन्धों को परस्पर अनुस्यूत रूप में प्रतिपादित किया।

मानसिक धरातल पर उपयोगितावाद का विवेचन मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद कहा जाता है जिसके प्रतिपादक हैं आई० ए० रिचर्ड्स। उन्होंने कहा कि साहित्य एक उपयोगी वस्तु है, उसकी उपयोगिता का मूल्यांकन मनोवैज्ञानिक धरातल पर ही किया जा सकता है। साहित्य को रिचर्ड्स ने सार्वजनिक वस्तु के रूप में स्वीकार किया। प्रेषणीयता को उन्होंने काव्य का एक अचेतन तत्त्व माना। रिचर्ड्स ने प्रवृत्ति-निवृत्ति, (अनुरक्ति और विरक्ति) के आधार पर मूल्य की मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि जिसे प्राप्त करने की इच्छा हममें जागृत होती है, अर्थात् जहाँ प्रवृत्ति या अनुरक्ति है वही वस्तु मूल्यवान् है। रिचर्ड्स ने यह भी कहा है कि सभी प्रवृत्तियों का पोषण सम्भव नहीं, इसलिए कोई भी ऐसी वस्तु मूल्यवान् हो सकती है जो सम या अधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों को कुंठित किये बिना ही किसी प्रवृत्ति को तुष्ट करने में समर्थ हो। रिचर्ड्स ने अत्यधिक नैतिक, अत्यधिक नियमहीन इच्छाओं को साहित्य से बहिष्कृत किया तथा सामान्य जीवन की सामान्य इच्छाओं के आकलन को ही साहित्य-मूल्य का साधन माना।

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वास्तव में सृष्टि और समाज का समन्वित दर्शन है। इसके अन्तर्गत मनुष्य के समूचे अतीत को एक व्यवस्थित अर्थ-सूत्र में

और हीगल के दर्शन की पृष्ठभूमि पर ही अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की स्थापना की। इन काव्य-समीक्षकों का दृष्टिकोण आदर्शवादी ही रहा। यही कारण है कि हीगल, मार्क्स और क्रोचे आदर्शवादी समीक्षा-पद्धति के पुरस्कर्ता कहे जाते हैं। लेसिंग ने सौन्दर्य के साथ कला को अभिव्यंजना की वस्तु भी स्वीकार किया था, क्रोचे ने उसे विशुद्ध अभिव्यंजना की वस्तु प्रतिपादित किया। वास्तव में यदि ध्यान से देखा जाये तो पश्चिम का सौन्दर्य-चिन्तन बहिर्मुख से अन्तर्मुख होता गया और स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ता गया।

बीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवादी सिद्धान्तों में अन्तश्चेतनावाद प्रमुख है। फ्रायडीय मनोविज्ञान के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया कि मानस का मुख्यांश अचेतन है और अल्पांश चेतन। व्यावहारिक जीवन में मनुष्य को अनेक सामाजिक एवं सांस्कृतिक बन्धनों को मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है और उसे इन बन्धनों के कारण अपनी इच्छाओं व वासनाओं का दमन करना पड़ता है। वासनाएँ दमित तो होती नहीं, अचेतन में जाकर अवस्थित हो जाती हैं और पुनः प्रकट होने का अवसर देखती रहती हैं। कभी-कभी उनका उदात्तीकरण भी सम्भव हो जाता है। अचेतन में पड़ी जिन वासनाओं एवं काम-इच्छाओं को तृप्त करने का अवसर मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता, उन्हें वह मनो-व्याधि, स्वप्न, दिवा-स्वप्न और साहित्य के माध्यम से पूर्ण करने का प्रयास करता है। कहा जाता है कि कलाकार अपनी अचेतन पाप-ग्रन्थि से छुटकारा पाने के लिए सृष्टि करता है। अचेतन पाप-ग्रन्थि, उसके प्रकाशन का प्रयास एवं समान भावभूमि पर उसका विनियोग—यही फ्रायड के कला-सिद्धान्त का आधार है।

एडलर ने प्रतिपादित किया कि हीन भावनाएँ व्यक्ति में सत्ताकांक्षा एवं महत्वाकांक्षा की प्रेरणा उत्पन्न करती हैं। उसके मत से साहित्य एवं कला हीन-भाव की क्षतिपूर्ति के साधन हैं। मनोविज्ञान, शिक्षा, साहित्य—इनका एकमात्र लक्ष्य है : मिथ्या अहङ्कार का दमन कर विश्व-बन्धुत्व की भावना को सशक्त एवं व्यापक बनाने का प्रयास। इन्हीं अर्थों में साहित्य महत्त्वपूर्ण माना गया है।

युंग के मत से कला एवं काव्य के निर्माता का व्यक्तित्व द्वित्व प्रवृत्तियों का समूह है। दो परस्पर-विरोधी स्वार्थों के द्वन्द्व में कलाकार विकल रहता है। कलाकृति के निर्माण-काल में वह जीवन की वस्तु-स्थिति की उपेक्षा करता है। यद्यपि यह दुःखदायी होती है परन्तु यह दुःख उसे सह्य होता है। युंग कला का उत्स सामूहिक अचेतन में स्वीकार करता है।

अतियथार्थवाद फ्रायड के अनुसंधानों पर आश्रित एक विद्रोही साहित्यिक आन्दोलन है। इसके प्रवर्तकों में आंद्रे ब्रिता, पाल अलुअर्ड थे। इन्होंने साहित्य

को अचेतन में अवस्थित अतीन्द्रिय यथार्थ की अभिव्यक्ति का साधन स्वीकार किया। सैद्धान्तिक रूप से अतियथार्थवादी कृति का सम्बन्ध प्रमुख रूप से स्वप्नों तथा व्यक्ति की अर्द्धजागृत अवस्थाओं से है। अतियथार्थवाद कला को अत्यधिक बौद्धिक मानने का विरोध करता है। वास्तव में उसे तो जीवन का एकान्त काल्पनिक पक्ष ही प्रिय है। अतियथार्थवाद के मूल सिद्धान्त प्रचलित नैतिक मान्यताओं के एकदम विरुद्ध हैं, कला-विधान के क्षेत्र में भी वे विद्रोही सिद्ध हुए हैं। इसका प्रभाव हिन्दी में प्रयोगवादी कविता को छोड़कर किसी अन्य पर नहीं पड़ा।

उपयोगितावाद का प्रचार टॉल्स्टाय ने लोकमांगलिक भावना से प्रेरित होकर किया। किसी काल-विशेष के सामाजिक एवं उपयोगिता-सम्बन्धी प्रतिमानों में परिवर्तन आ जाने पर भी उपयोगितावादी सिद्धान्त का मूल सुरक्षित रहता है। उपयोगितावादी विचार के अनुसार व्यक्तिवादिता की परिणति होती है समाजोन्मुख विचारधारा में। यह कोई नवीन मतवाद नहीं माना जा सकता। भारतीय काव्य-मतों में उपयोगितावाद का स्वरूप सुरक्षित है। उपयोगितावादी विचारधारा के अनुसार कला आत्मा का उत्कर्ष कर मानव-सम्बन्धों का परिष्कार भी करती है। कला और साहित्य की मूल समस्या को इस प्रकार उठाने के पश्चात् ही टॉल्स्टाय ने आदर्श एवं मानवतावादी दृष्टिकोण बनाया। उन्होंने कला और विज्ञान के सम्बन्धों को परस्पर अनुस्यूत रूप में प्रतिपादित किया।

मानसिक धरातल पर उपयोगितावाद का विवेचन मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद कहा जाता है जिसके प्रतिपादक हैं आर्इ० ए० रिचर्ड्स। उन्होंने कहा कि साहित्य एक उपयोगी वस्तु है, उसकी उपयोगिता का मूल्यांकन मनोवैज्ञानिक धरातल पर ही किया जा सकता है। साहित्य को रिचर्ड्स ने सार्वजनिक वस्तु के रूप में स्वीकार किया। प्रेषणीयता को उन्होंने काव्य का एक अचेतन तत्त्व माना। रिचर्ड्स ने प्रवृत्ति-निवृत्ति, (अनुरक्ति और विरक्ति) के आधार पर मूल्य की मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि जिसे प्राप्त करने की इच्छा हममें जागृत होती है, अर्थात् जहाँ प्रवृत्ति या अनुरक्ति है वही वस्तु मूल्यवान् है। रिचर्ड्स ने यह भी कहा है कि सभी प्रवृत्तियों का पोषण सम्भव नहीं, इसलिए कोई भी ऐसी वस्तु मूल्यवान् हो सकती है जो सम या अधिक महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों को कुंठित किये बिना ही किसी प्रवृत्ति को तुष्ट करने में समर्थ हो। रिचर्ड्स ने अत्यधिक नैतिक, अत्यधिक नियमहीन इच्छाओं को साहित्य से बहिष्कृत किया तथा सामान्य जीवन की सामान्य इच्छाओं के आकलन को ही साहित्य-मूल्य का साधन माना।

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वास्तव में सृष्टि और समाज का समन्वित दर्शन है। इसके अन्तर्गत मनुष्य के समूचे अतीत को एक व्यवस्थित अर्थ-सूत्र में

बाँध दिया जाता है। वह वर्ग-संघर्ष को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करता है और इसे ही उन्नति का प्रमुख अवलम्ब मानता है। मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था शोषण पर आधारित है। यह शोषण सर्वहारा का है। मार्क्सवाद पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त कर शोषितों की सत्ता की स्थापना का प्रयास करता है। आधुनिक साहित्य पर मार्क्स के विचारों का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की नवीन परिणति है 'नई आलोचना', जिसकी विकास-भूमि है अमरीका। यह आलोचना आज नाना प्रकार के सिद्धान्त-जाल में उलझी हुई कला की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील है।

(ग) आलोचना : स्वरूप और प्रकार

१

आलोचना और सृजनात्मक साहित्य

आलोचना के मान में काव्य के मान के अनुरूप ही परिवर्तन होता है। काव्य-समीक्षा का एक युग वह था जब दर्शन और नीति को आधार मान, कवि और उसकी कृति की आलोचना की जाती थी। काव्य से प्रभावित होने की कला से अवगत होने के पश्चात् ही उस कला के औचित्य के प्रश्न ने आलोचकों में मानसिक द्वन्द्व के वातावरण का निर्माण किया। वास्तव में तथ्य और कल्पना का प्रतिद्वन्द्व किसी न किसी रूप में प्रत्येक युग और प्रत्येक देश की चिन्ताधारा में उपस्थित होता आया है। डा० विमलकुमार जैन ने कहा है—“मानव-मन निसर्गतः एक-सा है जो सदा आत्मा के मूल की खोज में प्रकट या अप्रकट रूप से विकल रहता है।” कला और साहित्य के क्षेत्र में मानव-मन की यह विकलता समीक्षात्मक रूप में प्रकट होती है। कला और साहित्य में अभिव्यंजित सत्य के उद्घाटन का प्रयास ही आलोचना का आदि स्रोत माना जा सकता है। काव्य के विभिन्न अंगों के विवेचन से सम्बन्धित काव्य-शास्त्र अपने किसी न किसी रूप में प्रत्येक साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध देश में प्राप्त होता ही रहा है। यद्यपि प्लेटो-पूर्व युग में काव्य-शास्त्र का कोई स्वतन्त्र ग्रंथ तो उपलब्ध नहीं होता, फिर भी काव्य तथा दर्शन के ग्रन्थों में इस बात के स्पष्ट संकेत निश्चय ही मिल जाते हैं कि उस युग में काव्य-शास्त्र का अस्तित्व अवश्य था।

प्लेटो के युग से तो हमें काव्य-शास्त्र की एक विकसित परम्परा प्राप्त होती

है जो आने वाले युगों तक अक्षुण्ण रहें। इस परमाण में काव्य को परखने के मान कभी नैतिक, कभी नैतिक-राजनीतिक, कभी कलात्मक-साहित्यिक, कभी दार्शनिक-कलात्मक और कभी विगुद्ध सौन्दर्यपरक रहे। काफ़ी लम्बे समय तक विवेच्य विषय यह भी रहा कि काव्य को परखने का अधिकारी कौन प्रमाणित किया जाये। बेन जॉनसन ने तो कहा कि “कवि ही काव्य का निर्णायक है (To Judge of poets is only the faculty of poets),”—और यदि आप कहें तो मैं स्पष्ट कर दूँ कि कवि से बेन का आशय किसी ऐसे व्यक्ति से था, जिसमें कलात्मक सृजन की क्षमता विद्यमान हो। २०वीं शताब्दी तक आते-आते हरबर्ट रीड जैसे आलोचक यह तक कहने का दावा करने लगे:

“The truth is rather that poetry and criticism are entirely different faculties; they are established on different grounds and have a different point of view. We might even venture the observation that the excellent poet is almost always an indifferent or at any rate an amateur critic.”

उदाहरणों में दो परस्पर-विरोधी विचारों का अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। बेन जॉनसन ने आलोचक के निरपेक्ष व्यक्तित्व के महत्त्व को अस्वीकार कर दिया; परन्तु रीड ने कवि एवं आलोचक दोनों को भाव-भूमि, विचार-तत्त्व और चिन्तन के आधारों पर, पृथक् स्थान प्रदान किया। वास्तव में सत्य का अंश दोनों के अभिमतों में रहने पर भी उन्हें अतिवादी विचारों ने आक्रान्त कर निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र मत-व्यंजना और मत-स्थापन से वंचित कर दिया। कवि काव्य में जो कलात्मक निर्माण करता है, समीक्षक उसका पुनर्निर्माण करता है।

हम मानकर चलते हैं कि वास्तु-कला का तात्त्विक आलोचक कोई वास्तु-कला-विशेषज्ञ ही होगा, रासायनिक-प्रक्रिया का विश्लेषण प्रस्तुत करने में समर्थ कोई रसायन-शास्त्र-वेत्ता ही होगा। ठीक इसी प्रकार उद्यान के कलात्मक क्रम का समीक्षक कोई माली ही होगा; परन्तु क्या इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि काव्य का सच्चा समालोचक कवि ही होगा? आलोचना का अधिकारी किसे निरूपित किया जाये, इस विषय पर प्रत्येक युग के चिन्तकों में विमर्श होते रहे, और उन्होंने युगानुरूप हल भी प्रस्तुत किये।

। ड्राइडन, गेटे और आर्नल्ड ने अपने ज्ञान-वातायन समस्त देश के साहित्य की ओर उन्मुख कर दिये। कुछ समालोचक-कवियों ने केवल उन्हीं मतवादों को प्रश्रय दिया जो उनकी विचारधारा में घुल-मिलकर पूर्ण रूप से समाहित हो जाते थे। परन्तु प्रभाव उन कवि-आलोचकों का अधिक व्यापक और दीर्घकालीन रहा है जिन्होंने

स्वतन्त्र रीति से विचार-विमर्श कर अपना निरपेक्ष और स्वतन्त्र अभिमत स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने इस दिशा की ओर भी निर्देश किया कि काव्य-सृजन का प्रारम्भ कैसे हुआ, उसकी कलात्मक प्रक्रिया क्या है, और उसका अन्त क्या है। इस प्रकार काव्य-प्रक्रिया के मूल उत्स का उद्घाटन करते समय उन्होंने स्व-विश्लेषण के प्रभाव का महत्त्व अथवा काव्य के अन्तरिम विधायक अंगों पर विचार प्रस्तुत किये और कवि तथा उसके काव्य पर पड़े प्रभावों का विश्लेषण प्रस्तुत कर, कवि की मानसिक पृष्ठभूमि की विवेचना प्रस्तुत कर, कृति को बोध-गम्य बनाने में योग दिया।

साहित्य अपने-आप में न केवल सृजनकर्ता को, बल्कि उसकी सृष्टि के उप-भोक्ता को भी, सम्मिलित कर लेता है। साहित्य अथवा काव्य की वह समीक्षा अपने-आप में पूर्ण रहते हुए भी अपूर्ण ही रहेगी जो साहित्य के इन दो उपकूलों (कर्ता-भोक्ता) में से किसी एक की उपेक्षा करती है। कवि के सम्मुख उसका अपना जगत् रहता है। उसके अच्छे और बुरे अनुभव रहते हैं, उसका एकदेशीय अथवा अन्तर्देशीय अर्जित ज्ञान रहता है; कवि की अपनी चिन्तन-शैली और अपनी निरपेक्ष विचारधारा होती है जो दूसरों से साम्य अथवा वैषम्य रखते हुए भी कलात्मक मूल्य में महत्त्वपूर्ण रहती है; इन सबके अतिरिक्त उसके व्यक्तित्व में कुछ सांस्कृतिक और कुछ सभ्यतापरक विशेषताएँ भी होती हैं, जिनका स्रष्टा और द्रष्टा वह स्वयं होता है। इन प्रारूपों का प्रभाव कवि द्वारा निर्मित कृति में निहित रहता है। कवि का व्यक्तित्व चूँकि अनेक विशेषताओं और विषमताओं से सम्पृक्त रहता है, अतः कृति भी इनको नहीं छोड़ सकती। कवि निर्माण-कार्य जीवन से प्रारम्भ करता है। जीवन के विभिन्न प्रभावों को वह विछिन्न रूप में छोड़ नहीं देता, बल्कि उनमें एकरूपता स्थापित कर उनके आन्तरिक सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। इन सबको शब्द-अर्थ में इस प्रकार अन्तर्हित कर देता है कि वे काव्य का प्रारूप धारण कर सकें, यही कवि के लिए अभीष्ट भी है। यही काव्य-निर्माण, काव्य-सृजन, कविता करने की प्रक्रिया का एक मोटा-सा विश्लेषण है।

कवि जहाँ अपने काव्य की प्रक्रिया का अन्त कर देता है—जीवनगत प्रभावों को शब्द-अर्थ का रूप दे देता है—वहाँ से ही आलोचक या कार्य प्रारम्भ होता है। आलोचक के सर्वप्रथम आलोच्य शब्द-अर्थ ही होते हैं। और यहाँ से चलना प्रारम्भ कर, जीवन के विभिन्न प्रभावों के उत्स पर आकर आलोचक रुक जाता है। आलोचक के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन को, जगत् को, उसके सम्बन्ध को और उस सम्बन्ध के महत्त्व को समझ सके—अन्यथा आलोचक का कार्य प्रभावहीन ही रहेगा।

आलोचक शब्द-अर्थ से ही समीक्षा प्रारम्भ करता है और उसके कलात्मक सौष्ठव का उद्घाटन करता है। वास्तव में यदि देखा जाये तो शब्द-अर्थ कवि के अभीष्ट भाव-विचार का सच्चा प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ रहते हैं। वे तो उस भाव और विचार की ओर एक अस्पष्ट-सा संकेत-मात्र करते हैं। इस संकेत को स्पष्ट कर पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करना आलोचक का कार्य है।

शब्द-अर्थ-विवेचन के पश्चात् आलोचक उन प्रयत्नों के एवं प्रभावों के अन्वेषण का प्रयत्न करता है जिनकी ओर संकेत भाषा में प्राप्त हुए हैं। प्रभावों की हल्की-सी तस्वीर के सहारे वह कवि में जीवन और वास्तविक जगत् के सम्बन्ध और उसके औचित्य के अन्वेषण का प्रयत्न करता है। इसके पश्चात् सम्पूर्ण कवि-जीवन को लेकर वह काव्य में वर्णित जीवन को सहृदयता के साथ परखता है। तब कहीं जाकर वह सम्पूर्ण काव्य के कलागत मूल्य के उद्घाटन में समर्थ हो सकता है। इस विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि आलोचक के व्यक्तित्व में असाधारण प्रतिभा, विश्लेषणात्मक बुद्धि, कलात्मक परिज्ञान, निरपेक्ष स्वतंत्र चिन्तन-शैली और सृजनात्मक विचारणा शक्ति अपेक्षित है और मेरे मत में इन्हीं से सम्पृक्त व्यक्तित्व-युक्त आलोचक काव्यगत मूल्य के उद्घाटन में सफल हो सकता है। ये ही शास्त्रीय आलोचना के मूलाधार हैं। देखना यह है कि नगेन्द्र की आलोचना में इनका सहयोग अथवा अभाव कहाँ तक पाया जाता है।

भारतीय काव्य-शास्त्र का विश्लेषण प्रस्तुत करते समय ही नगेन्द्र ने सबसे पहले आलोचक के महत्त्व और आलोचना-शक्ति के महत्त्व पर प्रकाश डाला। आगे चलकर तो 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन', 'विचार और विश्लेषण' अथवा 'आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' में आलोचना-शक्ति को आधार मानकर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्रारम्भ में तो हमारे यहाँ काव्य-शास्त्र में प्रचलित कारिका-वृत्ति-शैली के स्थान पर दर्शन की सूत्र-शैली का ही प्राधान्य बना रहा। वास्तव में आलोचक की स्थापनाएँ और निष्पत्तियाँ तर्क-संगत होनी चाहिए—भेद-प्रभेद एवं वर्ग-विभाजन में असंगति और भ्रान्त धारणाओं की पुष्टि न हो। आलोचक की तर्क-सम्बन्धी भ्रान्ति क्षम्य हो सकती है, परन्तु अपनी स्थापनाओं और मन्तव्यों के विषय में सैद्धान्तिक रूप से कोई भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। अतः आलोचक की दृष्टि इतनी सूक्ष्म होनी चाहिए कि वह सूक्ष्मताओं को पकड़ सके। सम्भव है कि सिद्धान्त-रूप में आलोचक के किसी मत से हमारी असहमति हो; परन्तु आलोचक का मत इतना तर्क-पुष्ट एवं व्यावहारिक होना चाहिए कि हमारे ऊपर आलोचक की बात का प्रभाव पड़ सके, और उसकी बात से हमारी सैद्धान्तिक असहमति रहते हुए भी हम यह सोचने के लिए बाध्य हो जायें कि शायद

वह ठीक ही कह रहा हो। पाठक में इस प्रकार की धारणा को अंकुरित करने के लिए आलोचक केवल तर्क का आधार लेकर सफल नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में तो उसे चाहिए कि वह आत्म-विश्वास के साथ स्वयं प्रतिवाद की कल्पना करते हुए उसके निराकरण का प्रयास करे। आलोचक की शैली सीधी और स्वच्छ होनी चाहिए, उसमें घुमाव और उलझन न हो, तथा साथ ही अपने प्रतिपाद्य विषय पर सीधा आघात करने की सामर्थ्य हो।

दिनकर ने कहा है कि “कवि एक ही युग में जीता हुआ अपने अन्य समकालीन बन्धुओं की अपेक्षा कुछ अधिक जीवित और चैतन्य होता है। इसीलिए उसे कुछ ऐसी बातें भी सुनायी दे जाती हैं, जिन बातों तक औसत मनुष्य के कान नहीं पहुँच पाते। किन्तु, कवि की अनुभूति जब कविता बनकर प्रकट हो जाती है, तब उसके सहारे अन्य सहृदय लोग भी इस अनुभूति तक पहुँच सकते हैं और तब उनके मुख से अनायास यह अभिनन्दन फूट पड़ता है कि “कवि की यह बात कैसी अनूठी किन्तु कितनी सत्य है !”^१ वास्तव में, दिनकर का यह मत टेन और इलियट से प्रभावित होता हुआ भी अभिव्यक्ति में सर्वथा नूतन है। नगेन्द्र का मत भी यही है कि काव्य का मूल उद्देश्य सम्प्रेषित करना है।^२ काव्य के संवेद्य सार को काव्य से खींचकर अपनी आत्मा में भर लेना और फिर उसे अपनी आत्मा के रस में पाग कर संवेदनशील सहृदय की आत्मा में भर कर उसकी अन्तश्चेतना को स्फूर्त कर, काव्य की आत्मा से पाठक की आत्मा का सम्बन्ध स्थापित करा देना ही, नगेन्द्र के मत में, आलोचक की सबसे बड़ी सिद्धि है। वे यहाँ तक कह जाते हैं कि आलोचक के कर्तव्य-कर्म की चरम परिणति यही है। इसके आगे सत्-असत् निर्णय भी उसका कर्म माना गया है, साहित्य का असाहित्य से भेद करना आलोचक का कर्तव्य है। साहित्य की गतिविधि का नियन्त्रण तथा संचालन आलोचक का उच्चतम लक्ष्य है—यह नगेन्द्र द्वारा स्वीकार कर लिया गया है।

आलोचना-पद्धति में—चाहे वह शुद्ध वैज्ञानिक हो अथवा केवल ऐतिहासिक—तर्क, सुदूर गहराई तक पहुँचने की तीव्र आकांक्षा और दार्शनिक दृष्टि आवश्यक हैं। नगेन्द्र के आलोचना-साहित्य में हमें इन समस्त विशेषताओं का स्वस्थ समन्वय प्राप्त होता है।

आज आलोचना के विविध प्रकार भी हमें प्राप्त होने लगे हैं, जिनमें से कुछ तो पश्चिमी आलोचना की देन के रूप में प्राप्त हुए और कुछ हमारे आलोचना-साहित्य की उपलब्धियों के रूप में प्राप्त हैं, केवल उनमें युगानुरूप वैज्ञानिकता

१. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ४

२. डा० नगेन्द्र : विचार और विवेचन, पृष्ठ ११३

का समावेश कर लिया गया है। डा० भगीरथ मिश्र का अभिमत है कि आलोचना के सम्बन्ध में, उसके स्वरूप और कार्य के सम्बन्ध में, आन्त धारणाओं का बाहुल्य हो गया है। अनेक स्रोतों और अनेक माध्यमों से प्राप्त होने के कारण उसके अर्थ में किञ्चित् अर्थवत्ता और गाम्भीर्य का समावेश हो गया है, बिना उसका स्पष्टीकरण किये, आगे बढ़ जाना उचित नहीं कहा जा सकता। कभी-कभी रचनात्मक साहित्य (Creative literature) के अतिरिक्त समस्त वाङ्मय से सम्बन्धित साहित्य का समावेश भी आलोचना के अन्तर्गत कर लिया जाता है। कभी-कभी अनुसंधान (Research) और आलोचना को एक-दूसरे का पर्याय मान लिया जाता है। परन्तु दोनों में पर्याप्त अन्तर विद्यमान है। यह सही है, कभी-कभी दोनों के सीमान्त मिलते दिखायी देते हैं, परन्तु फिर भी उनके अन्तर को मिटाया नहीं जा सकता। अतः आलोचना अनुसंधान तभी हो सकती है, जब उसमें नवीन, सुन्दर, मौलिक विशेषताओं का स्पष्टीकरण, किसी मानदण्ड के आधार पर हो। इसी प्रकार कभी-कभी काव्य-सिद्धान्त, काव्य-शास्त्र और काव्य-मतों को भी आलोचना के नाम से अभिहित कर दिया जाता है। परन्तु वास्तव में काव्यशास्त्र का सिद्धान्त काव्य पर—उसकी प्रकृति, सौन्दर्य और प्रभाव के विवेचन पर—आधारित रहता है। आलोचना उन नियमों और मानदण्डों को सिद्धान्त रूप में स्वीकार करती है। काव्य के नियमों, सिद्धान्तों, वर्गीकरण, भेद-प्रभेद, मानदण्ड, प्रयोजन आदि का विश्लेषणात्मक विवेचन जिसमें प्रस्तुत किया जाये, उसे काव्यशास्त्र माना जायेगा; और जिसमें कवि की कृति की व्याख्या और मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाये, उसे आलोचना कहेंगे। परन्तु आज आलोचना अपने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होती है, जिसमें काव्यशास्त्र और कृति-व्याख्या, दोनों अर्थों का समन्वय निहित रहता है। प्रस्तुत ग्रंथ में सर्वत्र उसे इसी अर्थ में व्यवहृत किया गया है।

२

प्रभाववादी आलोचना (Impressionistic Criticism)

सृजनात्मक साहित्य का जैसा प्रभाव आलोचक के हृदय पर पड़ता है, उस प्रभाव की अभिव्यक्ति प्रभाववादी आलोचना में की जाती है। इस आलोचना का प्रारूप अपेक्षाकृत नवीन है। आई० ए० रिचर्ड्स ने अपनी पुस्तक 'प्रैक्टिकल क्रिटि-सिज़्म' में आलोचना के स्वरूप को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। रिचर्ड्स का 'मूल्य-सिद्धान्त' (Theory of Value) इसी पर आधारित है। आलोचना का यह स्वरूप पूर्णतः वैयक्तिक होता है। अपने मान, आदर्श और सिद्धान्तों का निर्माण वह स्वतः अपनी धारणाओं के आधार पर करता है।

इसमें भाव-तत्त्व और कल्पना का आधिक्य रहता है एवं विचार-तत्त्व अधिक महत्त्व नहीं प्राप्त कर पाता । यदि आलोचक में प्रतिभा का अभाव होगा तो इस प्रकार की आलोचना 'आह-आह, वाह-वाह' के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकती । वास्तव में इस प्रकार की आलोचना का स्वरूप इतना जटिल है कि उसके अनुसार कार्य करने के लिए दर्शन, मनोविज्ञान और काव्यशास्त्र तीनों का ज्ञान अपेक्षित होता है, तब जाकर इस प्रकार की आलोचना का सुष्ठु स्वरूप लक्षित हो सकता है ।

सैद्धान्तिक आलोचना (Speculative Criticism)

अंग्रेजी और संस्कृत साहित्य-समीक्षा में इस प्रकार की आलोचना काफी समृद्ध है । कतिपय पूर्व-निर्धारित सिद्धान्तों का अन्वेषण कृति के अध्ययन द्वारा प्रस्तुत किया जाता है । अतः कहा जा सकता है कि कृतियों के अध्ययन और व्याख्या द्वारा सिद्धान्तों की खोज सैद्धान्तिक आलोचना है । प्रायः समस्त काव्य-शास्त्र और काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी विवेचन इसी के अन्तर्गत रखा जाता है । 'काव्य-प्रकाश', 'ध्वन्यालोक', 'पोइटिक्स', 'एपोलोजी फॉर पोइट्री', 'ऐसे आन ड्रामेटिक पोयसी', 'एस्थेटिक्स',—ये सभी काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ हैं और उनमें साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है । वास्तव में आलोचना के अन्तर्गत तो किसी भी कृति के अध्ययन के समय सामान्य और व्यापक काव्य-सिद्धान्तों की नवीन खोज या पूर्ववर्ती सिद्धान्त का विवेचन या विकास हो सकता है; परन्तु सच मानिये, उसमें पूरे काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का निरूपण सम्भव नहीं । केवल कुछ एक सिद्धान्तों को लेकर इस प्रकार की आलोचना अपना कार्य प्रारम्भ करती है ।

निर्णयात्मक आलोचना (Judicial Criticism)

वास्तव में यह सैद्धान्तिक आलोचना का ही एक विलोम कहा जा सकता है । सिद्धान्त पुराने भी हो सकते हैं, नवीन भी हो सकते हैं । परम्परा और रूढ़ि से पुष्ट भी, और वैयक्तिक मान्यताओं पर आधारित भी । पूर्व-निर्धारित सिद्धान्त,

-
१. भग्मत
 २. आनन्दवर्धनाचार्य
 ३. अरिस्टोटल
 ४. फिलिप सिडनी
 ५. ड्राइडन
 ६. क्रोचे

जिन्हें आचार्यों ने निर्धारित कर दिया है, उन मानदण्डों के अनुसार काव्य या साहित्य की आलोचना निर्णयात्मक आलोचना कही जायेगी । संस्कृत-साहित्य में, लक्षण-ग्रन्थों तथा अन्य सम्प्रदायों के रूप में, इस प्रकार का विवेचन काफ़ी समृद्धि प्राप्त कर चुका है । रस-ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार आदि सिद्धान्तों के आधार पर की गई आलोचना इसी के अन्तर्गत आती है ।

अनुगमात्मक आलोचना (Inductive Criticism)

इस प्रकार की आलोचना में आलोचक में न तो सिद्धान्तों और आदर्शों के प्रति ही विशेष आग्रह रहता है, और न कवि पर पड़े किसी युग-विशेष के प्रभावों का ही अन्वेषण-विश्लेषण होता है । अनुगमात्मक समीक्षा में कवि और साहित्यकार एक ही वर्ग के व्यक्ति नहीं माने जाते । वैयक्तिक विशेषताओं और मानसिक विभिन्नताओं के कारण किसी एक सिद्धान्त के अनुसार कवि के मूल्यांकन का प्रयास उसके उचित मूल्यांकन का प्रयास नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार आलोचना के अन्य मानों और स्वरूपों की अनुपयोगिता का एकांगी दृष्टिकोण सत्साहित्य की सर्वमान्य और सर्वयुगीन आलोचना का आदर्श प्रस्तुत नहीं कर सकता—इस पर आस्था रख कर, आलोचक साहित्य को प्रकृति के अन्य पदार्थों की भाँति विकासशील मानता है । साहित्य को निर्जीव मान कर, पूर्व-प्रतिष्ठित निर्जीव एवं एकांगी सिद्धान्तों द्वारा साहित्य की परीक्षा नहीं करता । इसमें अति वयक्तिकता का भी अभाव रहता है । आलोचक कृति के परीक्षण में सदैव एक वैज्ञानिक अन्वेषण की भाँति नवीन सिद्धान्त के अन्वेषण में लगा रहता है । अनुगमात्मक आलोचना में कवि के साथ न्याय और उसके उचित मूल्यांकन की सम्भावना के साथ ही साथ सजीवता और रोचकता बनी रहने का भी पूर्ण अवकाश रहता है ।

तुलनात्मक आलोचना (Comparative Criticism)

विषय-साम्य अथवा प्रतिपाद्य-साम्य परिलक्षित होने पर, या उसकी सम्भावना होने पर तुलनात्मक आलोचना का स्वस्थ आधार मिल जाता है । इस प्रकार की समीक्षा-पद्धति उन स्थलों पर अधिक सफल और उपयोगी हो सकती है जहाँ आलोचक व्यक्तिगत अभिरुचियों और मान्यताओं से ऊपर उठकर केवल कलात्मक साम्य के आधार पर उनके साम्य की विशेषताओं और वैषम्य का औचित्य प्रतिपादित करने लग जाये । अधिकतर तो, इस प्रकार की आलोचना में कटुता और पाक्षिक मतवाद के प्रतिस्थापन की प्रवृत्ति रहती है ।

मनोवैज्ञानिक आलोचना (Psychological Criticism)

इस प्रकार की आलोचना का स्वरूप अपेक्षाकृत नवीन है। इसके अन्तर्गत कवि के काव्य-निर्माण के समय उसकी मानसिक अवस्था का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है। काव्य के मूलस्थित भावों, प्रेरक शक्तियों चिन्तन-पद्धति का विश्लेषण और उनका काव्य के साथ जो सम्बन्ध है, उसका औचित्य-निरूपण इसी के अन्तर्गत आ जाता है। कवि की रचनाओं का उसके वैयक्तिक स्वभाव, आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक, नैतिक परिस्थितियों के कारण उसके मन पर पड़े प्रभावों के आलोक में विश्लेषण भी प्रस्तुत किया जाता है। अनुगमात्मक आलोचना में कृति का विश्लेषण किया जाता है और मना-वैज्ञानिक आलोचना में कवि-मानस का।

ऐतिहासिक आलोचना (Historical Criticism)

काव्य अथवा साहित्य, जैसा हमें लगता है, वह नहीं, प्रत्युत जिस युग में उसका सृजन हुआ उस युग के व्यक्तियों ने उसे कैसे भावित किया—इस प्रकार की आलोचना इतिहास-सम्बन्धित आलोचना कही जाती है। शेक्सपियर के नाटक हमें जैसे लगते हैं, वैसे नहीं, बल्कि एलिजाबेथ-युगीन सामाजिकों को कैसे लगे, इसका उद्घाटन करने वाला ऐतिहासिक आलोचक कहा जायेगा। इस प्रकार की आलोचना में युगीन साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में रखकर साहित्य को परखा जाता है। वास्तव में प्राचीन कवि का उचित मूल्यांकन तभी सम्भव है जब हम उसे उसके युग की परिसीमाओं तथा परिस्थितियों में रख कर परखें। उसके युग की परिसीमाओं का बराबर ध्यान रखें, तभी उसके मूल्यांकन और विवेचन का महत्त्व है।

साहित्य और आलोचना की विभिन्न व्याख्याएँ

आलोचना की नैतिक व्याख्या

काव्य का नैतिकता के आधार पर विवेचन प्रस्तुत करना पश्चिमी समीक्षा-क्षेत्र में एक मौलिक प्रश्न रहा है। प्लेटो-पूर्व-युग में भी यह आलोचना का विवेच्य विषय रहा है। काव्य का लक्ष्य सौन्दर्य-सृष्टि के माध्यम से मनःप्रसादन है, अथवा जीवन के मांगलिक मूल्यों की प्रतिष्ठा और उनके द्वारा लोक-मंगल, इन्हीं उभय चिन्ता-सूत्रों को आधार मान कर प्लेटो और अरस्तू ने अपने विचार

व्यक्त किये। नैतिकता का जीवन में क्या स्थान और महत्त्व है, मन पर पड़े काव्य-मूल्यों का कलात्मक प्रभाव कहाँ तक शिव है, ये ऐसे दो विचार-बिन्दु हैं जहाँ से कि साहित्य की नैतिकतापरक और कलागत व्याख्या प्रारम्भ हो जाती है। प्लेटो का प्रतिपाद्य आदर्श प्रजातांत्रिक प्रभावों द्वारा जन-उत्कर्ष था, और तभी वह नैतिकता के आगे काव्य और साहित्य के सौन्दर्यपरक मूल्यों के महत्त्व को प्रतिपादित नहीं कर सका। प्लेटो, साहित्य की नहीं, अपितु नीतिशास्त्र की एक ऐसी अक्षुण्ण परम्परा छोड़ जाना चाहता था जो युगों तक राज्य-प्रशासन को दूषित होने के अभिशाप से बचाये रख सके। प्लेटो आदर्शवादी था, और आदर्शवादी दर्शन तथा आदर्श नैतिक आचरण के सामाजिक औचित्य एवं समाज द्वारा लोक-कल्याण की सिद्धि ही उसका मुख्य ध्येय था। युगीन साहित्य के आधार पर प्लेटो के महत्त्व और योगदान का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

प्लेटो के पूर्व भी, ऐस्ख्युलस ने कहा—‘होमर का मस्तक जिस गौरव-गरिमा से मंडित है, वह नैतिक आदर्शों पर ही आधृत है।’^१ ग्रीक साहित्य और कला में ‘चरित्र-उत्कर्ष’ और ‘नैतिक आदर्शों’ द्वारा अत्यन्त व्यक्त रूप में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की गई। इसे तो स्वीकार ही कर लिया गया कि नैतिक तत्त्व काव्य का अनिवार्य या सहज अंग है। प्लेटो के उपरान्त अरस्तू ने जो कलागत और सौन्दर्यपरक मूल्यों के महत्त्व का उद्घाटन किया, उसके कारण उसका विवेचन साहित्य-प्रेमियों को अधिक मान्य लगा।

परन्तु होरेस और प्लेटो से चली आती नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की परम्परा मिल्टन तक आयी। मिल्टन भी नीति को, नैतिक आदर्श को व्यक्तित्व-गरिमा का अंग तो मानते ही थे, कला, साहित्य और राजनीति में भी वे उसकी अपेक्षा करते थे। रस्किन ने भी १९वीं शताब्दी में आकर अत्यन्त दृढ़ता के साथ काव्य में नैतिक मूल्य और समालोचना के नैतिक आधार की प्रतिष्ठा की। रस्किन ने शुभाशुभ की धारणाओं तथा बहुजनहित के आदर्शों को काव्य का मानदण्ड घोषित किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा :—

“किसी राष्ट्र की कला उसकी नैतिक स्थिति की द्योतक है।”^२

टॉल्स्टाय और मार्क्सानुयायी कॉडवेल प्रकारान्तर से आलोचना के नैतिक आधार की विवेचना करते हैं। नगेन्द्र के अनुसार नीतिवादी वर्ग के अन्तर्गत तीन उपवर्ग हैं :—

१. ग्रीक लिटररी क्रिटिसिज़म् (डेनिस्टन), प्रथम संस्करण, पृष्ठ ८०

२. ग्रीक लिटररी क्रिटिसिज़म् (डेनिस्टन), प्रथम संस्करण, पृष्ठ ८२

- (१) जो काव्य में रूढ़ अर्थ में सदाचार—धर्माधर्म पर आश्रित नैतिक मूल्यों—की प्रतिष्ठा करता है। रस्किन इसमें प्रमुख हैं।
- (२) जो मानव के सुख-दुःख, शक्ति और दौर्बल्य पर आश्रित करुणामूलक मानवीय मूल्यों को ग्रहण करता है। टॉल्स्टाय ने आनन्द और सौन्दर्य का निषेध करते हुए मानव-एकता को कला का उद्देश्य घोषित किया।

“अन्त में यह (कला) आनन्द नहीं है, वरन् मानव-एकता का साधन है जो मानव-मानव को सह-अनुभूति के द्वारा परस्पर सम्बद्ध करती है।”^१

- (३) जो मानव-समाज के भौतिक उत्कर्ष के साथ सामाजिक मूल्यों को प्रमाण मानता है। काँडवेल इसी विचार से अनुप्राणित दिखायी देते हैं।

नगेन्द्र का मत है कि इन तीनों उपवर्गों का मूलाधार एक है। सभी नीतिवादी आलोचक, चाहे वे किसी भी फिरे के हों, या तो सौन्दर्य का निषेध करते हैं, या उसको शिव के अधीनस्थ मानते हैं, या फिर सुन्दर को शिव में अभिन्न मानते हैं।^२

नगेन्द्र आगे स्पष्ट करते हैं कि प्रतिपक्ष में भी आलोचकों के दो उपवर्ग हैं। एक तो वे हैं जो काव्य में नैतिक मूल्यों को सर्वथा अस्वीकार करते हैं। विक्टर ह्यू गो, स्विनबर्न, पेटर, द्विसलर, आस्कर वाइल्ड, ब्रेडले, क्लाइव बेल—इनका मत है कि काव्य अथवा कला अपना उद्देश्य आप ही है। सौन्दर्य की सृष्टि अपने-आप में अपनी सिद्धि है, उसके अतिरिक्त किसी नैतिक प्रयोजन की पूर्ति काव्य के लिए अप्रासंगिक है।

“कविता का मूल्य उसके नैतिक अर्थ या प्रयोजन पर किसी प्रकार निर्भर नहीं रहता। वर्जिल द्वारा सीज़र का अथवा ड्राइडन द्वारा स्टुअर्ट नृपति का यशोगान देश-भक्ति अथवा स्वातंत्र्य-प्रेम से अनुप्रेरित बेवियस या सैटिल द्वारा व्यक्त अत्याचार के प्रति उदात्त से उदात्त आक्रोश की अपेक्षा अधिक काम्य है।”^३

दूसरा वर्ग ऐसे आलोचकों का है जो आनन्द को काव्य का एकमात्र या प्रमुख

१. टॉल्स्टाय : कला क्या है ? से उद्धृत, १८९८ का संस्करण

२. नगेन्द्र : अरस्तू का काव्य-शास्त्र, प्रथम संस्करण, सं० २०१४ वि०, पृ० ९५०

३. Swinburn : Essays and Studies.

प्रयोजन मानते हैं। शिलर, कॉलरिज और शैले इसी वर्ग के आलोचक हैं।

“समस्त कला का लक्ष्य है आह्लाद; मानव-सुख से अधिक उदात्त और गम्भीर कोई समस्या नहीं है।”

इन कलावादियों के मतों का अनुशीलन करने पर एक बात स्पष्ट हो जाती है, जिसकी ओर नगेन्द्र ने भी संकेत किया है, कि सौन्दर्य की मृष्टि में ये सभी विश्वास करते हैं, किन्तु वे यह भी मान कर चलते हैं कि वह निरुद्देश्य नहीं है—आनन्द उसका निश्चित उद्देश्य है। काव्य का चरम मूल्य यह आह्लाद ही है—नैतिक मूल्य काव्य के सहज मूल्य नहीं हैं।

सिसरो, लांजाइनस, गेटे तथा मैथ्यू आर्नल्ड ने एक मध्य-मार्ग का अनुसरण किया। इन आलोचकों ने नैतिकता और आनन्द में, शिव और सुन्दर में कोई विरोध न मान कर नैतिक सौन्दर्य को काव्य का लक्ष्य स्वीकार किया। “कला का उद्देश्य नैतिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है।”^{१९} इस सिद्धान्त के समर्थकों के मत का प्रमुख लक्ष्य यही है कि एक ओर तो ये रूढ़ियों से नैतिकता को मुक्त कर जीवन का व्यापक मानवीय आधार प्रदान करते हैं, दूसरी ओर आनन्द को मनोरंजन अथवा स्नायविक उत्तेजना से भिन्न परिष्कृत एवं स्वस्थ रूप में ग्रहण करते हैं।

भारतीय काव्य-शास्त्र में नैतिक मूल्यों और आनन्दवादी मूल्यों में सहज सामंजस्य रहा है। इसे नगेन्द्र ने भी स्वीकार किया है। नैतिक मूल्यों के आधार पर ही काव्य के द्वारा आनन्द की सिद्धि होती है। हिन्दी काव्य-शास्त्र में नैतिक मूल्यों की सबसे प्रबल प्रतिष्ठा प्राचीनों में गोस्वामी तुलसीदास ने इस प्रकार की :—

कीरति, भनिति, भूति भल सोई ।

सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥

तुलसी का काव्यादर्श स्वान्तःसुखाय से लोक-सुखाय का पर्याय बन गया। वे मंगल-लोक में वाणी और विनायक की साथ-साथ वन्दना करते हैं। नगेन्द्र कहते हैं कि वाणी और विनायक का यह युगपत् स्मरण उनकी काव्य-दृष्टि को और भी स्पष्ट कर देता है। वाणी काव्य-सौन्दर्य की प्रतीक है और विनायक लोक-मंगल के—दोनों के सहयोग से कवि अपने काव्य में सुन्दर और शिव दोनों को सिद्ध करता है। सुन्दर और शिव की यही सिद्धि तुलसी के मत

१. शिलर

२. कज़िन

से काव्य का उद्देश्य है, जिसका आधार पूर्णतः नैतिक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय काव्य-शास्त्र तथा पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र एवं मनो-विज्ञान द्वारा आलोचना की इस नीतिपरक भूमिका को इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

“भीतरी और बाहरी सौन्दर्य, रूप-सौन्दर्य और कर्म-सौन्दर्य के मेल की यह आदत धीरोदात्त आदि भेद-निरूपण से बहुत पुरानी है और बिलकुल छूट भी नहीं सकती। यह हृदय के इस भीतरी आनन्द की तुष्टि के लिए कला की रहस्यमयी प्रेरणा है। मंगल-शक्ति के अधिष्ठान राम और कृष्ण जैसे पराक्रमशाली और धीर हैं, वैसी ही उनकी रूप-माधुरी और शील भी लोकोत्तर है। लोक-हृदय आकृति और गुण-सौन्दर्य और सुशीलता एक ही अधिष्ठान में देखना चाहता है।”

वास्तव में शुक्लजी पर तुलसी की आदर्श-मर्यादा का स्पष्ट प्रभाव था, और तभी वे नैतिकता-पक्ष की उपेक्षा नहीं कर सके। इस प्रकार प्रागैतिहासिक युग से लेकर आज तक नैतिक मूल्यों पर आधृत आलोचना का स्वरूप-विवेचन होता चला आ रहा है। ऐसी बात नहीं कि इन विभिन्न मतवादों के प्रतिष्ठापकों पर कठोर आक्षेपों का प्रहार न किया गया हो। परन्तु उसकी परम्परा का आज तक चला आना एक बात को पुष्ट करता है कि उनमें सत्यांश था और यही सत्यांश उन मत-वादों को दीर्घायु प्रदान करने में समर्थ है।

अन्त में, नगेन्द्र की निष्पत्तियाँ महत्वपूर्ण हैं। काव्य का प्रयोजन विशिष्ट आनन्द-सम्प्राप्ति तो है ही, ज्ञानार्जन और सत्यान्वेषण भी उसकी उपलब्धियाँ हैं। नगेन्द्र और अरस्तू के सिद्धान्तों के मूल में साम्य अवस्थित है। नगेन्द्र का कहना सत्य है कि नैतिक मूल्यों का स्थूल रूप में प्रस्थापन काव्य का अभीष्ट नहीं; परन्तु उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की आनन्द-सम्प्राप्ति एवं सत्यान्वेषण की सिद्धि के लिए नैतिक भावना का परितोष आवश्यक है।

“नये युग की नवोद्भासित चेतना ने इधर साहित्य को नयी राह दी है।” यह मत श्रीमती शचीरानी गुटू ने अभिव्यक्त किया है। साहित्य की नयी राह से उनका तात्पर्य साहित्य की उस धारा से है जो मार्क्सवादी दर्शन और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रेरणा ग्रहण करती है। समाज, राजनीति, धर्म, साहित्य और दर्शन की पुरानी मान्यताओं की कड़ियाँ चटखने लगीं और वह वर्ग-विहीन समाज-व्यवस्था

में विश्वास करने लगा तथा उसके बाह्य परिवेश भी युगानुकूल परिवर्तित हो गए। नयी-नयी शंकाओं के साथ-साथ नये-नये समाधान और निराली, अपेक्षा-कृत अभिनव समस्याएँ भी हमारे सम्मुख, समाधान की अपेक्षा रखते हुए, प्रस्तुत की गईं। वर्तमान को अतीत से विच्छिन्न कर दिया गया और साहित्य के शाश्वत तत्त्व द्वन्द्ववाद में आ सिमटे।

इस द्वन्द्व से उद्भूत एक गतिरोध वर्तमान आलोचना में भी दीख पड़ रहा है— ऐसा मत शचीरानीजी का है। प्रगतिवादी समीक्षक द्वन्द्व में ही विकास के स्रोत को कल्पना पर आस्था रख, जिस अधिकारवादी रुख को अपनाते जा रहे हैं वह संकीर्ण सत्तावाद का वाहक बन गया, और प्रतिगामी तथा परस्पर-विरोधी तत्त्वों को एक-दूसरे में मिलाकर साहित्य को गतिमान करने की अपेक्षा उसके वेग को रोक रहा है।

भक्तिकालीन अध्यात्म एवं रीतिकालीन शृंगार और स्थूलता के विरोध ने तथा पश्चिमी देशों की भौतिक उन्नति ने हमारे साहित्य के नवयुग में एक अभिनव चिन्ताधारा और प्रेरणा-सूत्र को विकसित करने वाली पृष्ठभूमि का निर्माण किया। इसके समस्त उपकरण भौतिकता पर आश्रित थे। विकास और उन्नति, सम्बृद्धि और द्वन्द्व ने समाज के मानस को प्रभावित कर रखा था। समाज, साहित्य और कला के सिद्धान्तों को परिवर्तित किया जा रहा था। नैतिकता पर आधारित आलोचना-पद्धति में आरम्भ से एक अद्भुत आकर्षण रहा। प्रगतिवादी आलोचक अभिनव प्रतिभा लेकर आये और सभी ने अपने-अपने माध्यम से साहित्य को नयी गहराइयों, नयी सूक्ष्म-बुद्धि, जवान की नयी करवटें, टेकनीक के नये निखार दिये।

प्रगतिशील समीक्षा की प्रेरक शक्ति है युग-चेतना के अधिक अनुकूल सत्य की साधना; और सामाजिक अर्थ में सृजनशील तत्त्व भी उसमें अधिक सक्रिय है। काव्य में सौन्दर्य है, शिव की भावना है, और सत्यानुभूति की अभिव्यक्ति है। कविता को आँकने के, काव्य को परखने के कई मान हैं, परन्तु उनमें प्रारम्भ से ही नीति का प्राबल्य रहा है। समाज में नैतिक मूल्यों को, अन्य मूल्यों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाता है, इसी प्रभाव के कारण प्लेटो ने भी काव्य के नैतिक मूल्य के महत्त्व का प्रतिपादन किया। तब से लगातार, समालोचना के क्षेत्र में जो नीति का पदार्पण हुआ, उसे पृथक् नहीं किया जा सका। कहते हैं, बुद्धि के बढ़ते हुए वैभव के साथ मानव का नैतिक ह्रास हुआ। विकट बुद्धिवादिता के प्राधान्य के कारण, भावना का स्रोत सूख जाता है तथा तर्क और दर्शन के

आधिक्य के कारण सत्-असत्, नीति-अनीति का विवेक समाप्त-सा हो जाता है। परन्तु मुझे तो लगता है कि नीति-ज्ञान विवेक-बुद्धि का वैभव है।

आलोचना की कलात्मक व्याख्या

प्लेटो के अतिनैतिकवाद की प्रतिक्रिया के रूप में ही अरस्तू का मत है। उसने अपने सौन्दर्यपरक कलात्मक मत की प्रतिस्थापना की। अरस्तू ने नैतिक मूल्यों का अनादर या उनकी उपेक्षा नहीं की, वरन् काव्य का चरम लक्ष्य नैतिक मूल्य द्वारा उपलब्ध विशिष्ट आनन्द ही स्वीकार किया। अरस्तू ने नैतिक भावना का परितोष सत्काव्य में स्वीकार तो किया, किन्तु नैतिक महत्त्व को वे कलागत मूल्यों के सम्मुख स्वीकार न कर सके। अरस्तू को केवल कलागत सौन्दर्य-भावना की अभिव्यक्ति ही स्वीकार थी। नगेन्द्र के मतानुसार सामान्यतः नैतिक मूल्याधार और कलागत आधार में कोई मौलिक विरोध नहीं होना चाहिए, पर सामान्य स्तर पर इस प्रकार की समन्वयात्मक दृष्टि का अभाव ही है। काव्य की सिद्धि सौन्दर्य की सृष्टि है और उसके द्वारा मन का प्रसादन मात्र उद्देश्य है—अरस्तू की इस मान्यता को युगानुरूप सैद्धान्तिक रूप प्राप्त होता रहा।

प्लेटो का मत इस कलागत सौन्दर्य-सिद्धान्त के विपक्ष में ही रहा। तभी वह कवि की स्थिति और महत्त्व का विरोध करने में ही आत्म-परितोष का अनुभव करता है। होमर के विरुद्ध उसने लिखा :—

“किन्तु ग्लाउकोन सोचो तो, यदि होमर मनुष्यों को शिक्षा देने और उनका परिष्कार करने में समर्थ होता, यदि वह केवल अनुकरण में ही नहीं, प्रत्युत उन विषयों के परिज्ञान में भी सफल होता, तो क्या उसके अनुयायी न होते, जो उससे स्नेह करते और उसके महत्त्व को स्वीकार कर उसका आदर करते।”^१ प्लेटो ने तो कवि को ही अपने प्रजातंत्र से बहिष्कृत कर दिया था। उसका निर्णय था :—

“अतएव हम न्यायपूर्वक एक सुशासित नगर में उसका (कवि का) प्रवेश निषिद्ध कर सकते हैं, क्योंकि वह आत्मा के इस पक्ष (आवेग) को उदबुद्ध, पोषित और दृढ़ करता है तथा विवेक पक्ष को नष्ट करता है।”^२

अरस्तू ने प्लेटो की कवि-विरोधी धारणाओं के निराकरण का प्रयास किया

१. ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज़्म (डेनिस्टन), प्रथम संस्करण : पृष्ठ ८६

२. ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज़्म (डेनिस्टन), प्रथम संस्करण : पृष्ठ ८४

और अपने सौन्दर्य-सिद्धान्त के आधार पर आलोचना की कलागत आधार-भूमि का निर्माण किया। प्लेटो की परम्परा के अर्वाचीन उन्नायक मिल्टन, कॉडवेल और रस्किन का प्रतिपक्ष भी पर्याप्त सफल रहा। पहले तो प्रतिपक्षियों ने साहित्य और कला के नैतिक और उपयोगितावादी मूल्यों को बिल्कुल ही अस्वीकार कर दिया। वाल्टर पेटर के 'कला कला के लिए'^१ सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हो जाने के पूर्व ही कला के सौन्दर्यगत मूल्यों के महत्त्व को स्वीकार किया गया था।

विक्टर ह्यू गो, स्विनबर्न, पेटर, ह्विसलर, आस्कर वाइल्ड, ब्रैंडले, क्ला-इव बैल प्रभृति समालोचक नैतिक मूल्यों को सर्वथा अस्वीकार कर कला, और काव्य के क्षेत्र को स्वतन्त्र और निरपेक्ष प्रतिपादित करते हैं। इन आलोचकों की मान्यता है कि काव्य और कला अपना उद्देश्य आप होती हैं, सौन्दर्य की सृष्टि अपने आप में अपनी सिद्धि है; उसके अतिरिक्त किसी नैतिक अथवा उपयोगितावादी प्रयोजन की पूर्ति कला और काव्य के लिए अप्रासंगिक है। लोक-नियम, रीति-नीति का कला और काव्य की आलोचनाओं में न तो कोई महत्त्व रहता है और न कोई सम्बन्ध ही। स्विनबर्न का कथन है—“कविता का मूल्य उसके नैतिक अर्थ पर निर्भर नहीं—वर्जिल द्वारा सीजर का अथवा ड्राइडन द्वारा स्टुअर्ट-नृपतियों का यशोगान देशभक्ति अथवा स्वातंत्र्य-प्रेम से अनुप्रेरित बेवियस, या सैटिल द्वारा व्यक्त अत्याचार के प्रति उदात्त से उदात्त आक्रोश की अपेक्षा अधिक काव्य है।”^२

शिलर, कॉलरिज, शैले आदि आनन्द को ही काव्य का एकमात्र प्रयोजन मानते हैं। “समस्त कला का लक्ष्य है आह्लाद; मानव-सुख से अधिक उदात्त और गंभीर कोई समस्या नहीं है।”^३

नगेन्द्र का मत है कि कलावादी समालोचक कला को निष्प्रयोजन नहीं मानते और सौन्दर्य-सृष्टि आनन्द-सम्प्राप्ति का माध्यम है।

नगेन्द्र को सिसरो, लांजाइनस, ड्राइडन, गेटे तथा मैथ्यू आर्नल्ड का मत अधिक संतुलित और विवेकपूर्ण प्रतीत होता है, जहाँ ये आलोचक नैतिकता और आनन्द में, शिव और सुन्दर में, विरोध न मानकर नैतिक सौन्दर्याभिव्यक्ति को ही कला और काव्य का उद्देश्य प्रतिपादित करते हैं।^४

१. Walter Pater : Art for Art's Sake.

२. Swinburne : Essays and Studies.

३. शिलर (Schiller)

४. नगेन्द्र : 'अरम्भू का काव्य-शास्त्र, प्रथम संस्करण, सं० २०१४, पृ० ५१

कजिन ने उचित ही कहा है, “कला का उद्देश्य नैतिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है।” वास्तव में अपने विशुद्ध एवं व्यापक रूप में आलोचना के आनन्दवादी अथवा कलात्मक और नैतिक मूल्यों के मूल में कोई अन्तर नहीं। नगेन्द्र का कथन वास्तव में सर्वथा उचित है कि सदाचार की साधना आनन्द के लिए ही तो की जाती है, और उधर स्थायी आनन्द जीवन के उत्कर्षक मूल्यों द्वारा ही संभव है।^१

अन्त में, मैथ्यू आर्नल्ड का मत व्यक्त करना आवश्यक है, जो इन विरोधी मतवादों में साम्य की स्थापना करने में समर्थ है। नैतिकता को प्रायः संकीर्ण और अशुद्ध रूप में ग्रहण किया जाता है। उसका सम्बन्ध ऐसे विचारों और विश्वासों के साथ स्थापित कर दिया जाता है जिनका समय बीत चुका है। वह अब रूढ़िवादियों और व्यावसायिकों के हाथ में पड़ गई है। उससे कुछ लोग ऊब उठे हैं। कभी-कभी हमें उसके विरुद्ध विद्रोह रुचिकर प्रतीत होने लगता है। ऐसी कविता में रस आने लगता है, जो उमर खैय्याम के इन शब्दों को सिद्धान्त मानकर चलती है, “जो समय हमने मस्जिद में नष्ट किया है, उसकी क्षति-पूर्ति, आग्रा, मदिरालय में चलकर करें।”^२ अथवा ऐसी कविता के प्रति हमारी अभिरुचि हो जाती है जिसमें नैतिक मूल्यों की उपेक्षा रहती है। ऐसी कविता में, जिसकी विषय-वस्तु चाहे जैसी हो किन्तु रूपाभिव्यंजना कौशलपूर्ण तथा रमणीय होती है। ये दोनों आत्म-प्रवचन की स्थितियाँ हैं—और इस आत्म-प्रवचन का सबसे सफल उपचार यह है कि हम उस उदात्त अर्थवान् शब्द ‘जीवन’ पर अपना ध्यान केन्द्रित कर उसकी आत्मा से साक्षात्कार करना सीखें। नैतिक मूल्यों का विद्रोही काव्य जीवन का विद्रोही है। नैतिक मूल्यों के प्रति पराङ्मुख काव्य, जीवन के प्रति पराङ्मुख है।^३

आर्नल्ड काव्य को जीवन की आलोचना मानता था^४। आधुनिक हिन्दी-समालोचना में हीगेल द्वारा ललित कलाओं का विवेचन महत्त्वपूर्ण विषय रहा है और उसने आलोचना के कला-सम्बन्धी आधार पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। हीगेल कला को आधिभौतिक सत्ता को व्यक्त करने का माध्यम स्वीकार करता है। नगेन्द्र को भी ये विभिन्न मत प्रकारान्तर से मान्य हैं।

आलोचना की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

हिन्दी-समीक्षा पर जिन विचारकों का प्रभाव पड़ा उनमें कार्ल मार्क्स, सिगमंड

१. नगेन्द्र : अरस्तू का काव्य-शास्त्र, प्रथम संस्करण, सं० २०१४, पृ० ५१

२. Omar Khaiyam : Rubaiyat.

३. Matthew Arnold : Essays in Criticism.

४. Poetry is the Criticism of Life.

फ्रायड, आई० ए० रिचर्ड्स और टी० एस० इलियट के नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। मार्क्सवादी विचारधारा ने प्रगति को जन्म दिया। हिन्दी की मनोवैज्ञानिक आलोचना में आंशिक प्रभाव फ्रायड का है। फ्रायडीय विचारधारा के प्रमुख समर्थक डा० नगेन्द्र हैं जो मनोविज्ञान के क्षेत्र में समन्वयवादी हैं।

फ्रायड ने मन के तीन स्तरों की कल्पना की:—

- (१) चेतन क्रियाशील मन;
- (२) अर्धचेतन;
- (३) अवचेतन।

फ्रायड ने स्पष्ट कहा कि हमारी उन इच्छाओं को जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं, हमारा चेतन मन सामाजिक आदर्शों से प्रभावित होकर नियंत्रित करने का प्रयास करता है। वे अवचेतन में आकर अवस्थित हो जाती हैं। 'काम' को फ्रायड ने जीवन की मूल प्रेरणा स्वीकार किया। उन्होंने 'काम' के आधार पर व्यक्ति और समाज के द्वन्द्व की भी कल्पना की। द्वन्द्व में उन्होंने व्यक्ति के पराजय की संभावनाएँ ही अधिक व्यक्त कीं, फलस्वरूप पराजित व्यक्ति को अपनी इच्छाएँ दमित करनी पड़ती हैं। यही दमित इच्छाएँ जिन्हें वह सामाजिक विरोध के कारण पूर्ण नहीं कर पाता, कला-सृजन, स्वप्न, दैनिक जीवन की भूलें, विक्षेप आदि मार्गों से प्रकट होती हैं। फ्रायड ने स्पष्ट कहा है कि सामाजिक मान्यताओं के कारण हमारा चेतन मन, हमारे मन की अविवेकशील काम-भावना को दमित करता रहता है। यही दमित काम-वासना मानसिक ग्रंथियों का रूप धारण कर अवचेतन में जम जाती है। और वहाँ से अपने प्रकटीकरण का अर्हनिश प्रयास करती है तथा प्रतीक-रूप में स्वप्न, छाया-चित्रों तथा कविता में भाव-चित्रों की सृष्टि करती है।

श्रीमती शचीरानी इसे पराजित भोगवाद मानती हैं। उनका अभिमत है कि फ्रायडीय मनोविज्ञान से प्रभावित आलोचक मनुष्य की तमाम विकृतियों अथवा सांघातिक मानसिक रोगों की उत्पत्ति निरोधित प्रेरणाओं में खोजता है। उसके अनुसार मनुष्य की मनःप्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो स्वभावतः अप्राप्य की ओर दौड़ती हैं। वे उन वस्तुओं को पाने के लिए सतत चेष्टाएँ करते हैं जो नितान्त असामाजिक अथवा व्यावहारिक जीवन में अमान्य हैं। मनुष्य की इच्छा-अनिच्छा, सुकृत्य-कुकृत्य, क्षुद्र एवं उदात्त चिन्तन, विचारधाराएँ, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, जानी और अजानी क्रियाएँ, सचेत-अवचेत तथा अचेत मन के अज्ञात अवांछित निदेश, सुषुप्ति अथवा जाग्रतावस्था के कार्य-व्यापार, उसकी तूफानी या संतुलित वृत्तियाँ

सभी का उद्गम 'काम'—भोगजन्य उत्तेजना है, जिसे फ्रायड और फ्रायडवादी युवावस्था में ही नहीं प्रत्युत शैशवावस्था में ही अर्धविकसित रूप में स्वीकार करते हैं।

साहित्य को आलोचना के क्षेत्र में इस प्रकार की पीठिका पर आधृत कर समालोचनादर्श का निर्माण डा० नगेन्द्र और प० इलाचन्द्र जोशी ने किया। मनोवैज्ञानिक आलोचना की मुख्य प्रवृत्ति विश्लेषणात्मक रहती है। यह विश्लेषण मनोविज्ञान की आधार-भित्ति पर हुआ करता है। यह आलोचक-वर्ग फ्रायडीय सिद्धान्तों का अनुसरण करता हुआ स्त्री और पुरुष के बीच के स्थूल गारीरिक द्विधात्मक आकर्षण को ही सर्वोपरि मानता है। नगेन्द्र फ्रायडीय मनोविज्ञान मात्र को केवल शुद्ध मनोविज्ञान मानने वाले हैं। साहित्य की मूल प्रेरणा के विषय में उनके विचार मनोविज्ञान की 'ठभूमि' पर अवस्थित हैं। नगेन्द्र फ्रायडीय अवचेतन और चेतन के लिए आत्म और अनात्म की अवधारणा का प्रयोग करते हैं। उनके मत में साहित्य के पीछे आत्माभिधायक की प्रेरणा अवस्थित है। यह प्रेरणा व्यक्ति के अन्तरंग—उसके अन्तर् में परिध्याप्त आत्म-अनात्म संघर्ष—में उद्भूत होती है। वे कहते हैं कि यह प्रेरणा कहीं बाहर में प्राप्त नहीं की जा सकती। उनकी दूसरी मान्यता है कि हमारी आत्मा का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उनमें कामवृत्ति का ही प्रधानत्व है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला आत्म-अनात्म का संघर्ष प्रधानतः काम-संघर्ष ही है; और क्योंकि ललित कलाएँ, जिनमें काव्य को भी सम्मिलित कर लिया जाना है मूलतः रमात्मक होती हैं, उनकी प्रेरणा में काम-वृत्ति को प्रधानता अस्ति है।

नगेन्द्र की विशेषता है कि वे सभी प्रकार के प्रभावों को ग्रहण तो कर लेते हैं; परन्तु निर्माण और समालोचना के क्षेत्र में उनकी वृद्धि वही रहती है जहाँ उनकी आस्था हो। नगेन्द्र शुद्ध आत्मा के आवरण में फ्रायड के असामाजिक दमित और निर्वासित काम-कुण्डाओं के पुंज—अवचेतन को छिपाने का प्रयास करते हैं। असामाजिक काम-कुण्डाओं के पुंज अवचेतन को पवित्र, शाश्वत, नित्य और निर्विकल्प स्वरूप देने के लिए 'आत्म' शब्द की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। परन्तु नगेन्द्र के समालोचना-साहित्य में व्यवहृत आत्म-शब्द भारतीय मूल में उद्भासित न मानकर, फ्रायडीय-दर्शन का पर्याय है—इसका ध्यान रखना आवश्यक है। अनेक स्थलों पर उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—

“मैं जीवन को ग्रहम् का जगत् से या आत्म का अनात्म से संघर्ष मानता हूँ।”

“.....और चूँकि आत्म-निर्माण में कामवृत्ति और उसकी अतृप्तियों का योग है, इसलिए इस प्रेरणा में—आत्माभिव्यक्ति में—उनका विशेष महत्त्व मानना भी अनिवार्य समझा जाता है।”

“जिस व्यक्ति के अहं और वातावरण में, वृत्ति और कर्तव्य में अथवा फ़ायडीय शब्दावली में अन्तश्चेतन और चेतन के बीच जितना अधिक संघर्ष होगा, उसकी प्रतिभा, उतनी ही प्रखर होगी।”

आलोचना की अधिमानस-शास्त्रीय व्याख्या

प्राचीन काल में विचारों पर दर्शन-शासित पद्धति का पूर्ण प्रभाव रहा करता था। विवेचन के क्षेत्र में दार्शनिक पक्ष की उपेक्षा सम्भव न थी। कवि के सामाजिक, राजनीतिक, विचारों के साथ ही साथ उसके दार्शनिक विचारों के आधार पर उसकी कृति का मूल्यांकन करना, समीक्षा-पद्धति में एक अभिनव मार्ग का प्रारम्भ था। कवि की रचना में दर्शन-पक्ष का कितना महत्त्व है, कृति के मूल्य को कृति में अभिव्यंजित दर्शन कितना बढ़ा देता है, आदि ऐसे विचार-सूत्र थे जिन पर समीक्षकों का बढ़ जाना स्वाभाविक था। कवि की कृति में चूँकि दार्शनिक विवेचन का पुट रहा करता था, इसलिए आलोचना के दार्शनिक आधार का महत्त्व भी बढ़ गया। डा० रामकुमार वर्मा का अभिमत है कि “हमारे साहित्य (और आलोचना) की सबसे बड़ी विशेषता दर्शन और कर्म के उच्च आदर्श के रूप में है। हृदय को परिष्कृत करने के साथ ही जीवन को पवित्र और सदाचारानुमोदित बनाने में—प्लेटो का उद्देश्य भी यही था—हमारे साहित्य का बहुत बड़ा हाथ है। यों तो हिन्दू-जीवन में दर्शन और धर्म में पार्थक्य नहीं है; दर्शन ही धर्म का निर्माण करता है और धर्म ही दर्शन के लिए जीवन की पवित्रता प्रस्तुत करता है। इस प्रकार दर्शन और धर्म हमारे साहित्य के निर्माता हैं।”^१ वास्तव में, दर्शन की जटिल विचारावली का प्रवेश तो हमारे साहित्य में संस्कृत से हुआ और धर्म की भावना का प्राधान्य राजनीतिक परिस्थितियों से हुआ—ऐसा डा० रामकुमार वर्मा का मत है।

एक बार धर्म की भावना के जाग्रत होते ही दर्शन के लिए एक उर्वर क्षेत्र प्राप्त हो गया और परिणामस्वरूप हमारे धार्मिक काल की कविता भक्ति की आह्लादकारिणी भावना लिए अवतरित हुई। धर्म और दर्शन का शासन इतने

१. डा० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृतीय संस्करण, १९५४, पृष्ठ २३

सभी का उद्गम 'काम'—भोगजन्य उत्तेजना है, जिसे फ़ायड और फ़ायडवादी युवावस्था में ही नहीं प्रत्युत शैशवावस्था में ही अर्धविकसित रूप में स्वीकार करते हैं।

साहित्य को आलोचना के क्षेत्र में इस प्रकार की पीठिका पर आधृत कर समालोचनादर्श का निर्माण डा० नगेन्द्र और पं० इलाचन्द्र जोशी ने किया। मनोवैज्ञानिक आलोचना की मुख्य प्रवृत्ति विश्लेषणात्मक रहती है। यह विश्लेषण मनोविज्ञान की आधार-भित्ति पर हुआ करता है। यह आलोचक-वर्ग फ़ायडीय सिद्धान्तों का अनुसरण करता हुआ स्त्री और पुरुष के बीच के स्थूल शारीरिक द्वंद्वात्मक आकर्षण को ही सर्वोपरि मानता है। नगेन्द्र फ़ायडीय मनोविज्ञान मात्र को केवल शुद्ध मनोविज्ञान मानने वाले है। साहित्य की मूल प्रेरणा के विषय में उनके विचार मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर अवस्थित है। नगेन्द्र फ़ायडीय अवचेतन और चेतन के लिए आत्म और अनात्म की शब्दावली का प्रयोग करते हैं। उनके मत से साहित्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा अवस्थित है। यह प्रेरणा व्यक्ति के अन्तरंग—उसके अन्तर् में परिव्याप्त आत्म-अनात्म संघर्ष—से उद्भूत होती है। वे कहते हैं कि यह प्रेरणा कहीं बाहर से प्राप्त नहीं की जा सकती। उनकी दूसरी मान्यता है कि हमारी आत्मा का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उनमें कामवृत्ति का ही प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला आत्म-अनात्म का संघर्ष प्रधानतः काम-संघर्ष ही है; और क्योंकि ललित कलाएँ, जिनमें काव्य को भी सम्मिलित कर लिया जाता है मूलतः रसात्मक होती हैं, उनकी प्रेरणा में काम-वृत्ति की प्रधानता असंदिग्ध है।

नगेन्द्र की विशेषता है कि वे सभी प्रकार के प्रभावों को ग्रहण तो कर लेते हैं; परन्तु निर्माण और समालोचना के क्षेत्र में उनकी बुद्धि वहीं रमती है जहाँ उनकी आस्था हो। नगेन्द्र शुद्ध आत्मा के आवरण से फ़ायड के असामाजिक दमित और निर्वासित काम-कुण्ठाओं के पुंज—अवचेतन को छिपाने का प्रयास करते हैं। असामाजिक काम-कुण्ठाओं के पुंज अवचेतन को पवित्र, शाश्वत, नित्य और निर्विकल्प स्वरूप देने के लिए 'आत्म' शब्द की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। परन्तु नगेन्द्र के समालोचना-साहित्य में व्यवहृत आत्म-शब्द भारतीय मूल से उद्भासित न मानकर, फ़ायडीय-दर्शन का पर्याय है—इसका ध्यान रखना आवश्यक है। अनेक स्थलों पर उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है:—

“मैं जीवन को अहम् का जगत् से या आत्म का अनात्म से संघर्ष मानता हूँ।”

“.....और चूँकि आत्म-निर्माण में कामवृत्ति और उसकी अतृप्तियों का योग है, इसलिए इस प्रेरणा में—आत्माभिव्यक्ति में—उनका विशेष महत्त्व मानना भी अनिवार्य समझा जाता है।”

“जिस व्यक्ति के अहं और वातावरण में, वृत्ति और कर्तव्य में अथवा फ़ायडीय शब्दावली में अन्तश्चेतन और चेतन के बीच जितना अधिक संघर्ष होगा, उसकी प्रतिभा, उतनी ही प्रखर होगी।”

आलोचना की अधिमानस-शास्त्रीय व्याख्या

प्राचीन काल में विचारों पर दर्शन-शासित पद्धति का पूर्ण प्रभाव रहा करता था। विवेचन के क्षेत्र में दार्शनिक पक्ष की उपेक्षा सम्भव न थी। कवि के सामाजिक, राजनीतिक, विचारों के साथ ही साथ उसके दार्शनिक विचारों के आधार पर उसकी कृति का मूल्यांकन करना, समीक्षा-पद्धति में एक अभिनव मार्ग का प्रारम्भ था। कवि की रचना में दर्शन-पक्ष का कितना महत्त्व है, कृति के मूल्य को कृति में अभिव्यंजित दर्शन कितना बढ़ा देता है, आदि ऐसे विचार-सूत्र थे जिन पर समीक्षकों का बढ़ जाना स्वाभाविक था। कवि की कृति में चूँकि दार्शनिक विवेचन का पुट रहा करता था, इसलिए आलोचना के दार्शनिक आधार का महत्त्व भी बढ़ गया। डा० रामकुमार वर्मा का अभिमत है कि “हमारे साहित्य (और आलोचना) की सबसे बड़ी विशेषता दर्शन और कर्म के उच्च आदर्श के रूप में है। हृदय को परिष्कृत करने के साथ ही जीवन को पवित्र और सदाचारानुमोदित बनाने में—प्लेटो का उद्देश्य भी यही था—हमारे साहित्य का बहुत बड़ा हाथ है। यों तो हिन्दू-जीवन में दर्शन और धर्म में पार्थक्य नहीं है; दर्शन ही धर्म का निर्माण करता है और धर्म ही दर्शन के लिए जीवन की पवित्रता प्रस्तुत करता है। इस प्रकार दर्शन और धर्म हमारे साहित्य के निर्माता हैं।” वास्तव में, दर्शन की जटिल विचारावली का प्रवेश तो हमारे साहित्य में संस्कृत से हुआ और धर्म की भावना का प्राधान्य राजनीतिक परिस्थितियों से हुआ—ऐसा डा० रामकुमार वर्मा का मत है।

एक बार धर्म की भावना के जाग्रत होते ही दर्शन के लिए एक उर्वर क्षेत्र प्राप्त हो गया और परिणामस्वरूप हमारे धार्मिक काल की कविता भक्ति की आह्लादकारिणी भावना लिए अवतरित हुई। धर्म और दर्शन का शासन इतने

प्रधान रूप से हमारे साहित्य में परिव्याप्त है कि उससे पृथक् साहित्य के अस्तित्व की परिकल्पना हमारे सामर्थ्य के बाहर है। यह दर्शन और धर्म की प्रधानता के ही कारण है कि जब-जब उसमें और साहित्य में भौतिकता और स्थूलता का स्वर अपेक्षाकृत प्राधान्य प्राप्त करने लगता, रहस्यवाद की अवतारणा कर, हमारे साहित्यकारों ने स्थूलता और भौतिकता को सूक्ष्मता और आध्यात्मिकता में पर्यवसित कर दिया। कालरिज ने ठीक ही कहा है।

“No man was ever a great poet without being at the same time a profound philosopher.” (जो व्यक्ति गम्भीर दार्शनिक नहीं, वह महान् कवि भी नहीं हो सकता।)

साहित्य और कलाओं के विभिन्न आधारों में अधिमानसशास्त्रीय (मेटाफिजिकल) आधार भी आज के युग में आवश्यक हो गया है। वास्तव में आज सम्पूर्ण विश्व के साहित्य का पारस्परिक आदान-प्रदान इस मुक्त रीति से हो रहा है कि साहित्यिक और समीक्षक उसके प्रभावों से अछूते नहीं रह सकते। सार्वजनिक और सार्वयुगीन साहित्य-निर्माण के प्रयास की दिशा में अनेक विद्वान् प्रयत्नशील हैं। अमरीका, फ्रांस, जर्मनी, इटली, स्कैंडिनेविया और इंग्लैंड में साहित्यिक आन्दोलनों के मूल में विश्वजनीन साहित्य-प्रणयन की भावना ही अवस्थित दिखायी पड़ती है।

प्लेटो ने अपने आलोचना और कला-समीक्षा के सिद्धान्तों के विवेचन में अधिमानसशास्त्रीय (मेटाफिजिकल) आधार की प्रधानता को स्वीकार किया। उसके शिष्य अरस्तू ने भी, जो अपने गुरु के सिद्धान्तों के कतिपय तत्त्वों को अस्वीकार कर, अभिनव सिद्धान्तों की स्थापना कर रहा था, समीक्षा के अधिमानसशास्त्रीय आधार को मान्यता प्रदान की। १७वीं शताब्दी में तो इंग्लैंड में कवियों का एक ऐसा दल तैयार हुआ जो ‘मेटाफिजिकल कविगण’ के नाम से अभिहित किया गया। ‘रोमाण्टिक कवि’ और ‘मेटाफिजिकल कवि’ में विभेद स्पष्ट करते हुए इलियट ने कहा कि रोमानी काव्य में भाव-वृत्तियों का संसर्ग (association of sensibilities) रहता है और मेटाफिजिकल काव्य में भाव-वृत्तियों का निःसंसर्ग (dissociation of sensibilities) रहता है, जिसके कारण उनका काव्य दुरूह और कठिन प्रतीत होने लगता है। जान डन, क्रशा, हर्बट प्रभृति कवियों ने अपने काव्य में विचार और अनुभूति के इतने अभिनव क्षेत्रों का चयन किया कि वह सामान्य पाठक की पहुँच के बाहर हो गया। कवि प्रेमिका के लिए रुढ़ उपमानों के स्थानों में कहने लगे : Oh my America and my Newfoundland ! १७वीं शताब्दी में तो इन ‘मेटाफिजिकल कवियों’ को वह सम्मान न

मिल सका, जो उन्हें प्राप्त होना चाहिए था; कारण कि एलिजाबेथयुगीन भावना (एलिजाबीथन स्पिरिट) उसे मान्यता प्रदान करने में असमर्थ थी।

आधुनिक युग के साहित्य-विधायक टी० एस० इलियट ने सबसे पहली बार बड़ी सबल भाषा में १७वीं शताब्दी और २०वीं शताब्दी की सामाजिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक परिस्थितियों में साम्य की चर्चा की। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि 'अधिमानसशास्त्रीय काव्य' आज हमें क्यों अधिक भाने लगा है। १७वीं शताब्दी में नये-नये भौगोलिक क्षेत्रों का अनुसंधान हुआ, विज्ञान ने धर्म पर विजय पायी, राजशक्ति, मध्यवर्गीय लोगों के पास आने लगी, आर्थिक विपमता बढ़ गई। मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान, जीवविज्ञान और जन-विज्ञान ने पुनः २०वीं शताब्दी में ज्ञान के नवीन वातायन खोल दिए। धर्म और विज्ञान के विगत तीन सौ वर्षों में धर्म को विज्ञान से पराजित होना पड़ा। धार्मिक विश्वास अपनी सम्पूर्ण तीव्रता और दृढ़ता बनाये रखने में असमर्थ-सा है। इलियट ने 'मेटाफिजिकल काव्य' का पुनरुत्थान कर, काव्य-मानों और उसके प्रेरणा-स्रोतों का परिवर्तन कर दिया। इलियट की कविता ने प्रयोगवादी और नयी कविता को पूर्ण रूप से प्रभावित कर रखा है, अतः आलोचना का अधिमानस-शास्त्रीय (मेटाफिजिकल) आधार निश्चित करना आवश्यक है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपने 'आधुनिक साहित्य' में प्रयोगवादी कविताओं की विवेचना प्रस्तुत करते समय प्रयोगवादी कवियों की 'उलझी हुई संवेदनाओं' का उल्लेख किया। यदि यह 'उलझी हुई संवेदना' Dissociation of sensibilities का पर्याय है, तो यह इलियट का दिया हुआ है, और संवेदनाओं की संवेद्यता की आलोचना 'मेटाफिजिकल क्रिटिसिज्म' कही जायेगी। प्रयोगवादी कविता, नई कविता, जैसा कि नगेन्द्र ने कहा है, तथा आधुनिक फ्रेंच, अमेरिकन और अंग्रेजी कविता के बिम्ब दुरूह और आचार्य वाजपेयी जी के शब्दों में 'उलझे हुए' हैं। वास्तव में कविता में उलभाव संवेदना का नहीं, प्रत्युत उसको व्यक्त करने के माध्यम का है। कवि की अनुभूति का संवेद्य सामान्य जगत् की वस्तु पूर्ण रूप से नहीं हो सकती। परन्तु कवि के पास अनुभूति-प्रकाशन का अन्य कोई माध्यम भी तो नहीं है। काव्य में संकेतात्मकता का समावेश हो जाने के कारण भी काव्य दुरूह बन जाता है। प्रतीक के विषय में एडमण्ड गाज़ ने कहा है :

"A symbol is an indication of an object, in opposition to a direct description of the same ; it arouses the idea of it in the awakened soul ; rings and rouse the spirit and reminds it of

some special event or imminent service. The importance of making this the foremost feature of poetry is not new, although it may be said that we have only lately, and only partially, become aware of its value."

जब तक नई कविता और प्रयोगवादी काव्य को इसी प्रकार की 'मेटाफिजिकल' और दार्शनिक आधारभूमि पर अवस्थित कर उसे आँकने का प्रयास नहीं किया जायेगा, तब तक न तो काव्य का स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा, और न ही समीक्षा की यह विद्या ही परिपूर्ण हो सकेगी।

समालोचना के इन विभिन्न आधारों का विवेचन प्रस्तुत करते समय, हमारी दृष्टि नगेन्द्र तक ही सीमित रही और केवल उन व्यक्तियों और प्रवृत्तियों का ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में उल्लेख किया गया जिनका प्रभाव नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धान्तों में परिलक्षित होता है। नगेन्द्र का व्यक्तित्व अनेक नयी-पुरानी परम्परावादी और प्रगतिवादी, सृजनात्मक और कलात्मक विशेषताओं से सम्पृक्त है। वे जाग्रत कलाकार हैं और समाज, दर्शन, राजनीति तथा धर्म के बदलते प्रतिमानों के औचित्य और महत्व-प्रतिपादक में रत हैं। मौलिक प्रतिभा, स्वतन्त्र चिन्तन, निरपेक्ष विचारणा-शक्ति आदि नगेन्द्र की ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनसे उनका मौलिक और आलोचनात्मक साहित्य सम्पृक्त है। 'इज्म' की भावना के आक्रोश में आलोचना के अभीष्ट उद्देश्य को भुलाकर तर्क-वितर्क और नये मत-वादों की प्रवर्तना उनकी वृत्ति के अनुकूल नहीं। साहित्यिक प्रतिभाओं का, गुटों, वादों और दलबन्धियों के पथ में फँसकर शक्ति का अपव्यय उन्हें रुचिकर नहीं। एकांगी, असामाजिक रुख को अपना कर, एक दूसरे के विचारों का खंडन-मंडन, साहित्य के उच्च एवं उदात्त लक्ष्य से पथभ्रष्ट होकर अराजक साहित्य की सृष्टि को वे शिव नहीं मानते।

यद्यपि नगेन्द्र की समालोचक-वृत्ति काव्य-शास्त्र और रस-सिद्धान्त के विवेचन में ही अधिक रमी, परन्तु, यदि उनकी आलोचना का सूक्ष्म अनुशीलन और परीक्षण किया जाये तो स्वयं काव्यशास्त्र के अध्ययन और आलोचना का आधार मनोविश्लेषण, उत्स-विश्लेषण अथवा मूल-विश्लेषण दिखायी पड़ता है। 'रीति-काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता' के उत्तरार्ध में काव्यशास्त्र के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का बड़ा ही वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। रीति की जिन प्रवृत्तियों की ओर संकेत कर उनकी पृष्ठभूमि का निर्माण किया गया है, संस्कृत और अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी काव्यशास्त्र की सुस्पष्ट और व्यवस्थित परम्परा का जो उल्लेख किया गया है, वह साहित्य में एक अभिनव योगदान है।

साहित्य-शास्त्र की जिन प्रवृत्तियों और सम्प्रदायों का विवेचन जिस मोटी रकम से सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र, सीताराम शास्त्री, हरिमंगल मिश्र ने किया, उसकी अपेक्षा नगेन्द्र का प्रयास स्तुत्य और उनका योगदान अभूतपूर्व है। डा० के० सी० दे ने अंग्रेजी के माध्यम से काव्यशास्त्र का जो वैज्ञानिक विश्लेषण किया, उसका हिन्दी में उद्भव नगेन्द्र का कार्य है।

नगेन्द्र के सहयोगी प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य विश्वेश्वर काव्य-शास्त्र के संस्कृत-ग्रंथों पर हिन्दी में टीका लिख रहे हैं। इन टीका-ग्रंथों के भूमिका-लेखन का कार्य नगेन्द्र कर रहे हैं। भूमिका क्या है, सम्पूर्ण ग्रन्थ और ग्रंथ-प्रणेता को ऐतिहासिक क्रम में रख कर उसका मूल्यांकन और महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। कहना अत्युक्ति न होगी कि नगेन्द्र की भूमिका, जिसका आयाम कभी-कभी मूल ग्रन्थ से बड़ा रहता है, ग्रन्थ के महत्त्व को और भी बढ़ा देती है; काव्य-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों का ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा विवेचनात्मक अध्ययन शास्त्रीय आलोचना के लिए अत्यन्त आवश्यक है। नगेन्द्र द्वारा इस कार्य का सम्पन्न होना इस दिशा में औरों को प्रोत्साहित करने में समर्थ है। 'हिन्दी ध्वन्यालोक', 'हिन्दी काव्यालंकार-सूत्र' 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' और 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' के रूप में नगेन्द्र ने अपनी असाधारण प्रतिभा लेकर, काव्य-शास्त्र के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का बड़ा ही वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। काव्यशास्त्र के अध्ययन ने नगेन्द्र की मान्यताओं को सुदृढ़ और प्रशस्त बना दिया। उन्हें लगा कि भारतीय तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह ही यहाँ के काव्य-शास्त्र भी एक-दूसरे के पूरक हैं, और पुनराख्यान आदि के द्वारा उनके आधार पर हमारे अपने साहित्य की परम्परा के अनुकूल एक संश्लिष्ट आधुनिक काव्य-शास्त्र का निर्माण कर सकने में समर्थ हो सकते हैं। नगेन्द्र ने इसी दिशा की ओर प्रयास किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ में मैंने अनेक स्थलों पर सांकेतिक और निर्देशित मत इस प्रकार व्यक्त किया है कि नगेन्द्र पश्चिमी और भारतीय काव्य-शास्त्र को विकास के एक क्रम में देखते हैं, और उनका विवेचन भी इस दिशा की ओर हुआ है। उनका विवेचन सिद्धान्तों का अध्ययन और विश्लेषण प्रस्तुत करता है। काव्य-शास्त्र के वैज्ञानिक और गम्भीर विवेचन का, प्राच्य और पाश्चात्य दोनों दृष्टिकोणों से विवेच्य विषय पर प्रकाश डालने का सफल प्रयास किया गया है।

'रिति-काव्य की भूमिका' में नगेन्द्र ने साधारणीकरण जैसे उलझे विषय को वैज्ञानिक ढंग से पहली बार मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। उनका रस-विवेचन प्रौढ़ तथा व्यवस्थित है।

नगेन्द्र के विवेचन और आलोचना का महत्त्व यह है कि वे सिद्धान्तों और

सम्प्रदायों के विश्लेषण के पश्चात् उनके उद्गम, उनके मूल उत्स को खोज निकालते हैं। इसीलिए उनका प्रयास अधुनातन है, और उनका महत्त्व अन्य सम-सामयिक आलोचकों से कहीं अधिक बढ़ जाता है। भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का अन्तर स्पष्ट करते हुए नगेन्द्र कहते हैं कि जहाँ एक ओर भारतीय काव्य-शास्त्र में काव्य की परिभाषा करते हुए सहृदय पर पड़ने वाले प्रभाव की ओर संकेत किया गया है, सहृदय की मनःस्थिति के आधार पर काव्य के लक्षणों को प्रतिपादित किया गया है, वहाँ पश्चिम में कवि की मनःस्थिति को ही काव्य का लक्षण निरूपित करने में प्रमुख मान लिया गया है। भारत में काव्य का लक्षण 'रसात्मक वाक्यं काव्यम्' तथा 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः' इन शब्दों में व्यक्त किया गया। पश्चिम में काव्य को कवि की मानस-भूमिका पर आधारित कर, काव्य का लक्षण जीवन की अनुकृति, भाव-स्मरण अथवा जीवन की आलोचना, के प्रारूपों में स्पष्ट किया गया। पूर्व और पश्चिम में काव्य-शास्त्र के इन मौलिक भेदों को निरूपित करने वाले व्यक्ति में जो असाधारण प्रतिभा और असीमित अध्यवसाय-शक्ति होना अपेक्षित है, वह नगेन्द्र के व्यक्तित्व में विद्यमान है।

अधिक अच्छा हो, हम नगेन्द्र के विचारों को जानने का प्रयास करें—“मेरे सहयोगी और समसामयिक मुझे फ़ायडवादी समझते हैं, किन्तु उनकी यह धारणा ग़लत है।” परन्तु इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि फ़ायड के सिद्धान्तों का उन पर प्रभाव पड़ा। मनोविश्लेषकों के सिद्धान्तों को उन्होंने अधिक सम्बृद्ध और उदात्त बनाकर ही ग्रहण किया। मनोविश्लेषण-शास्त्रियों के सिद्धान्तों की समीक्षा नगेन्द्र ने की। फ़ायड को कामेच्छाओं की अतृप्तियों से और अचेतन मन पर उनके दमन की प्रतिक्रिया से उत्पन्न स्थिति में साहित्य-सृजन के मूल स्रोत को उद्भासित करने का कार्य नगेन्द्र ने किया। एडलर की कवि की मूल प्रेरणा, हीन-भाव की क्षतिपूर्ति, भी नगेन्द्र को स्वीकार है। परन्तु हीन-भावना की क्षतिपूर्ति से नगेन्द्र को केवल यह अर्थ ग्राह्य नहीं कि साहित्यिक व्यक्तिगत जीवन में हीनता का अनुभव करता हुआ विचार-क्षेत्र में अन्य व्यक्तियों से सम्बृद्ध बनकर आदर और प्रतिष्ठा की संप्राप्ति की आकांक्षा से काव्य-सृजन करता है; अपितु, क्षतिपूर्ति से उनका आशय यह है कि समाज में पायी जाने वाली विपमताओं को स्वयं दूर करने में असमर्थ लेखक अपने पात्रों में उस प्रकार की विपमताओं को दूर करने में समर्थ गुणों का आरोप करके हीन-भावना की क्षतिपूर्ति कर लेता है। इस प्रकार मूल सिद्धान्त में कलात्मक सौन्दर्य और चिन्तन की सत्यता के अनुरूप नगेन्द्र को परिष्कार और परिवर्धन अधिक स्वीकार्य है।

युंग के सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए नगेन्द्र कहते हैं, “युंग ने जीवनेच्छा को ही जीवन की मूल प्रेरणा माना है। अपने अस्तित्व, जीवन की गति, को अधुण रखने के लिए आवश्यक है कि हम अपने को अभिव्यक्त करते रहें। वैसे तो हमारी समस्त क्रियाएँ, हमारी प्राण-चेतना की अभिव्यक्तियाँ हैं, परन्तु साहित्य उसकी एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है, अन्य क्रियाओं की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और आन्तरिक।” युंग के सिद्धान्तों में इतनी गहरी पैठ रखने वाला व्यक्ति साधारण प्रतिभा वाला नहीं हो सकता। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त नगेन्द्र को वहीं तक स्वीकार्य हैं, जहाँ तक साहित्य-सृजन और साहित्य-समीक्षा में उनसे सहयोग प्राप्त होता है। परिमार्जन भी वहीं किया जाना है जहाँ वे साहित्य-प्रेरणा की चेतना से साम्य स्थापित करने में असमर्थ होते हैं।

नगेन्द्र इन मनोविश्लेषण-शास्त्रियों के विभिन्न सिद्धान्तों की मूल प्रेरणा और चिन्ताधारा के विकास से परिचित हैं, इस पृष्ठभूमि पर साहित्य की मूल प्रेरणा के उद्भव का प्रयास करते हैं। मैं ग्रन्थ के प्रस्तुत अध्याय में अन्यत्र स्पष्ट कर चुका हूँ कि नगेन्द्र साहित्य की मूल प्रेरणा आत्माभिव्यक्ति ही मानते हैं। मनोविश्लेषण-शास्त्रियों के सिद्धान्तों के वही तत्त्व नगेन्द्र को परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से मान्य हैं जो साहित्य की समग्र प्रेरणा के प्रकाशन में सहयोग देते प्रतीत होते हैं। उन्होंने अपना मन्तव्य इस प्रकार प्रकट किया है :—

“यह तो मैं तुमसे पहले ही कह दूँ कि मेरा मन्तव्य कोई सर्वथा स्वतन्त्र मन्तव्य नहीं है—उपर्युक्त सिद्धान्तों (कामेच्छाओं की अतृप्ति से अचेतन मन पर उनके दमन की प्रतिक्रिया,^१ हीन-भावना की क्षति-पूर्ति,^२ जीवनेच्छा,^३ जीवन की मूल प्रेरणा) से पृथक् उसका (आत्माभिव्यक्ति का) अस्तित्व नहीं है और न हो ही सकता है। मैं जीवन को अहं का जगत् से या आत्म का अनात्म से संघर्ष मानता हूँ। इस संघर्ष की सफलता सुख है और विफलता दुःख है। साहित्य इसी संघर्ष के मानस-रूप की अभिव्यक्ति है। मानस-रूप की अभिव्यक्ति होने के कारण उसमें दुःख का अभाव होता है, क्योंकि संघर्ष की घोरतम विफलता भी मानस-रूप धारण करते-करते अपना दंश खो देती है।”^४

इस प्रकार मनोविश्लेषण की परम्परा पर आधृत साहित्य-विवेचना का प्रयास सर्वप्रथम नगेन्द्र ने ही किया है। यह अवश्य है कि नगेन्द्र को फ्रायड ने इतना

१. फ्रायड

२. एडलर

३. युंग

४. नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ : प्रथम संस्करण

प्रभावित कर रखा है कि वे अपने वैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति में फ्रायड के सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं कर सके। रीतिकालीन प्रमुख वृत्तियों के विश्लेषण के मूल में फ्रायडीय दर्शन की भूमिका है। नगेन्द्र ने शृंगार-भावना, उसके स्थायी भाव रति का सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया। स्थायी भाव के उत्स से सम्बन्धित उनके विचार महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है—“भाव का कारण है व्यक्ति, वस्तु व परिस्थिति, जिसे साहित्य-शास्त्र का आलम्बन कहते हैं। भाव का अनु-भूत्यात्मक रूप जो सुख-दुःखमय अथवा भिन्न भी हो सकता है, विभिन्न भावरूप जो उसके विकास का संचरण करते हैं, ये ही वास्तव में साहित्य के संचारी भी हैं।” संचारी भाव के इस विश्लेषण से मनोविज्ञान का सहयोग अपेक्षित था और नगेन्द्र ने उसका भरपूर उपयोग किया। जबसे रीतिकाल के महत्व का उद्घाटन हुआ, शृंगार के विभिन्न पक्षों के विवेचन की एक अपेक्षाकृत अभिनव परिपाटी समा-लोचना-साहित्य में प्रारम्भ हो गई। शृंगार के विभिन्न भेदोपभेदों का विश्लेषण किया गया और शृंगार के आलम्बनों के आधार पर ही उसके महत्व का विवेचन प्रस्तुत किया गया। परन्तु नगेन्द्र से पूर्व शृंगार रस के मनोवैज्ञानिक उत्स के विवेचन का एकान्त अभाव बना रहा। नगेन्द्र ने अपने प्रबन्ध और अन्य सम्पादित ग्रन्थों में शृंगार रस की मनोवैज्ञानिक आधारभूमि का निर्माण कर शृंगार की एक अभिनव व्याख्या प्रस्तुत की। विद्यापति, जयदेव, रासो तथा अन्य नायिका-भेद तथा शृंगार रस के ग्रन्थ और कवियों में तो नहीं, हाँ भक्ति-साहित्य के शुद्ध शृंगारिक पक्ष का विश्लेषण नगेन्द्र ने स्पष्ट किया कि भक्ति राग से भिन्न (भाव) नहीं, आलम्बन अपार्थिव और सहज प्राप्य न होने पर भी, अतीन्द्रियता व अतृप्ति तथा बौद्धिक तत्त्व का समावेश हो जाने पर भी, विश्वास, आस्था आदि का मिश्रण उसमें हो ही जाता है। वे स्वतः स्पष्ट करते हैं, “मीरा झुरमुट में कृष्ण से मिल चुकी है,— वहाँ आलम्बन सर्वथा स्थूल और इन्द्रियगम्य बन जाता है और भक्त उसकी सर्वथा उसी रूप में भावना, चिन्तन, उपासना करता है जिस रूप में किसी लौकिक व्यक्ति की; ऐसी दशा में उसकी भक्ति या अपार्थिव प्रेम किसी प्रकार पार्थिव प्रेम से भिन्न नहीं है—मनःस्थिति होने के कारण अतृप्त है, बस।”

रीतिकालीन कविता को एक दृढ़ आधार-भूमि प्रदान करने के पश्चात् नगेन्द्र नई कविता के वैज्ञानिक विश्लेषण और उसके औचित्य तथा महत्व-प्रतिपादन में लग जाते हैं। छायावाद जैसे उलझे और अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध विषय के विश्लेषण का आधार भी उन्होंने मनोविश्लेषण ही माना। छायावाद का मूल स्रोत युग की कुंठित काम-चेतना है, ऐसा ही उनका मत है। वास्तव में नगेन्द्र की स्थिति यहाँ और अधिक स्पष्ट और सुदृढ़ हो जाती है। प्रारम्भ में तो नगेन्द्र छायावाद

सम्बन्धी भ्रांति में उलभ गए, और उसे रोमांटिक कविता से प्रभावित प्रतिपादित किया। परन्तु छायावाद पर जिन आठ प्रभावों की चर्चा की जाती है उनमें से रोमांटिक काव्य का प्रभाव एक है और दोष प्रभावों की चिन्ताधारा और प्रेरणा-सूत्र स्वदेशी ही रहा है। यह अच्छा ही हुआ कि नगेन्द्र ने अपने मत को भ्रांति की धारा से बाहर निकाल लिया। मुझे तो लगता है कि छायावादी कवि काम-कुंठा-प्रेरित है। पंत को यदि प्रेम का और अधिक व्यावहारिक ज्ञान तथा अनुभव होता तो उन की कविता में प्रेम का वैसा उच्छृंगल और अश्लील चित्र न प्राप्त होता, जैसा 'कहारों का नृत्य', 'धोबियों का नृत्य' आदि में पानी खींचतीं ग्रामवनिताओं का हमें 'ग्राम्या' में प्राप्त होता है। शायद 'कला और बूढ़ा चाँद' में चित्रित आधी रात के समय स्त्री की नंगी जाँघों का वर्णन भी अधिक संयत होता। महादेवी वर्मा का पारिवारिक जीवन यदि तनिक और अधिक व्यावहारिक स्नेह और प्रेम से प्लावित होता, तो काव्य में उनकी रुदन-प्रियता कुछ कम ही होती।

प्रेमचन्द के साहित्य के विषय में नगेन्द्र ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं, "जीवन की काममूलक ग्रंथियाँ कहीं अधिक विषम, सूक्ष्म और गहन होती हैं। फ्रायड के सिद्धान्तों को अतिवादी मानते हुए भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि मानव-मन की अधिकांश ग्रंथियों का आधार काम है। साहित्य में भी कामाश्रित स्वप्न-कल्पनाओं का असाधारण योग रहता है। मैं समझता हूँ कि विश्व-साहित्य का वृहदंश इन्हीं काम-कल्पनाओं से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में संवर्धन प्राप्त करता है। हिन्दी में जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और बहुत अंशों में यशपाल का साहित्य भी काम-लिप्त है। प्रेमचन्द में मुख्य प्रतिपाद्य जीवन-कर्म है। उनमें शृंगार की महत्त्व-स्वीकृति निःसन्देह होती है, परन्तु वह कहीं भी अपने में स्वतन्त्र होकर प्रतिपाद्य नहीं बन जाती।"

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में वे काम-लिप्सा का प्राबल्य मानते हैं। प्रेमचन्द-साहित्य को अवश्य 'जीवन-कर्म' की सामूहिक चेतना के महत् आदर्शों से अनु-प्राणित मानते हैं। रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के विषय में उन्होंने कहा है— "अंचल की सेक्स-प्रतिक्रिया तो ऐसे व्यक्ति की है जिसकी भूख खाना खाने पर भी नहीं मिटती। स्पष्टतः यह भी एक अस्वास्थ्य का ही लक्षण है।" रामधारी सिंह 'दिनकर' के विषय में कहा गया है कि, "'दिनकर' ने अपने मन को संघर्ष-पथ का पथिक मानते हुए शृंगार को सुखद विराम-स्थल माना है।" 'नरेन्द्र' ने अहम् का समाजीकरण किया, ऐसा नगेन्द्र का मत है।

साहित्य में 'आलोचना'-विधा—उसका महत्त्व और आलोचक नगेन्द्र

सृष्टि के प्रारम्भ से ही साहित्य-सृजन का कार्य होता आ रहा है। सौ या पचास वर्षों के पश्चात् आलोचक या काव्य-विशेषज्ञ के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि पूर्व-निर्मित परम्पराओं और प्राचीन साहित्य का नवीन जीवन-दर्शन और सामाजिक परिस्थितियों के प्रकाश में अनुशीलन प्रस्तुत कर, उसके (काव्य के) समसामयिक मूल्य और क्रम के निर्धारण का कार्य करे। एक युग-विशेष में, उस समय के साहित्य के अनुशीलन के फलस्वरूप, उस युग के अनुरूप, निर्धारित आलोचना और कला के मान सार्वकालिक हो सकते हैं? यह समस्या आलोचना की आलोचना करने वालों के लिए एक अच्छी आधार-भूमि प्रस्तुत करती है। परिवर्तित युग की परिवर्तित प्रवृत्तियों में वे कहाँ तक युग का साथ न दें, रूढ़ि से बँधी प्राचीनता का पिष्टपेषण करते रहें—यह आलोचक के लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। साहित्य के नवीन मूल्यों का उद्घाटन कर, कवियों के नये क्रम को निर्धारित करना साहित्य में क्रांति न कही जाकर, सामयिक मूल्य-निर्धारण ही कहा जायेगा—ऐसा टी० एस० इलियट का मत है।^१ वास्तव में बात यह है कि साधारण पाठक की न तो दृष्टि ही इतनी सूक्ष्म होती है कि वह प्राचीन काव्य की कलात्मक और भावात्मक बारीकियों को हृदयस्थ करने में समर्थ हो सके, और न उसका मानसिक विकास ही इस स्तर का होता है कि काव्य-सृजन प्रक्रिया को समझ सके। समय की दूरी और बदली हुई परिस्थिति में कवि और पाठक के बीच काँच की एक धुँधली दीवार आ जाती है। आलोचक समय की दूरी को पाटकर प्राचीन कवि को नये युग के अनुरूप परिवर्तित कर देता है जहाँ साधारण से साधारण मानसिक विकास वाला पाठक कवि से आत्मीयता स्थापित करने में समर्थ हो सके।

समीक्षा का आधार कवि और उसकी कृति रहती है। सम्बद्ध देशों के साहित्य में समीक्षा का सापेक्षिक महत्त्व भी पैडुलम की भाँति कवि और कवि-कृति की ओर से पुनः कवि पर आ जाने वाली प्रवृत्ति का रहा है। वैज्ञानिक विवेचन पर आधृत पश्चिमी आलोचना, आज के युग में मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक विकास के सहयोग से न केवल कृति के काव्यात्मक वैभव का उद्घाटन करती है, वरन् सम्पूर्ण काव्य-रचना-प्रक्रिया का वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करती है। कवि के व्यक्तित्व की महत्ता स्वीकार करना पश्चिमी समीक्षा की देन है। इस मत पर आलोचकों में मत-वैभिन्न्य नहीं है।

संस्कृत-साहित्य में समीक्षा सूत्रात्मक भाषा के माध्यम से होती रही। कृति-विवेचन ही समीक्षक का श्रेय और प्रेय था। सूत्रात्मक परिभाषा, व्याख्या और मत-स्थापना समीक्षा के पद-चिह्न थे जिन पर संस्कृत-साहित्य के मनीषी चले। प्रारम्भ में विशिष्ट मतवाद का प्रतिपादन कर अन्य प्रचलित मतवादों को हेय प्रतिपादित करना, शास्त्रीय समीक्षा का आधार रहा है। आद्याचार्य भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक शास्त्रीय समीक्षा के विकास-क्रम में हम खंडन-मंडन की प्रवृत्ति का ही प्राबल्य पाते हैं। रस को काव्य की आत्मा प्रतिपादित करने वाले प्राचार्य अपने मत की पुष्टि श्रुतिवाक्यों से करते थे। पंडितराज जगन्नाथ ने रस को काव्य का प्राणत्व सिद्ध करने में श्रुति का यह प्रमाण दिया :—

‘ऋचामेव तद्रसेन,

यजुषामेव तद्रसेन,

साम्नामेव तद्रसेन !’

अलंकार को काव्य की आत्मा समझने वालों ने रस का पर्यवसान रसवत् प्रलंकारों में कर दिया। भामह के अनुयायी दण्डी, उद्भट और रुद्रट अलंकारवादी थे। ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना करने वाले आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना और रस तथा अलंकारवादियों की काव्य-साधना का अन्त करने में सफल हो गए। काफ़ी समय तक यह वितंडावाद साहित्याकाश में व्याप्त रहा और गृजन-कार्य अतिवाद के कारण अवरुद्ध-सा ही रहा। आगे चलकर मम्मट ने प्रायः सभी प्रचलित मतवादों का स्वच्छंद रीति से समाहार कर ध्वनि और रस के महत्त्व को स्पष्ट किया। विश्वनाथ ने ‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’^१ कहकर कविता में काव्यत्व रस के कारण ही माना। पंडितराज जगन्नाथ ने ‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’ को संकीर्ण माना और ‘रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः’^२ कहकर अपने काव्य-संबंधी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयास किया।

रीति-काल में काव्य-संबंधी विवेचन संस्कृत की ही शैली पर चला और इसलिए उस समय की समीक्षा-पद्धति में वे सभी बुराइयाँ विद्यमान थीं जो संस्कृत-समीक्षा में थीं।

२०वीं शताब्दी अनेक बातों में और अनेक दिशाओं में पूर्ववर्ती चिन्तन-तैलियों से भिन्न है। मानस-सम्बन्धी अनेक अभिनव विज्ञानों की अवतारणा के

१. छान्दोग्य उपनिषद्, ४-१७

२. अर्थात्, रसपूर्ण वाक्य-सृजन ही काव्य है।

३. अर्थात्, रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द ही काव्य हैं।

फलस्वरूप आज हमारा ध्येय भ्रांति के निराकरण और सुलभ मार्ग के अनुगमन का हो गया है। साहित्य-सृजन-प्रक्रिया के उत्स पर मनोविज्ञान के सहयोग से नवीन निष्कर्ष हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं। रस की स्थिति पर भी मनोविज्ञान ने अपनी सर्वथा नवीन उपलब्धियाँ हमारे सम्मुख रखी हैं। पश्चिमी साहित्य के अधिक निकट आ जाने के कारण तुलनात्मक समीक्षा की एक स्वतन्त्र दिशा हमारे सम्मुख थी। प्लेटो, अरस्तू, लांजाइनस, दान्ते, सिडनी, ड्राइडन, जॉनसन कॉलरिज, वर्ड्सवर्थ, शैले, मैथ्यू आर्नल्ड, काण्ट, गेटे, शिलर, युग, फिक्टे, इलियट आदि भिन्न सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक वातावरण को ध्यान में रखकर साहित्य और समीक्षा-सम्बन्धी अपनी निरपेक्ष निष्पत्तियों का प्रतिपादन करते रहे और हमारे समक्ष साहित्य का स्वरूप, समीक्षा की गति और सृजन का महत्त्व स्पष्ट होता रहा।

पश्चिमी काव्य और समीक्षा के सिद्धान्तों और पौरस्त्य काव्य और समीक्षा के सिद्धान्तों का अनुशीलन करने के पश्चात् हमारे सम्मुख एक समस्या उपस्थित होती है। दोनों का स्वरूप-समन्वय कैसे किया गया? यह कार्य जितना दुस्तर है उतना ही महत्त्वपूर्ण भी है। इस कार्य के लिए गंभीर अध्ययन, चिन्तन, मनन के साथ ही साथ काव्य की सृजन-प्रक्रिया का ज्ञान भी अपेक्षित है।

आचार्य भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक, प्लेटो से टी० एस० इलियट तक, केशव से नगेन्द्र तक—प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से हम उनकी कृतियों में समीक्षा के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास पाते हैं। युग-चिन्ता की विभिन्नता और काव्य की उत्कृष्टता तथा युग-परिस्थितियों के वैभिन्न्य के आधार पर साहित्य और समीक्षा-सम्बन्धी दृष्टिकोण में अन्तर आ जाता है। साहित्य के समृद्ध होने के बाद ही उसे विभिन्न कसौटियों पर परखा जाता है। एक और बात की ओर भी स्पष्ट संकेत कर देना अनुचित न होगा कि पूर्व और पश्चिम की समीक्षा-शैलियों में अनेक अन्तर होते हैं। अतः हमें इन अन्तरों को ध्यान में रखकर ही समीक्षा-सम्बन्धी अध्ययन करना चाहिए।

काव्य-शास्त्र में करता है। यह व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का वैभिन्न्य नहीं तो क्या है?

एक ही विषय पर परस्पर-विरोधी मतों में समाहार के लिए उच्च कोटि का मानसिक मंथन आवश्यक होता है। आज अध्ययन के प्रसार और मानसिक विकास

के फलस्वरूप हमारी समीक्षा-शैलियों में कुछ नये मोड़ आ रहे हैं। और उनमें से एक का प्रतिनिधित्व नगेन्द्र करते हैं। स्पष्ट करना आवश्यक है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पूर्व भारतीय काव्य-मत और पश्चिमी काव्य-सिद्धान्तों को पृथक्-पृथक् भाव-भूमियों पर अवस्थित कर भिन्न मानों से साहित्य का अनु-शीलन किया जाता था। डा० सूर्यकान्त ने अपने सैद्धान्तिक आलोचना-सम्बन्धी ग्रंथ में पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का ही आश्रय लिया।^१ इसमें पाश्चात्य काव्य-शास्त्र सम्बन्धी विचारों का प्रभाव साहित्यालोचन से भी अधिक है। डा० श्याम-सुन्दर दास और बाबू गुलाबराय ने यद्यपि अपने ग्रन्थों में पश्चिमी काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान का परिचय दिया, परन्तु जिस बदली हुई विवेचना-शैली का परिचय डा० देवराज ने अपने 'साहित्य और संस्कृति', 'साहित्य का प्रयोजन' में दिया और अपने मत को विश्लेषण द्वारा पाठकों के हृदय में उतारने का प्रयास किया, उसका इसके पूर्व एकान्त अभाव था।

वास्तव में पाश्चात्य और भारतीय काव्य-मतों तथा समीक्षा-शिल्पों को समाहित कर निरपेक्ष और स्वतन्त्र निष्पत्तियों की प्रवृत्ति एवं काव्य-मार्ग का निर्देश सबसे पहले आचार्य शुक्ल में मिलता है। एक युग था जब कि हम अपने देश, जाति, धर्म और साहित्य को अन्य देशीय जाति, धर्म और साहित्य से उच्चतर मानते थे। समय बदला और हीन-भावना हमारे हृदय में घर कर गई; हम अपने देश, जाति, धर्म और साहित्य को तुच्छ समझने लगे। दिनकर ने लिखा है, "हिन्दुत्व का स्वभाव रहा है कि वह कठिनाइयों के अभाव में सो जाता है और निद्रा उसकी तब टूटती है जब उसके अंग पर वज्राघात किया जाता है।"^२ राजनीति, समाज, धर्म और साहित्य के समान ही समीक्षा-शैली में परिवर्तन अचानक नहीं हो जाता। उसकी कुछ न कुछ पृष्ठभूमि होती है। शुक्लजी के कान पाश्चात्य साहित्य और समीक्षा की तारीफ़ सुनते-सुनते भर गए थे और तभी चिढ़कर उन्होंने पाश्चात्य मतों को भारतीय काव्य-मतों का विलायती उत्थान बताया। और इसी मूड में शायद उन्होंने अभिव्यञ्जनावाद को कुक्क के वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कह दिया था।^३ आज हमें ज्ञात होता है कि यह विचार कितना एकांगी है। अपने जीवन-काल में शुक्लजी शक्ति-भर पूर्व की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयास करते रहे।

१. साहित्य-मीमांसा : डा० सूर्यकान्त

२. संस्कृति के चार अध्याय : श्रीरामधारीसिंह दिनकर ; पृष्ठ ४३५

३. अभिव्यञ्जनावाद , चिन्तामणि भाग २ : आ० रामचन्द्र शुक्ल

साहित्यिक समीक्षा बौद्धिक विश्लेषण मात्र नहीं। स्वस्थ और सृजनात्मक समीक्षा के लिए पूर्ण विकसित मस्तिष्क और एक विशेष अनुभूति तथा संवेदनशील हृदय की आवश्यकता होती है। नगेन्द्र में बौद्धिक तथा भावात्मक दोनों तत्त्वों का अपूर्व संयोग है। नये युग की नवोद्भावित चेतना नगेन्द्र में ३८ के आसपास से उभरी और उनकी समीक्षा में उसे एक नयी राह मिली। आलोचना के आधेय के विषय में श्रीमती शचीरानी गुट्टू ने लिखा है :—

“इसमें संदेह नहीं कि लेखक के मनोबल पर परिस्थितियों का भारी दबाव है और वह इसे बखूबी महसूस कर रहा है, पर आलोचक का आस्थावान् हृदय अभिव्यक्ति को निरूपित करने वाली क्षमता का दिग्दर्शक होता है, अतः वह कभी भी पराजय स्वीकार नहीं करता। आलोचक का कर्तव्य है कि साहित्य के सत्य और सौन्दर्य को अधिक पूर्णता और अन्तर्दृष्टि से आँकने का प्रयास करे, उसकी समग्रता में पैठकर विषयवस्तु का अंगांगी अनुपात खोजते हुए अधिक गहराई और सशक्त रूप में उसे छुए।”

नगेन्द्र में सत्य और सौन्दर्य को पूर्णता से आँकने की क्षमता है और अपनी समीक्षा-कृतियों में वे साहित्य का कलात्मक मूल्य आँकने का प्रयास भी करते हैं। इलियट और आर्डी० ए० रिचर्ड्स ने “आलोचना का उद्देश्य किसी वस्तु के मूल्यों का निर्धारण” माना है। यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि आलोचना का सौष्ठव, उसकी अर्थवत्ता और उसका तात्त्विक आधार उसके महत्तर अन्तःसंयोजन में निहित रहता है। नगेन्द्र अपनी अन्तर्दृष्टि से न केवल साहित्य के शास्त्र और कलात्मक मूल्यों का उद्घाटन करने में सफल होते हैं, वरन् वे साहित्य की श्लाघ्य परम्पराओं की स्थापना कर आलोचना के स्तर को ऊँचा उठाने के महत् कार्य का भी सम्पादन करते हैं।

अमरनाथ जौहरी ने कहा है कि नगेन्द्र की आलोचना यथार्थ की ठोस पृष्ठभूमि पर आश्रित है। एक बात अवश्य है कि नगेन्द्र की समीक्षा में कवि के व्यक्तित्व-निर्माण का कार्य अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण रहता है। यह उनके पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन का प्रभाव है। वे कवि के जीवन की सामग्री मूलतः बाह्य प्रमाणों के आधार पर एकत्रित करते हैं, किन्तु उसके मानसिक एवं भावनात्मक अन्तर का चित्र वे कल्पना के रंगों में उभारते हैं। उनकी आलोचना में भावनात्मक सत्यान्वेषण के साथ-ही-साथ साहित्य-निर्माण करने वाले मानवीय स्थूल एवं सूक्ष्म जीवन की खोज अन्तर्हित रहती है।

एक महत्वपूर्ण बात और है जिसकी ओर ध्यान आकृष्ट कराना आवश्यक है। हमारे यहाँ भी, पश्चिम की ही भाँति, विश्लेषणवादी आलोचकों का एक ऐसा वर्ग बन गया है जो फ्रायड के पदचिह्नों का अनुसरण कर स्त्री और पुरुष के बीच स्थूल शारीरिक द्वन्द्वात्मक आकर्षण को ही सर्वोपरि मानता है। नगेन्द्र भी जीवन के प्रत्येक कार्यकलाप को 'काम-प्रेरित' 'काम द्वारा परिचालित' मानते हैं। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है :

“हमारे व्यक्तित्व में होने वाला संघर्ष मुख्यतया काममय है और चूँकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, अतः उसकी प्रेरणा में कामवृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध है।”^१

फ्रायड ने मानव-मन की मूल प्रेरक शक्ति 'काम' को माना है और इसी पर उसने अपने मनोविज्ञान का विशाल भवन निर्मित किया। वास्तव में फ्रायड का विवेचन और विश्लेषण अभिनव है और जनसाधारण को अपनी ओर आकृष्ट करने की सामर्थ्य भी उसमें विद्यमान है। नगेन्द्र भी उस ओर प्रारम्भ ने ही आकृष्ट है और तभी उन्होंने समस्त छायावादी काव्य के मूल में 'काम-प्रेरणा' का ही प्राधान्य पाया। वे तो यहाँ तक कह जाते हैं :—

“साहित्य में कामाश्रित स्वप्न-कल्पनाओं का असाधारण योग रहता है। मैं (नगेन्द्र) समझता हूँ विश्व-साहित्य का बृहद्दश इन्हीं काम-कल्पनाओं से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में मंवर्धन प्राप्त करता है।”^२

१. नगेन्द्र : विचार और अनुभूति, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३

२. नगेन्द्र : विचार और विवेचन, प्रथम संस्करण : पृष्ठ ६३

तृतीय उन्मेष
साहित्य का स्वरूप और रस-मीमांसा

साहित्य का प्रयोजन

व्यक्ति में ज्ञानोपलब्धि की प्रेरणा से सत् के अन्वेषण और जिज्ञासा की जो प्रवृत्ति आती है, उसे 'बुद्धिवाद' कहा जाता है। आज के युग में बौद्धिक विश्लेषण का प्राधान्य है। न केवल जीवन, अपितु कला का बौद्धिक विश्लेषण हमें अधिक भाने लगा है। साहित्य के प्रयोजन पर, आज के विकट बुद्धिवादी युग में अन्तिम अभिमत देना दुस्तर कार्य है। समाज बदल रहा है, उसकी मान्यताएँ और परिसीमाओं में भी परिवृद्धि लक्षित हो रही है। साहित्य, विशेषकर समीक्षा, पर प्रभाव डालने वाली सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक और साहित्य-कला की शक्तियों और स्थिति-परिस्थितियों के अनुशीलन का फल वे प्रवृत्तियाँ और वस्तुतः वे दृष्टिकोण हैं जो मानव की कृतियों में प्रेरक वृत्तियों का कार्य करते हैं। इलियट ने कहा—“जब सृजन-कार्य मद्धिम पड़ जाता है तभी समीक्षा-कार्य प्रारम्भ होता है।”^१ मेरे मत से इलियट सत्य के अधिक निकट हैं। हमारे विचारों, साहित्य और कला-सम्बन्धी मान्यताओं एवं दर्शन की चिन्तन-शैलियों में युगानुरूप परिवर्तन और परिमार्जन होता रहता है। २०वीं शताब्दी में साहित्य के प्रयोजन-सम्बन्धी अनेक मतवाद उपलब्ध हैं, और उनमें सत्यांश भी इतना ही है जितना कि आज के युग में 'मूल्यवाद' अथवा 'उपयोगितावाद'^२ में। प्रत्येक युग में समीक्षक पूर्ववर्ती मतवादों में युगानुरूप परिवर्तन कर अपने मत को अधुनातन स्वरूप प्रदान करने का प्रयास करता है।

शचीरानी गुट्टू का अभिमत तो यही प्रतीत होता है—और अपने आलोचना-साहित्य में वे उसे मानती भी दिखायी देती हैं। आज के आलोचना-क्षितिज पर दृष्टिपात करते हैं तो उसका प्रत्येक स्तर गतिमय प्रतीत होता है। युग बदला है तो युग के वैचारिक द्वन्द्व ने दृष्टिकोण भी बदले हैं। युग और जीवन से टकराकर अब तक की दबी-पड़ी कुंठाएँ चोट खाये विषधर की भाँति फन उठाये हैं।^३ शचीरानी ने, लगता है, न केवल आलोचना प्रत्युत समग्र नये साहित्य के नये

1. T. S. Eliot : The use of Poetry and the use of Criticism, 1st edition : Page 20

2. I. A. Richards : Principles of Literary Criticism.

३. शचीरानी गुट्टू : हिन्दी आलोचक, आलोचना का स्ख, प्रथम संस्करण

मूल्यों और उसके महत्त्व को स्पष्ट कर दिया है। उन्हें स्वयं स्वीकार है कि नयी चेतना में पल्लवित साहित्यकार पूर्ववर्तियों से अपने आपको उच्छिन्न करके सर्वथा नयी लीक का राही है। साहित्य के प्रति उसके दायित्व नये हैं, उसके कर्तव्या-कर्तव्य के मत नये हैं; उसके मूल्यांकन का विधान नया है। इस नवीन भूमिका पर आधृत कर नये साहित्य के मूल्यांकन का प्रयास शुक्लजी के पश्चात् प्रारम्भ हुआ, और आलोचना परम्परा की लीक से अलग हट कर साहित्यिक प्रक्रिया के सच्चे रूप में सामने आयी। समीक्षा-विकास के मूल में दो ही प्रवृत्तियों का महत्त्व बढ़ा हुआ पाया गया—अंतर्वादी और वस्तुवादी। स्वीकार कर लिया गया है कि अंतर्वादी प्रवृत्ति का मूल मनोविज्ञान है जिसमें अहंवृत्ति, आत्म-पीड़न, स्वप्न-परिपूर्ति, और दमित इच्छाओं के कारण स्व-रत्यात्मक वैयक्तिक विकृतियाँ संग्रथित हैं। कुछ आत्म-केन्द्रक समीक्षकों^१ के मनोविश्लेषण की परिसीमा सीमित कर ऐसे अन्तर्मुखी, अग्रगम्य, अशरीरी तत्त्वों की खोज की गई है कि जिनमें मानव-मन के भीतरी पतों में दबी काम-कुठाओं के विवेचन है। सच मानिये हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की जटिल और बौद्धिकता-परक अलोचना का एकान्त अभाव रहा है। रूढ़ आलोचना नये साहित्य के मूल्यांकन के लिए उसके बाहर जा पड़ती थी। सम्पूर्ण संस्कृत काव्य-शास्त्र और हिन्दी साहित्य का इन नयी भूमिकाओं के आधार पर परीक्षण आवश्यक था। नगेन्द्र ने सबसे पहली बार नयी भूमिका के स्वस्थ आधार पर साहित्य के अभिनव युगानुरूप मूल्यांकन का प्रयास किया, जो स्तुत्य भी है और सफल भी।

भारतीय काव्य-शास्त्र के विवेचन की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही दार्शनिक चिन्तन और आध्यात्मिक विवेचन की ओर रही है। हमारे सम्मुख वर्तमान भौतिक सुख और आनन्द का मोह कभी नहीं रहा। हमारा आदर्श तो वर्तमान दुःख और विपाद को भविष्य के सुख और आनन्द-कामना में पर्यवसित करने का रहा है। इसके विपरीत पश्चिमी समीक्षा में प्रारम्भ से ही नैतिक और सौन्दर्यपरक मूल्यों का आधिपत्य रहा तथा साहित्य और कला-सम्बन्धी मानदण्डों के निर्धारण में आद्याचार्य प्लेटो^२ से लेकर इलियट तक ने इनका अतिक्रमण नहीं किया।

इन्हीं उभय (नीति और सौन्दर्य के) उपकूलों के मध्य पश्चिमी समीक्षा-सरिता प्रवाहित होती रही है।

१. फ्रायड एडलर

२. प्लेटो : 'दि रिपब्लिक'

न वेत्ति शास्त्रवित् कर्म, न शास्त्रमपि कर्मवित् ।

यो वेत्ति प्रथममव्ययतत् स हि चित्रकारो वरः ॥^१

चित्रशास्त्र का ज्ञाता, चित्रकर्म या रचना नहीं जानता और चित्र-कर्म का ज्ञाता चित्र-शास्त्र नहीं जानता । मगर जो दोनों को जानता है वही श्रेष्ठ चित्रकार होता है । मैं श्री शिवनाथ के शब्दों को उद्धृत करना चाहूँ तो “साहित्य-शास्त्र का ज्ञाता साहित्य-स्रष्टा नहीं होता और साहित्य-स्रष्टा साहित्य-शास्त्रज्ञ नहीं होता । मगर जो दोनों को जानता है वह श्रेष्ठ साहित्यकार होता है । राजशेखर ने भी भावयित्री प्रतिभा और कारयित्री प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्तियों को कुशल साहित्य-शास्त्रज्ञ, सहृदय या समीक्षक और प्रभाकुशलतायुक्त श्रेष्ठ रचयिता कहा ।”^२ ‘प्रयोजन’ साहित्य-द्रष्टा का अभिप्रेत है । साहित्यकार तो कृति का निर्माण करके अपने कर्त्तव्य की इति मान लेता है; उससे किसी प्रकार प्रयोजन भी सिद्ध हो, तो और भी अच्छा । परन्तु कुशल और सफल साहित्यकार की दृष्टि प्रयोजन पर कम ही जाती है ।

एक जटिल एवं महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, तथा उसके बुद्धि-अनुमोदित उत्तर के लिए गम्भीर अध्ययन एवं मनन अपेक्षित है । पश्चिम में क्योंकि नैतिक और सौन्दर्यानुमोदित मूल्यों की महत्ता बनी रही, इसलिए सौन्दर्यपरक और उपयोगितापरक मूल्यों का प्राधान्य रहा है । एक पक्ष कलावादियों का रहा है जो कलात्मक सौन्दर्य का आग्रह कर उस साहित्य और कला को हेय दृष्टि से देखता है जिसमें कलात्मकता का अभाव हो । दूसरा पक्ष ऐसे वैचारिकों के अभिमतों से समन्वित रहा है जो साहित्य और कला में किसी बहुत उदात्त गुण की अपेक्षा न कर, जीवन में उसके सहयोग के आधार पर उसका मूल्यांकन करना उचित समझता था । उभय मतों के मूल में नीति-दर्शन, अर्थशास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र के विभिन्न मतों और पक्षों के आधार पर विवेचन प्रस्तुत कर अपने अभिमत को पुष्ट किया जाता था । विभिन्न मतवादों के साम्य और वैषम्य का अनुशीलन करने पर मूल में हम दो बातें पाते हैं—एक तो कल्याण, जिसमें आर्थिक पक्ष की महत्ता रहती है; दूसरा आनन्द, जो सौन्दर्यानुभूति की आधार-भूमि पर अवस्थित है । नगेन्द्र का स्पष्ट मत है कि वास्तव में दोनों मूल में एक हैं । आई० ए० रिचार्ड्स और प्लेटो के अभिमतों में बाह्य वैषम्य परिलक्षित होते हुए भी दोनों के मूल में साम्य है । विचार यदि अधिक स्पष्ट कर प्रस्तुत किया

१. भोजदेव : समरांगणसूत्र, ७।२५६

२. राजशेखर : काव्यमीमांसा

जाये तो उचित होगा। विचार कर देखिये कि आखिर कल्याण किसका ? व्यक्ति का, और व्यक्ति-समन्वित समाज का। अधिक स्पष्ट कर कहें तो साहित्य और कलाएँ व्यक्ति-कल्याण (अन्ततः समाज-कल्याण) की भावना से समन्वित हैं, ऐसा साहित्य-समीक्षकों के एक वर्ग का अभिमत है।

सौन्दर्यानुभूति किस लिए ? व्यक्ति के मानसिक परितोष और भावनात्मक विकास के लिए। साहित्य और कलाएँ अपने में व्यक्त सौन्दर्य के माध्यम से, व्यक्ति में सौन्दर्यानुभूति की भावभूमि का निर्माण कर उसके मानस में आनन्द-स्फुरण की भूमिका का निर्माण करती है। व्यक्ति का माध्यम दोनों अभिमतों को स्पष्ट करने में स्वीकार करना पड़ता है।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र के आधार पर काव्य के प्रयोजन-सम्बन्धी मतों को समाहित कर इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।

वैसे तो काव्य-प्रयोजन-सम्बन्धी वार्ड्स मत हैं; परन्तु उन सभी महत्त्वपूर्ण मतों का समाहार मम्मट ने उपर्युक्त श्लोक में कर दिया है।

मनुष्य के प्रत्येक कर्म का—निष्काम कर्म का भी—कुछ न कुछ प्रयोजन तो रहता ही है। शास्त्र तथा काव्य का भी निश्चित प्रयोजन होता है, क्योंकि यदि प्रयोजन ही न हो तो उसकी क्या सार्थकता ?

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् ।

यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते ॥

नगेन्द्र का अभिमत है कि काव्य के प्रयोजन का अस्तित्व तो मानना ही होगा यह दूसरी बात है कि यह प्रयोजन स्थूल और भौतिक न होकर सूक्ष्म अथवा चाहे काव्य से अभिन्न ही क्यों न हो।^१ 'काव्य का प्रयोजन काव्य' मानने वाले भी प्रयोजन के अस्तित्व का निषेध नहीं करते। वामन ने काव्य के प्रयोजन का विवेचन इस प्रकार किया है :—

प्र०—अलंकारवान् काव्य से ऐसा क्या लाभ है, जो इसके लिए इतना यत्न किया जाये ?

उत्तर—सत्काव्य, दृष्ट और अदृष्ट, दोनों प्रकार के प्रयोजन सिद्ध करता है—ये है प्रीति (आनन्द) और कीर्ति। सुन्दर काव्य का दृष्ट प्रयोजन है आनन्द,

१. नगेन्द्र : विचार और विश्लेषण, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २

२. नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका—प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२

और अदृष्ट प्रयोजन है कीर्ति ।^१

इस प्रकार वामन ने, आनन्द और कीर्ति, ये दो काव्य के मूल प्रयोजन माने हैं। भरत ने काव्य का प्रयोजन इस प्रकार व्यक्त किया है :—

धर्म्य यशस्वमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम् ।

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥^२

भरत ने धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि और उपदेश को ही काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया। अलंकार-सम्प्रदाय के प्राण-प्रतिष्ठाता भामह चूँकि अलंकारों को काव्य की आत्मा मानते थे, अतः उन्हें भरत-प्रतिपादित काव्य-प्रयोजन पूर्ण नहीं जँचा, तभी उन्होंने इस प्रकार कहा :—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।^३

करोति कीर्ति प्रीति च साधु काव्यनिवेक्षणम् ॥

नगेन्द्र के अनुसार भामह के धर्म और अर्थ भरत के धर्म और हित है। कलाओं में विलक्षणता के लिए भरत ने एक शब्द बुद्धि का प्रयोग किया है, उधर भामह ने कीर्ति और भरत ने यश शब्द प्रयुक्त किया है ।^४ उभय आचार्यों के मतों में स्पष्ट साम्य और पार्थक्य विद्यमान है। साम्य का विवेचन तो मैं नगेन्द्र के साथ ही कर चुका हूँ, वैभिन्न्य पर भी विचार कर लेना अपेक्षित होगा। भामह ने प्रीति (आनन्द) का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है, परन्तु भरत ने लोकोपदेश को भी स्वतन्त्र काव्य-प्रयोजन प्रतिपादित किया है। नगेन्द्र की धारणा है कि यह विभेद भौतिक न होकर शाब्दिक है; कारण कि लोकोपदेश (लोक-व्यवहार का उपदेश अथवा लोक का पथ-निर्देशन) का अन्तर्भाव भामह के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में हो ही जाता है। मुझे तो नगेन्द्र का यह मत भी बहुत उचित दिखता है कि रस को काव्य का मूल मानने वाले भरत ने प्रीति, आनन्द, की सर्वथा उपेक्षा नहीं की।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र में आनन्द की सबसे प्रबल प्रतिष्ठा करने वाले आचार्यों में आचार्य कुन्तक^५ अग्रणी हैं। उन्होंने अपने मत की स्थापना इन शब्दों में की है :—

१. वही, पृष्ठ १२

२. यह नाट्य (काव्य, धर्म, यश और आयु का साधक, हित और बुद्धि का वर्धक तथा लोकोपदेष्टा होगा।

३. सत्काव्य के सेवन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति, कलाओं में निपुणता, कीर्ति तथा प्रीति की उपलब्धि होती है।

४. नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३

५. सं० नगेन्द्र : वक्रोक्ति-काव्यजीवितम्

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।

काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥^१

धर्मादि की प्राप्ति, व्यवहार का सुन्दर ज्ञान तो काव्य के प्रयोजन के अन्तर्गत समाहित किया ही जा चुका था, सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि काव्यामृत के रस से चतुर्वर्ग-फल की प्राप्ति से भी बढ़कर अन्तश्चमत्कार की उत्पत्ति होती है। ऐसा ही आचार्य कुन्तक के मत का प्रतिपाद्य प्रतीत होता है। बाद में तो ऐसा कुछ हुआ कि इन्हीं वर्णित प्रयोजनों में से विभिन्न अवयवों को समाहित कर विभिन्न मतों की स्थापना का प्रयास होने लगा। भोज ने भामह और वामन की प्रीति और कीर्ति का उल्लेख इस श्लोक में किया :—

अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम् ।

रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥^२

यह तो मैं बतला चुका हूँ कि मम्मट ने अपने समय तक के सभी मतों का समाहार यश, अर्थ, व्यवहार, ज्ञान, अशिव-क्षति, तात्कालिक आनन्द और कान्ता-सम्मिति इन छह काव्य-सम्बन्धी प्रयोजनों में किया।^३ परीक्षा करने पर मम्मट का मत अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से मूल में भिन्न नहीं है। नगेन्द्र इसे एकांगी और आकस्मिक मानते हैं।^४ तथा उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि वह आज के युग में विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। वास्तव में बात यह है कि मम्मट का विवेचन स्थूल है तथा जिन्हें मम्मट ने काव्य का प्रयोजन कहा, एक तो यह कि वे प्रयोजन न होकर काव्य के फल अधिक प्रतीत होते हैं। मेरे मत से विश्वनाथ का यह समाहार वाला निर्देश ही उचित है :—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिमुखादल्पक्रियामपि ।

विश्वनाथ ने चतुर्वर्ग को काव्य का उद्देश्य और सुख को उसकी विधि बतलाया है।

नगेन्द्र की निष्पत्तियाँ इस प्रकार हैं :—

भरत से लेकर मम्मट तक आचार्यों ने काव्य-प्रयोजन का विवेचन कवि और

१. सं० नगेन्द्र : वक्रोक्तिकाव्यजीवितम्

२. भोजदेव : सरस्वतीकण्ठाभरण

३. काव्यं यशसेऽर्थं कृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

४. भरत, भामह

५. नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १४

सहृदय दोनों की दृष्टि से ही किया है ।^१ भग्न-निर्दिष्ट प्रयोजनों में हित, बुद्धि-वर्धन तथा लोकोपदेश तो सहृदय दृष्टि से रखे गए हैं—यश कवि की दृष्टि से और धर्म कदाचित् दोनों की दृष्टि से ही । एक बात तो हमें स्वीकार करनी ही पड़ती है कि नगेन्द्र की विश्लेषणात्मक शक्ति उच्च कोटि की है । भामह की कारिका का विश्लेषण वे इस प्रकार करते हैं कि उसमें (भामह की कारिका में) कलाओं में विलक्षणता तथा प्रीति पाठक के लिए, कीर्ति कवि के लिए तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष दोनों के लिए कहे गए हैं । वामन ने काव्य के केवल दो प्रयोजन माने । वामन की वृत्ति से प्रतीत होता है कि साधारणतः कीर्ति कवि की मिद्धि और आनन्द पाठक का प्राप्य है, तथापि मूलतः इन दोनों की व्यवस्था कवि और पाठक दोनों के लिए ही की गई है ।

नगेन्द्र का मत है कि यद्यपि वामन का दृष्टिकोण शास्त्रीय रहा, पर उसमें दार्शनिकता और तात्त्विकता का एकान्त अभाव ही बना रहा । नगेन्द्र कहते हैं कि कीर्ति के प्रति मनुष्य में एक बड़ी एषणा रहती है, और कवि के लिए भी वह बाह्य दृष्टि से एक प्रबल प्रलोभन है ही—परन्तु फिर भी काव्य का वह आधारभूत प्रयोजन नहीं माना जा सकता ।

आधुनिक काव्य-शास्त्र में काव्य के मूलतः दो प्रयोजन स्वीकार कर लिये गए हैं :—

- (१) व्यक्तिगत आनन्द, और
- (२) समष्टिगत लोक-कल्याण ।

भारतीय काव्य-शास्त्र में वर्णित प्रयोजनों का भी इसी प्रकार वर्गीकरण सम्भव है । नगेन्द्र कहते हैं—प्रीति, बुद्धि-वर्धन और कला-नैपुण्य व्यक्तिगत सिद्धियाँ हैं ; लोक-व्यवहार, लोकोपदेश, हित आदि सामाजिक हैं ।^२ कीर्ति और अर्थ की भी गणना व्यक्तिगत सिद्धियों के अन्तर्गत की जा सकती है, परन्तु नगेन्द्र उन्हें काव्य की सिद्धियाँ मात्र मानते हैं—लक्ष्य नहीं । वामन ने सामाजिक पक्ष की पूर्ण उपेक्षा की—प्रीति और कीर्ति की अपेक्षा कम महत्त्व देकर व्यक्तिगत पक्ष को भी वांछित गौरव और महत्त्व प्रदान नहीं कर सके । मेरे मत से इसका कारण केवल एक ही हो सकता है कि वामन की संकुचित दृष्टि मूल तत्त्वों तक नहीं जा सकी । नगेन्द्र साहित्य को मूलतः एक व्यक्तिपरक प्रतिक्रिया मानते हैं । बात कुछ ऐसी ही है कि व्यवहार या ज्ञान का साहित्य प्रायः जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओं की

१. नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १४

२. नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १६

पूर्ति करता है, और जिस तरह हम जीवन के अन्य व्यवहारगत स्थूल साधनों का निर्माण, संघटन अथवा आलोचन-नियोजन करते रहते हैं, इसी तरह उनसे सम्बद्ध साहित्य का भी निर्माण किया जा सकता है और किया भी जाना चाहिए, ऐसा अभिमत उन्होंने एक भाषण में व्यक्त किया था।

बात यदि स्पष्ट कर कह दी जाये तो मैं कहना चाहूँगा कि शब्दों के अर्थों पर आलोचना का महत्त्व निर्भर रहता है। एक शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है। साहित्य के आधेय पर प्रायः सभी काव्य-शास्त्रों में विवेचन होता रहा; किसी ने उसे 'रस का साहित्य' कहा, किसी ने 'शक्ति का साहित्य' कहा; 'प्राचीन अलंकार-शास्त्र ने उसे 'काव्य' नाम से अभिव्यक्त किया तथा आज का आलोचना-साहित्य उसका अभिनव नामकरण करता है 'सृजन का साहित्य'। इन विभिन्न प्रवादों पर विचार न करने पर साहित्य-प्रयोजन-सम्बन्धी विवेचन अपने-आप में अपूर्ण ही रह जायेगा।

'सृजन का साहित्य' आज का सबसे नवीन मत है। यदि तनिक-सी भी अन्तर्दृष्टि रखकर विचार किया जाये तो ज्ञात होगा कि सृजन के साहित्य का निर्माण—यह उक्ति ही स्व-विरोधी उक्ति है। नगेन्द्र मानते हैं कि सृजन किया नहीं जाता, होता है। चेष्टापूर्वक, योजना के अनुसार, निर्माण किया जाता है। नगेन्द्र यह भी मानते हैं कि हमारा प्रयत्न साहित्य-सृजन के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ ही उत्पन्न कर सकता है।

रस का स्वरूप

मनोविज्ञान के गम्भीर अध्येता बानू गुलाबराय ने 'रस' विषय को नवीन छाया में देखते हुए यह अनुभव किया कि "रीति-ग्रन्थों में जो नवरस-वर्णन है उसके आधार पर भावों का मनोविज्ञान भली-भाँति समझा जा सकता है।"^१ गुलाबराय जी ने यथाशक्ति प्रयास किया कि नवरसों के विवेचन में जो मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त प्रसुप्त पड़े हैं, उनका उद्घाटन कर दिया जाये। वे अपने मनोवैज्ञानिक विवेचन में कहाँ तक सफल अथवा असफल हुए, यह कहना तो मेरी सामर्थ्य के परे है; परन्तु मैं इतना अवश्य कहूँगा कि साहित्यिक दृष्टि से काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण जब तक नगेन्द्र द्वारा प्रस्तुत नहीं हुआ, गुलाबराय जी का प्रयास स्तुत्य होते हुए भी अपूर्ण ही रहा। पूर्ण तो वह तब हुआ जब कि नगेन्द्र ने कवि-कल्पना के

१. डी० क्विन्सी

२. गुलाबराय : नवरस, प्रथम संस्करण

महत्त्व को प्रतिपादित कर शुक्लजी के साधारणीकरण के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयास किया। डा० ओम्प्रकाश का मत वैसे पर्याप्त संयत है जब वे कहते हैं कि “रीतिकाल में रस की इतनी अतिरसता हुई कि वर्तमान वैज्ञानिक युग में लोग काव्य और रस को व्यावहारिक समझने लगे।”^१ गुलाबराय का प्रयास तो नवरस का अध्ययन विद्यार्थियों को जीवित मानव-समाज और उसके काव्यमय चित्रों की रचि के समझने में सहायक होने के उद्देश्य से ही था। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो काव्य-शास्त्र की उपेक्षा की, इसलिए उनकी निष्पत्तियों में अपूर्णता का दोष बना रहा। द्रष्टव्य है कि नगेन्द्र ने रीति और काव्य-शास्त्र के समन्वय द्वारा, युग के चले आते विवेचन में अभिनव महत्त्व की सृष्टि की। वास्तविक जीवन में दुःख और अभाव की सत्ता तथा महत्त्व को स्वीकार कर लेने के बाद भी, मनुष्य स्वभाव से आनन्द की ओर आकृष्ट होने लगता है। जीवन उन सभी तत्त्वों से समन्वित है जिसे वह नहीं चाहता, और उसमें उमका एकान्त अभाव है जिससे उसका मोह है। विश्व-साहित्य में साहित्य तथा कलाओं के आनन्द का विवेचन प्रारम्भ से ही एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने कहा है कि रस का महत्त्व अनादि काल से प्रतिपादित है।^२ श्रुति में वह इस प्रकार अभिव्यक्त है :—

“रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्धवानन्दी भवति।”^३

वेदव्यास द्वारा भी रस के सर्वोपरि महत्त्व को स्वीकार कर लिया गया है :

“वाग्वेदस्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।”^४

साहित्याचार्यों में आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ध्वनि-सिद्धान्त का मूल तत्त्व रस को ही स्वीकार किया है। उन्होंने वाल्मीकि-रामायण के—

“मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥”

को काव्य की आत्मा स्वीकार कर इस प्रकार कहा है :—

“यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते।”^५

१. सं० शचीरानी गुप्तः : हिन्दी आलोचक, डा० ओम्प्रकाश का निबन्ध, प्रथम संस्करण : पृष्ठ २०३

२. कन्हैयालाल पोद्दार : संस्कृत-साहित्य का इतिहास, द्वितीय संस्करण, सं० २०११ भाग २, पृष्ठ ३६

३. तैत्तिरीय उपनिषद्, ८।११

४. अग्निपुराण, ३३७।३३

५. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, पृष्ठ २२१

आनन्द के विषय पर पश्चिम में पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाता रहा है। वास्तव में काव्यशास्त्र पर स्वतंत्र एवं निरपेक्ष रूप से विवेचन तो हमें अरस्तू के पश्चात् ही प्राप्त होता है ; परन्तु तथ्य और कल्पना का प्रतिद्वन्द्व, जो आगे चलकर विवेचन-केन्द्र बन जाता है, प्रत्येक युग में और प्रत्येक देश में उपस्थित होता आया है। होमर, जार्जिअस, एरिस्टोफेनीज़, एस्काइलस प्रभृति दार्शनिक काव्य-विचारकों ने प्रकारान्तर से काव्य के आनन्द पर अपने स्पष्ट अभिमत व्यक्त किये।^१ प्लेटो नैतिक मूल्य-प्रतिपादन में इतना रूक्ष हो गया कि वह काव्यानन्द को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं कर सका। सर्वप्रथम अरस्तू ने सौन्दर्य और आनन्द पर अपने अभिमत व्यक्त कर पश्चिम में काव्य-शास्त्र की एक सुनिश्चित विकास-परम्परा की नींव डाली है।^२ यूनान के पश्चात् रोम संस्कृति और साहित्य का केन्द्र बना। रोमी संस्कृति के मूल आधार की औचित्यमूलक गरिमा और प्रासंगिक संदर्भ में सिसरो और होरेस ने आनन्द-तत्त्व का विवेचन प्रस्तुत किया।^३ लांजा-इनस ने उदात्त-विषयक परिकल्पना के संदर्भ में आनन्द के महत्त्व का प्रतिपादन किया और प्रकारान्तर से ही उसे काव्य का प्राण-तत्त्व स्वीकार किया।^४

साहित्य-शास्त्री इस विषय पर एकमत हैं कि साहित्य में एक प्रकार का आनन्द (रस) अवस्थित है। रस भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम शब्दों में से है और उसके चार शाब्दिक अर्थ प्राप्त होते हैं :—

- (१) पदार्थ का रस : अम्ल, तिक्त, कषाय आदि।
- (२) आयुर्वेद का रस (पारद)।
- (३) साहित्य का रस (आनन्द)।
- (४) मोक्ष या भक्ति का रस।

डा० नगेन्द्र का मत है कि ऋग्वेद से लेकर 'महाभारत' तक रस के लगभग सभी अर्थों की उद्भावना हो चुकी थी। परन्तु फिर भी रस की साहित्यिक स्थिति भरत के पूर्व मानना शंकाग्रस्त विषय है। कहा जाता है कि भरत के नाट्य-शास्त्र में ही रस का शास्त्रीय रूप स्पष्ट हुआ। जिस प्रकार अनेक प्रकार के व्यंजनों से युक्त अन्न का भोग करते हुए स्वस्थ पुरुष आनन्द की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव, संचारी भावों से सम्पन्न स्थायी भावों का आस्वादन करते हुए

१. एटकिन्स : ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज़्म, पृष्ठ ४३०

२. Humphrey House : Aristotle's Poetics.

३. ओरेटरी, १।१२

४. डब्लू० रोकर्ट्स : ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज़्म, पृष्ठ १६० एवं १६५

सुहृज्जन रस का आनन्द लेते हैं ।' नाट्य-शास्त्र में भरत मुनि का उल्लेख है—

यथा बहुद्वययुतैर्व्यंजनं बहुभिर्युतम् ।

आस्वादयन्ति भुञ्जाना भुक्ते भुक्तविदो जनाः ॥

भावाभिनयसंबद्धाः स्थायिभावास्ततो बुधाः ।

आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाद्यरसाः स्मृताः ॥

और फिर तो भरत का सूत्र-वाक्य^१ रस-विवेचन का मूल वाक्य बन गया और समीक्षा का आधार भी स्वीकार कर लिया गया । पर मेरा मत इससे भिन्न है । मेरे मत से भरत का अभीष्ट, रस-विवेचन न होकर, रूपक (काव्य)-विवेचन था । रस की स्थिति उन्होंने नाटक के माध्यम से ही स्पष्ट की । तभी न रस की अपेक्षा वाचिक अभिनय को अधिक महत्त्व प्रदान कर प्रतिपादित किया । डा० नगेन्द्र नन्दिकेश्वर को प्रथम रसाचार्य मानते हैं ; यद्यपि उनका आचार्यत्व प्रमाण-पोषित नहीं, परन्तु फिर भी राजेश्वर उनके आचार्यत्व का साक्षी है ।

भरत की रस-सूत्र की व्याख्या करने पर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है—ऐसा ही भाव प्रकट होता है । विभाव, रति, करुणा, क्रोध आदि भावों के उत्स हुआ करते हैं, एवं उन्हें दो भागों में विभक्त किया गया है :—

(१) आलम्बन—जो भाव के आधार होते हैं, और

(२) उद्दीपन—जो भावों को उद्दीप्त करने का कार्य करते हैं ।

इनमें उन सभी वस्तुओं और व्यक्तियों का समावेश हो जाता है जो मूल भाव उद्दीप्त करने में सहायता देते हैं । अनुभाव भाव और अनुभूति को व्यक्त करने वाले कार्य हैं । इस रसानुभूति की प्रक्रिया में कुछ ऐसे अस्थायी भावों का भी समावेश कर लिया गया जो अपनी अस्थायी उपस्थिति से मूल भाव को पुष्ट करने का कार्य करते हैं । संक्षेप में यही रसानुभूति की प्रक्रिया है । विभाव, रति, करुणा, क्रोध का पात्रों पर प्रगट होना, उनका वातावरण, दृश्य और व्यक्तियों द्वारा पुष्ट होना, और इस अकथ आनन्द की सम्प्राप्ति कराना ।

रंगमंच पर हम तो प्रमुख पात्र के आंगिक और वाचिक अभिनय द्वारा किसी भाव की अभिव्यक्ति का दृश्य देखते हैं । जो भाव पात्रों द्वारा अभिव्यक्त किया गया, वह प्रसुप्त रूप में हमारे हृदय में भी अवस्थित है । उसे मंच पर प्रदर्शित

१. डा० भगीरथ मिश्र : काव्यशास्त्र, पृष्ठ २५३, प्र० सं० १९५७

२. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।

३. नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३३

देखकर हमारे मन का अन्तर पार कर, प्रदर्शित दृश्य हमें उन्मुक्त कर आत्मविभोर कर देता है। यही आनन्दमयी चेतना रस है।^१ ऐसा डा० शंकरन का मत है। डा० नगेन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा, “आलम्बन से उद्बुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त, व्यभिचारियों से परिपुष्ट तथा अनुभावों से परिव्यक्त सहृदय का स्थायी भाव ही रस-दशा को प्राप्त होता है।^२ यथा—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।

रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ॥

रस क्या है?—विद्वानों ने इसका अनेक प्रकार से उत्तर दिया है और ये उत्तर इतने रूढ़ हो गए हैं कि हम उन्हें अपने अनुभव के साथ मिला नहीं पाते। रस की धारणा को स्पष्ट करने का कुछ इतना बौद्धिक प्रयास हुआ कि हम उसको अत्यन्त शास्त्रीय, टैक्निकल और दुरूह वस्तु समझने लगे हैं।^३ इसमें सदेह नहीं कि रस को लेकर विद्वानों ने जो गम्भीर विवेचना प्रस्तुत की, उसका ऐतिहासिक विकास-क्रम में कलात्मक और शास्त्रीय महत्त्व है। परन्तु साधारण जीवन में, रस की ये व्याख्याएँ ‘मधवा मूल, विडौजा टीका’^४ की कहावत चरितार्थ करती है। इस प्रकार की टीकाओं और व्याख्याओं का एक परिणाम तो यह हुआ कि जो रस जीवन का आनन्द है, जिसकी हमें आत्मा के विकास, सामूहिक उल्लास, व्यापक संवेदनशीलता के प्रसार और मानसिक संस्कार के लिए आवश्यकता रही है वह एक दुरूह, शास्त्रीय और अव्यावहारिक वस्तु बन गई। दूसरे परस्पर-विरोधी मतों का इतना प्राबल्य हो गया कि सत्य आवृत हो गया। रस की स्थिति के विषय में भारतीय आचार्यों में मतैक्य नहीं है। भरत-सूत्र की व्याख्या अपने विशिष्ट मत के प्रतिपादन-हेतु की गई। नाटक में ऐतिहासिक पात्र होते हैं, उनका अभिनय करनेवाले नट-नटी अथवा नायक-नायिका होते हैं, और दर्शक तथा एक पक्ष उस नाटक के प्रणेता का भी होता है। इस प्रकार चार निरपेक्ष, स्पष्ट पक्षों में रसानुभूति किस पक्ष की होती है—संस्कृत साहित्य-शास्त्र में इस पर विमर्श होता रहा। भट्ट लोल्लट से पण्डित रामचन्द्र शुक्ल तक ने इस समस्या के निदान का प्रयास किया, पर पाक्षिक मत देने के सिवाय सर्वस्वीकृत मत देने में असफल रहे। मनोविज्ञान के अध्ययन और मनोविश्लेषण की सम-

1. Dr. Shankaran : Some aspects of Literary Criticism in Sanskrit. 1st edition : Page 15.

२. डा० नगेन्द्र : रीतिकान्त्य की भूमिका, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३७

३. डा० भगीरथ मिश्र, काव्यशास्त्र, पृ० २५२

४. डा० भगीरथ मिश्र, काव्यशास्त्र, पृ० २५२

स्याओं ने अपनी पृथक् निष्पत्तियों से विभिन्न निष्कर्ष हमारे सम्मुख प्रस्तुत किये। रस की स्थिति के प्रश्न पर अनेक भारतीय आचार्यों के मतों का तात्त्विक विवेचन करने के उपरान्त नगेन्द्र भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मत से सहमत होते दिखलायी पड़ते हैं तथा इस सहमति को वे मनोविज्ञान द्वारा पुष्ट करते हैं। रस की स्थिति पर अधिक विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

भरत-सूत्र^१ की सर्वप्रथम व्याख्या और विवेचन प्रस्तुत करने वाले आचार्य भट्ट लोल्लट हैं। इन्होंने अपना मत स्पष्ट व्यक्त किया कि वास्तविक आनन्द (रस) की अनुभूति नायक-नायिका (ऐतिहासिक पात्र) ही करते हैं। डा० नगेन्द्र ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' को उद्धृत कर भट्ट लोल्लट के मत को स्पष्ट किया कि भट्ट लोल्लट रस की स्थिति ऐतिहासिक पात्रों (दुष्यन्त-शकुन्तला) में ही मानते हैं। उनके मत से तो कालिदास-निर्मित दुष्यन्त-शकुन्तला और ऐतिहासिक दुष्यन्त-शकुन्तला का रूप एक ही है। भट्टलोल्लट का मत आरोपवाद है। आरोप का वास्तविक अर्थ होता है कि किसी एक वस्तु को वस्तुतः न हुई दूसरी वस्तु मान लेना। अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि जैसे दुष्यन्त-रूपधारी नट को दुष्यन्त से भिन्न जानते हुए भी दुष्यन्त मान लेना। यद्यपि सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने यह स्पष्टीकरण किया, जो त्रुटिपूर्ण है। वास्तव में जब तक भेद का ज्ञान बना रहेगा, रस-निष्पत्ति हो ही नहीं सकती। सेठजी वास्तव में इस तथ्य को विस्मृत कर गए। वैसे सेठजी का विवेचन न तो पूर्ण है और न उसमें आधुनिक वैचारिक वातावरण का पुट है, जिसके अभाव में कोई सिद्धान्त या विवेचन हमें आकृष्ट करने में असफल ही रहेगा।

डा० नगेन्द्र के मत से भट्ट लोल्लट के मत में नैतिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष शून्य है। दूसरे के (दुष्यन्त-शकुन्तला के) रस को देखकर सामाजिक रस का अनुभव कैसे करेगा? नगेन्द्र का यह आक्षेप वास्तव में उचित है।^२ मनोवैज्ञानिक और नैतिक आक्षेप इस प्रकार हैं :—

शृङ्गार रस के विषय में दूसरे को इस दशा में देखना अनुचित और अनैतिक है। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी दूसरे के प्रेम-मिलन का आनन्द देखकर आनन्द ही प्राप्त हो, ऐसा आवश्यक नहीं; द्वेष, लज्जा और विरक्ति भी हो सकती है।

भट्ट लोल्लट ने सामाजिकों के आनन्द तथा नट-नटी की रसानुभूति की उपेक्षा की, और नगेन्द्र के अनुसार ऐतिहासिक पात्रों में रस की अवस्थिति मानने के

१. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

२. कन्हैयालाल पोद्दार : संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ७१, ७२, ७३; द्वितीय संस्करण, स० २०११।

कारण सौन्दर्य और रस को विषयगत माना और काव्य-विषय की महत्ता प्रतिपादित की ।

शंकु भरत-सूत्र का दूसरा मीमांसक हुआ । नैयायिक शंकु ने भट्ट लोल्लट के आरोप का खण्डन कर 'चित्र-तुरंग न्याय' के आधार पर अपने अनुमानवाद की स्थापना की—ऐसा अभिमत सेठजी ने व्यक्त किया है । सामाजिक अश्व का चित्र देखकर, (यह अश्व है)—की भ्रांति के आधार पर नट को ही दुष्यन्त अनुमानित कर, स्थायी भाव का अनुमान कर लेते हैं । सेठजी शंकु के अभिप्रेत मत को इस प्रकार अस्वीकार करते दिखायी देते हैं कि अनुमान रस आस्वादन-संभाव्य नहीं । एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भरत-सूत्र में आये शब्द 'निष्पत्ति' और 'संयोग' के अनेक अर्थ लगाने के कारण मत-वैभिन्य बढ़ा । शंकु ने निष्पत्ति का अर्थ अनुमित किया । रस का अनुमान किया जाता है, वह उत्पन्न नहीं होता । वह भट्ट लोल्लट के समान रस की स्थिति ऐतिहासिक पात्रों में मानकर चलता है, पर लोल्लट की अपेक्षा सामाजिकों के महत्त्व को अधिक बढ़ा देता है, यह कहकर कि प्रेक्षकों का आनन्द प्रत्यक्ष देखने से नहीं, प्रत्युत अनुमान से होता है । प्रश्न उपस्थित होता है जिनको हमने देखा नहीं, उनके विषय में अनुमान कैसा ? नगेन्द्र कहते हैं, शंकु शायद ऐसा कल्पना से कहता है । पर चाहे जो कुछ भी हो, शंकु का मत मनोविज्ञान की परिधि के बाहर जा पड़ता है । शंकु ने रस की प्रतीति न मानकर 'चित्र-तुरंग न्याय' के आधार पर इसका अनुमान संभाव्य माना । नगेन्द्र के मत से शंकु ने रसास्वादन के विवेचन में विशेष योग नहीं दिया । उसकी केवल एक ही देन है, वह यह कि नट-नटी के अभिनय-कौशल का आनन्द भी रसानुभव में महत्त्वपूर्ण योग देता है । अप्रत्यक्ष रूप से उसका योग यह है कि उसने रस-सिद्धान्त को पूर्णतः वस्तु-परक स्थिति से हटाकर व्यक्ति-परक स्थिति की ओर बढ़ाया ।^१ काव्य-नाटकों के सौन्दर्य के विलक्षण प्रभाव द्वारा अनुमान किया गया आनन्द भी सहृदय सामाजिकों की वासना के कारण आस्वादनीय बन जाता है; क्योंकि काव्य में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से गम्य-गमन भाव के सम्बन्ध से और शिक्षित नट के कार्य-कौशल से प्रदर्शित किये जाने के कारण विभावादि कृत्रिम होने पर भी काव्य के अनुसन्धान-बल से कृत्रिम नहीं समझे जाते ।^२

भट्टनायक भरत-सूत्र की अभिनव व्याख्या करते हैं । उन्होंने ध्वनिकारों का

१. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४२

२. कन्हैयालाल पोद्दार : संस्कृत-साहित्य का इतिहास, द्वितीय संस्करण, सं० २०११, पृ० ४६

विरोध तो किया ही, साथ ही लोल्लट और शंकुक के मतों का भी तर्कयुक्त खण्डन किया। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि रस अलौकिक है, उसका न ज्ञान होता है, न उत्पत्ति, न अभिव्यक्ति। लोल्लट और शंकुक से कुछ आगे बढ़कर भट्टनायक रस-स्थिति के उत्स का उद्घाटन करते हैं। उनके द्वारा उठायी गई समस्याएँ वास्तव में जीवित समस्याएँ थी। पहली बात उन्होंने कही कि जब रस दूसरे के भाव के ज्ञान से प्रगट होता है तो मंच पर बिलखते पात्र कैसे हमारे हृदय में आनन्द के भाव की प्रखवणा करने में समर्थ हो सकेंगे? इस प्रश्न के उत्तर में नगेन्द्र कहते हैं कि सामाजिक को शोक का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, उसे वह कल्पना के माध्यम से प्राप्त होता है।^१ दूसरे नाटककार का अपना स्वतः का सृजन-अनुभव या अनुभूति की सफलता का आनन्द अनाहित रहता है। इस संकर-सृष्टि के कारण ही, अर्थात् दूसरे के दुःख के प्रत्यक्ष अनुभव का अभाव, अर्थात् शोक या दुःख के सफल भावन की अनुभूति के कारण सामाजिक अनुभव आनन्द-रूप ही होता है—नाटक चाहे सुखात्मक हो या विषादात्मक। भट्टनायक के अनुसार काव्य की तीन शक्तियाँ हैं :—

- (१) अभिधा,
- (२) भावकत्व,
- (३) भोजकत्व।

अभिधा शब्दार्थ-ग्रहण कराने में सहयोग करती है, भावकत्व से अर्थ का बोध होता है, और अर्थ-बोध होने के बाद व्यक्तिगत अनुभूति का नाश हो जाता है और भाव साधारणीकृत रूप में हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष होते हैं। भट्टनायक के मतानुसार यह रसानन्द निर्वैयक्तिक, सत्त्वोद्रेकयुक्त, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्श-शून्य, संविद्विश्रान्ति-युक्त होने के कारण 'परब्रह्मास्वाद-सहोदर' कहा जाता है। यथा :—

अभिधातो दित्येनाशेन भावकत्व व्यापारेण भाग्यमानो

रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोनुबेधवैचित्र्यवत्ताप् विस्तार—

विकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेक स्वप्रकाशानन्दमय निज संविद्विश्रान्तिलक्षणेन,

परब्रह्मास्वादसंविधेन भोगेन परं भुज्यन्ते इति।

—भट्टनायक : हृदयवर्षण।

यह मत भुक्तिवाद है। भट्टनायक ने साधारणीकरण के द्वारा रसानुभूति के रहस्य को स्पष्ट करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। “भट्टनायक ध्वनि-विरोधी आचार्य थे, अतः उन्होंने भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की कल्पना की, जिसकी

आवश्यकता ध्वनिवादी समालोचक अभिनवगुप्त ने स्वीकार नहीं की।^१ वास्तव में भट्टनायक का मत तथ्यपूर्ण होते हुए भी दार्शनिक है, इसीलिए उन्होंने सत्त्वोद्रेक द्वारा रसानुभूति की व्याख्या की, जो सांख्य-दर्शन से सम्बन्धित है। परन्तु क्योंकि रसानुभूति एक यथार्थ शारीर-मानस-व्यापार है, अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसके विश्लेषण की आवश्यकता बनी रही, जिसे डा० नगेन्द्र ने पूर्ण किया। भट्टनायक ने साधारणीकरण के प्रतिपादन द्वारा एक बहुत बड़े अवरोध को भंग कर दिया, जो नाट्य-रसानुभूति की प्रक्रिया को समझने में बाधक था। अतएव भट्टनायक का इस दिशा में महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक कार्य है। भट्टनायक ने इसे विषयगत न मानकर विषयीगत माना, तथा अभिनवगुप्त के साधारणीकरण के सिद्धान्त के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

‘रस’ विषय पर भारतीय कला, विशेषकर चित्रकला, के विवेचन का अनुशीलन आवश्यक है। भगवद्गीता के अनुसार ‘सत्त्व’, ‘रजस्’ तथा ‘तमम्’ प्रकृति-उत्पन्न ‘गुण’ (भाव) हैं जो मानव-शरीर से दृढ़ता से संलग्न हैं, जिसका ‘सत्त्व’ उसकी शुद्ध प्रकाशमय तथा स्वस्थ अभिव्यक्ति का रूप है और बुद्धि के अनुराग से सीमित है। ‘रजस्’ की प्रकृति क्रोधी होने के कारण जीवन-तृष्णा के अनुराग का स्रोत बनी हुई है। ‘तमम्’ की उत्पत्ति अज्ञान, आलस्य तथा अनुत्साह से है। ‘संस्कृत काव्य-अलंकार-शास्त्र’ के अनुसार इन तीन मूल तत्त्व विषय-गुणों को ९ विभिन्न प्रकार के रस-भावों में विभाजित कर सकते हैं :—

‘सत्त्व-गुण’ में प्रधान रूप से तीन रूप होते हैं :—

- (१) ‘शान्त-रस’, जो जीवन पर दार्शनिक दृष्टिकोण रखते हुए चित्त में शान्ति उत्पन्न करता है;
- (२) ‘करुण रस’, जो किसी साथी की मृत्यु अथवा उसके दुर्भाग्य के कारण उत्पन्न हो;
- (३) ‘वात्सल्य रस’ जो सब जीवों की ओर प्रेम अथवा अनुराग उत्पन्न करे।

‘रजोगुण’ के रूप यों हैं :—

- (१) ‘वीर-रस’, वीरता-अभिव्यंजना तथा साहस जिसके द्वारा मनुष्य अपने देश, स्वदेश-भक्ति, दान तथा अन्य नीतिशास्त्र-सम्बन्धी कार्यों के लिए लड़ते हैं;
- (२) ‘शृंगार-रस’ अथवा ‘आदि-रस’ जिसके द्वारा स्त्री-पुरुष में जीव-विद्या-

सम्बन्धित पुनरुत्पत्ति की आवश्यकता के फलस्वरूप प्रेम उत्पन्न होता है;

(३) 'हास्य रस', जो हास्य तथा रसिकता उत्पन्न करे।

'तमोगुण' के रूप यों हैं :—

(१) 'अद्भुत रस' अर्थात् हमारे चित्त में आश्चर्य तथा अस्थिरता का तत्त्व;

(२) 'बीभत्स रस', जिससे घृणा उत्पन्न हो;

(३) 'रौद्र रस', अर्थात् भयानक अभिव्यक्ति।

असितकुमार हालदार का मत है कि “(ये) तीनों रस एक बालक अथवा गुफा-निवासी मानव के मनोवैज्ञानिक शुद्ध तथा आदिम अभिव्यंजन हैं। उसमें क्रोध, गर्व तथा विनाशकारी तत्त्वों का समावेश था। कोई कलाकार चाहे वह आधुनिक विचार-पद्धति का योरोपीय हो अथवा भारतीय कला के आध्यात्मिक आदर्श का अनुसरण करता हो, इन गुणों और भावों से बच नहीं सकता।” वाल्मीकि ने रामायण में काव्य के लक्ष्य और उद्देश्य की व्याख्या करते हुए इस प्रकार लिखा है :

“जीवन की अभिव्यक्ति के विभिन्न प्रकार के गुणों के अनुचयन द्वारा सम्य मानव ने अनेक सांकेतिक चिह्नों तथा कलाकृतियों का अन्वेषण किया। यह अवश्य ठीक है कि ऐसे सांकेतिक चिह्न उसकी आशंका की सीमा, गम्भीरता तथा यथार्थता पर निर्भर होते हैं। उसमें विवेक करने की विश्लेषणात्मक शक्ति तथा व्यक्तिगत व्याख्या के अनुक्रम को विचार तथा कल्पना में ग्रहण करने के लिए, उनकी एक-दूसरे से तुलना करने के लिए तथा यह निश्चय करने के लिए कि कहाँ और कैसे वे मर्मभेदी तथा स्पष्ट अर्थ, आदर्श तथा भाव केन्द्रित करते हैं, अनुशासित बुद्धि तथा अभ्यास का होना आवश्यक है।”

निम्नांकित रूप-रेखाएँ इस विषय को अधिक स्पष्ट कर देंगी :—

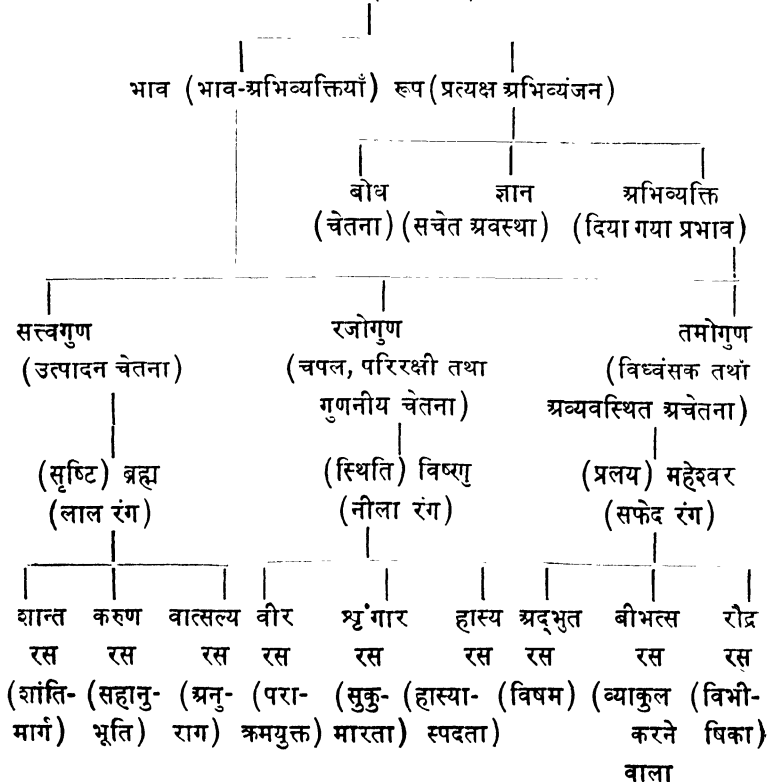
गुण	व्याख्या	दृष्टान्त
सत्त्व	कल्पना अर्थात् प्रतिमा को चित्त में ग्रहण करना। एक अति सूक्ष्मग्राही मनुष्य ही रीति-विरुद्ध दृश्य विश्व के अनुभव करने की सामर्थ्य रख सकता है तथा 'स्वयं' (आत्मा) की महान् यथार्थता को समझ सकता है। मनोवैज्ञानिक दृश्य	कला की समस्त ऐसी कृतियाँ जो आत्मिक, आदर्श-विषयक अथवा भाववाचक कल्पना द्वारा उत्पन्न होकर शान्तिदायक हों।

विषय अर्थात् आत्मा के चमत्कार
का रहस्य उसे प्रत्यक्ष हो जाता
है ।

रजस् सांसारिक कार्य-कलाप की कला की ऐसी सब कृतियाँ
ओर केन्द्रित हों तथा भौतिक लाभ जो व्यापारिक लक्ष्य से बनायी गई
प्रदान करें । हों, जिसमें प्राकृतिक दृश्य तथा
चित्र का रंग आदि सम्मिलित है ।

तमस् असन्तुलित चित्र अस्थिर, आदिम अपरिपक्व कल्पना
असम्बद्ध आकृतियों को दर्शाते हुए । और बोध की सारी कृतियाँ ।

चित्तरूप (चित्तबोध)



शिवनाथ का कथन है कि “रसवाद के यथार्थ स्वरूप की स्थापना अभिनव-गुप्त ने की।”^१ इन्होंने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि रस की स्थिति अनुकार्य में नहीं, दर्शक, श्रोता या पाठक में ही होती है। हम स्पष्ट कर चुके हैं कि भट्टनायक ने रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया की पूर्णता के लिए तीन वृत्तियों (अभिधा, भावकत्व, भोजकत्व) की उद्भावना की। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की अन्तिम दो वृत्तियों की कल्पना का विरोध कर उनके अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया। अभिनवगुप्त का कथन है कि “काव्य उन वासनाओं को जगाता है जो हृदय में प्रसुप्त अवस्था में रहती हैं।” एबरक्रांबी का अभिमत भी अभिनवगुप्त के मत से साम्य रखता है। उन्होंने कहा है :—

“But an audience does not go into a theatre in a state of pity and fear. Everyone is liable to these emotions, but they are not present unless they are provoked.”^२

साधारणीकरण के विषय में अभिनवगुप्त का मत है कि साधारणीकरण आलम्बनत्व के धर्म का नहीं होता, साधारणीकरण दर्शक, पाठक या श्रोता का हृदय करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत इससे सर्वथा विपरीत है; उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।^३

नगेन्द्र ने एक उदाहरण लेकर इसे स्पष्ट किया है। आक्षेप लगाया गया कि साधारणीकरण का सिद्धान्त अनैतिक है। राम-सीता के दृष्टान्त में यदि राम के साथ हमारा तादात्म्य स्थापित हो जाता है, तो सीता के प्रति पूज्य भाव का स्थान न रहेगा। नगेन्द्र ने इसका बड़ा अच्छा उत्तर दिया है—वे कहते हैं कि “हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं (एक बात स्पष्ट कर दूँ, तुलसी और सूर के शृंगार-चित्रण की यह विशेषता है कि वह वासना उद्दीप्त नहीं करता। शृंगार का इतना उत्कृष्ट वर्णन होता है कि वासना की सामग्री सम्मुख रहने पर भी उस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता।—) और काव्य की यह आलम्बन-रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच हो; वह तो कवि की मानसी सृष्टि है अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है।”^४ हम जिसे आलम्बन कहते हैं वह वास्तव

१. शचीरानी गुर्द : हिन्दी आलोचक : शुक्लजी का रस-सिद्धान्त : शिवनाथसिंह, प्रथम संस्करण, पृ० ७४

२. Lascelles Abercrombie ; Principles of Literary Criticism, P. 109

३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग १, पृ० ३१३

४. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, द्वितीय संस्करण, पृ० ४७

में कवि की अपनी अनुभूति का सवेद्य है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है, कवि की अनुभूति का साधारणीकरण। नगेन्द्र की निष्पत्तियाँ स्पष्ट हैं कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। अन्त में नगेन्द्र कहते हैं कि साधारणीकरण का कारण है भाषा का भावमय प्रयोग। भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भाव-शक्ति पर निर्भर रहता है, और प्रयोक्ता के भावों की संवेदन-शक्ति का आधार है मानव-सुलभ सहानुभूति। शुक्लजी की मुक्तावस्था और लोक-हृदय में व्यक्ति-हृदय का होना रिचर्ड्स से समझा जा सकता है। रिचर्ड्स भी सौन्दर्य-ग्रहण (Aesthetic purpose) की अवस्था को इसी रूप में स्वीकार करता है कि इस दशा में वैयक्तिक लोकगत सम्बन्ध का त्याग हो जाता है :—

To respond not through one narrow channel of interest, but simultaneously and coherently through many, is to be 'dis-interested' in the only sense of the word which concerns us here. And to say we are 'impersonal' is merely a curious way of saying that one personality is more 'completely' involved.¹

प्रतिपाद्य विषय का विवेचन हमें यहाँ तक तो ले आता है और अब हमें विवेचन करना है कि दुःखात्मक भावों की रसानुभूति कैसी होती है ? इस विषय में विचारणीय यह है कि काव्यगत दुःखात्मक भावों की अनुभूति दुःखमय होगी अथवा आनन्दमय; क्योंकि यथार्थ में ये परस्पर-विपरीत भाव-संवेदन हैं। आचार्य शुक्ल की मान्यता तो यह थी कि काव्यगत दुःखात्मक भावों की अनुभूति जीवन की अनुभूति के समान ही दुःखमय होगी, क्योंकि करुणरस के काव्य या नाटक पढ़ने अथवा देखने पर आँसू आ जाना मनोविज्ञान की दृष्टि से दुःखानुभूति का ही लक्षण है। उनके अनुसार तो क्रीचे की भी यही धारणा थी कि काव्यगत दुःखात्मक भावों की अनुभूति सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों होती हैं।¹ शुक्ल जी के अभिमत को हम इस प्रकार रख सकते हैं कि काव्यगत दुःख की अनुभूति दुःखात्मक तो अवश्य ही होती है, पर 'हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।'²

1. I. A. Richards : Principles of Literary Criticism, Page 251.

२. आचार्य शुक्ल का इन्दौर वाला भाषण, पृ० ४०-४१

३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग १ : पृ० ३४२

अरस्तू ने भी, अपने ढंग से, व्यावहारिक रूप में साधारणीकरण को प्रबन्ध-कल्पना का मूल आधार माना है ।

अरस्तू ने अपने विरेचन-सिद्धान्त (Catharsis) द्वारा दुःखान्त नाटक से मिलने वाले आनन्द की काफ़ी व्याख्या की है । 'करुणा' और भय के भावों के उद्रेक से दर्शकों का मानसिक अवसाद तिरोहित हो जाता है और चित्त की निर्मल स्थिति हो जाती है ।^१ शायद निर्मल स्थिति की अनुकूल-वेदनीयता ही उक्त आनन्द की सृष्टि करती है । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अभिमत का विश्लेषण करने के उपरान्त उनका निष्कर्ष यही निकलता है कि दुःखान्त नाटक में चित्रित उच्च कोटि का नैतिक संघर्ष ही करुणा और भय के भावों को उद्दीप्त करता है । अतएव केवल उस कोटि का नैतिक चित्रण ही नाट्य-दर्शकों में आनन्द की निष्पत्ति कराता है, अन्य नहीं । वाजपेयीजी का मत है कि अरस्तू का यह विरेचन वास्तव में प्लेटो के नैतिकतामूलक काव्यानन्द के आदर्श से आगे नहीं बढ़ता ।^२

रसानुभूति की प्रक्रिया के सम्बन्ध में कतिपय पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोण भी भारतीय मतों से साम्य रखते हैं । डाउन^३ रसानुभूति के भाव-तादात्म्य को रसानुभूति के सूत्र में स्वीकार करते हैं । उसके उभय प्रारूपों का उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है :—

- (१) (Introductive Phase) : बहिर्जगत् की अन्तर्मुखी स्थिति ;
- (२) (Projective Phase) : अन्तर्जगत् का बहिर्मुखी विकास ।

उनका अभिमत है कि कला का परिणाम यही भाव-तादात्म्य है । वास्तव में आनन्दानुभूति उद्बुद्ध अनुभूतियों के समीकरण की स्थिति है । यह अनुभूति तीन प्रकार की होती है :—

- (१) अपनी सत्ता के तिरोभाव के रूप में ;
- (२) दूसरों का अपने ऊपर आरोप करके अनुभव करने की दशा में ;
और
- (३) तटस्थ रहकर अनुभव करने की स्थिति में ।

डा० भगीरथ मिश्र का मत है कि "आरोपवाद और साधारणीकरण में साम्य है ।" वास्तव में अपनी सत्ता का तिरोभाव और दूसरे का अपने ऊपर आरोप, वासनागत भावों के उद्बुद्ध होने और विभाव के साधारणीकरण से बहुत-कुछ साम्य रखते हैं । तटस्थ रहकर अनुभव करने की स्थिति पूर्ण रसानुभूति में तभी

१. नन्ददुलारे वाजपेयी—नया साहित्य : नये प्रश्न, प्रथम संस्करण, पृ० ६१

२. नन्ददुलारे वाजपेयी—नया साहित्य : नये प्रश्न, प्रथम संस्करण पृ० ६१

3. Downe : Creative Imagination

परिणत होगी, जबकि निर्व्यक्तिकता के रूप में साधारणीकृत भावों से हमारे भावों का संवादन हो; अन्यथा वह केवल भावानुभूति ही रहेगी, रसानुभूति नहीं।

एस्ले डक्स और वुडवर्ड नाटक और उपन्यासों में नायक-नायिका के साथ एकत्व की बात कहते हैं। उनका अपना मत है कि सहृदय स्वभावतया अपने को नायक की परिस्थिति में समझने लगते हैं।^१ डा० भगीरथ मिश्र का कथन वास्तव में उचित है कि उन्होंने अपने मत का विश्लेषण नहीं किया, अन्यथा वे साधारणीकरण और अभिव्यक्तिवाद तक पहुँच जाते। पात्र के साथ तादात्म्य-स्थापन के विषय में मेण्डर अपना मत इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि प्रेक्षक अपनी व्यक्तिगत चेतना को खोकर कथानक के किसी पात्र के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। कहा जा सकता है कि पाश्चात्य विद्वानों को साधारणीकरण का प्रारूप ऐकात्म्य और तादात्म्य के रूप में स्वीकार्य है।

टाल्स्टाय सहृदय का कलाकार के साथ तादात्म्य मानते हैं और साधारणीकरण को इस रूप में स्वीकार करते हैं कि उस दशा में सभी सहृदयों की मनःस्थिति एक-सी रहती है जिससे कि वैयक्तिक चेतना नष्ट हो जाती है।^२

डा० भगीरथ मिश्र का अभिमत है कि “अभिनवगुप्त द्वारा स्वीकृत साधारणीकरण का सिद्धान्त और उनके द्वारा प्रतिपादित अभिव्यक्तिवाद रसानुभूति की प्रक्रिया के विश्लेषण में एक सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।”^३

नगेन्द्र मानते हैं कि अरस्तू द्वारा प्रतिपादित त्रासद-प्रभाव का भारतीय

1. The spectator of a play is always absorbed in the Drama. First of all he ignores the frame of pictures that is presented to him and he regards the action as a personal experience in which he is himself taking part.

— Ashley Duckes : Drama Page-168.

2. The chief peculiarity of this feeling is that the recipient of a truly artistic impression is so united to the artist that he feels as if the work were his own and not some one else's—as if it has expressed what he had long been wishing to express. A work of art destroys in the recipient the consciousness of the separation between himself and all those whose minds receive this work of art.

— TOLSTOY : What is Art & other Essays : Page 223

३. डा० भगीरथ मिश्र : काव्य-शास्त्र, प्रथम संस्करण, १९५७, पृ० १३२

काव्यशास्त्र के करुण रस से पर्याप्त साम्य है ।^१ त्रासद प्रभाव के आधारभूत मनोवेग हैं—करुणा और त्रास; और इन दोनों में ही पीड़ा की अनुभूति का प्राधान्य है । भरत ने शोक के प्रतिनिधि लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं :—

‘शोको नाम इष्टजनवियोगविभवनाशवधबन्धनदुःखानुभवनादिभिर्विभावै-
स्समुपजायते ।’^२

भारतीय काव्यशास्त्र का प्रतिनिधि मत तो यही है कि करुण रस का आस्वाद भी शृंगार आदि की भाँति ही सुखात्मक होता है । करुण के साथ उसका नाम जोड़ देना ही इस बात की पुष्टि करता है कि वह आनन्द का द्योतक है । भारतीय रस-सिद्धान्त में प्रकारान्तर से विरेचन-सिद्धान्त (Catharsis theory) अन्तर्भूत है । इस विषय पर नगेन्द्र के निष्कर्ष इस प्रकार हैं^३ :—

विरेचन-प्रक्रिया के दो अंग हैं :—

(१) अतिशय उत्तेजना द्वारा मनोवेगों का शमन,

(२) तज्जन्य मनःशान्ति ।

मनोवेगों की अतिशय उत्तेजना रस-सिद्धान्त के अंगभूत स्थायी भावों के चरम उद्बोध के समानान्तर है । मनःशान्ति रस-सिद्धान्त की ‘समाप्ति’ की अवस्था है, जब सहृदय श्रोता का मन-मुकुर भौतिक विकार-जन्य मलिनता से मुक्त, सर्वथा निर्मल, हो जाता है । अरस्तू के अनुसार त्रासदी के आस्वाद के तीन तत्त्व हैं :—

(१) उद्वेग के शमन से उत्पन्न मनःशान्ति ।

(२) भावों के परिष्कार की अनुभूति ।

(३) कलाजन्य चमत्कार ।

भारतीय काव्य-शास्त्र में करुण रस में उद्वेग का शमन भर न होकर उसका भोग भी है । भावों का परिष्कार, साधारणीकरण में अनुमूर्त है ।

प्रसादजी ने एक बार कहा था कि भारतीय रस-सिद्धान्त शैव दर्शन पर आधारित है^४ और उसका स्वरूप आनन्द-प्रधान ही है । अस्तु, मेरा तो शैव-दर्शन सम्बन्धी अध्ययन प्रसादीय स्तर का नहीं और इसलिए उसकी परीक्षा भी नहीं की जा सकती है ; परन्तु ‘कामायनी’ का समरसता-सिद्धान्त प्रसादजी के मत

१. डा० नगेन्द्र : अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० ६३

२. नाट्य-शास्त्र

३. डा० नगेन्द्र : अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० १०१

४. ‘प्रसाद’ : काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध

को पृष्ट करता है ।^१

भारत के अन्य प्रमुख सिद्धान्तों की भाँति, उसका रस-सिद्धान्त भी, अध्यात्म-वाद पर आधृत है—उसको यथावत् ग्रहण करने के लिए आत्मा की स्थिति और उसकी सहज आनन्दरूपता में विश्वास करना आवश्यक है—ऐसा नगेन्द्र का मत है ।^२ इसे और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है । इच्छा की विफलता की अनुभूति दुःखात्मक होती है । कुछ लोगों का मत दुःख के अभाव को सुख मानता है । नगेन्द्र के अनुसार आनन्द के विकल्प दो हैं :—

(१) मनोरागों का समंजन और परिष्कार—त्रासदी के प्रेक्षण से हमारी अन्तर्वृत्तियों का समंजन और परिष्कार होता है ।

(२) जीवन में अनुराग—चूँकि हमें अपने जीवन के प्रति मोह है, उसके हर्ष-विषादमय सभी रूपों के प्रति हमारी अभिरुचि है । नगेन्द्र दोनों विकल्पों में केवल दृष्टि-भेद भर मानते हैं । वास्तव में ये विकल्प आनन्द के स्वरूप की अशुद्ध कल्पना पर आधृत हैं ।

आनन्द की परिकल्पना भारत में बड़े गम्भीर रूप में की गई है—वह मनो-रंजन, लज्जत, या 'प्लेज़र' का पर्याय नहीं माना जा सकता । यही कारण है कि आनन्द की उपमा हमारे यहाँ सागर से दी गई है—जीवन के सुख-दुःख जिसकी लहरों के समान हैं, जिस प्रकार असंख्य लहरों को अपने वक्ष पर खिलाती हुई आत्मा या चेतना की अन्तर्धारा अपने सुख में निरन्तर प्रवाहित होती रहती है । उदात्त काव्य, वह शृङ्गार-मूलक हो या करुणा-मूलक, सहृदय के मन को शृङ्गार और करुणा की लौकिक अनुभूति से भी इसी धारा में निमज्जन का सुयोग प्रदान करता है । इसी अर्थ में रस अखण्ड है, उसमें आस्वाद-भेद नहीं है ।^३

साधारणीकरण के सिद्धान्त की विवेचना करते समय यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि किन अवस्थाओं में रसानुभव के उपयुक्त साधारणीकरण हो सकता है । वस्तुस्थिति यह है कि आलम्बन का अनेक के लिए सामान्य होना आवश्यक है । अधिक स्पष्ट कर कहें तो यह कि साधारणीकरण के लिए आलम्बन ऐसा आकर्षणयुक्त होना चाहिए कि वह मनुष्य-मात्र के किसी भी भाव का आधार बन सके । रसानुभूति के उपयुक्त साधारणीकरण के लिए एक बात और आवश्यक है और वह आलम्बन का औचित्य है, अर्थात् आश्रय की भाव-व्यंजना ऐसे

१. डा० नगेन्द्र : अरसू का काव्यशास्त्र, पृ० १०३

२. डा० नगेन्द्र : अरसू का काव्यशास्त्र, पृ० १०७

३. डा० नगेन्द्र : अरसू का काव्यशास्त्र, पृ० १०७

पात्र के प्रति जो वस्तुतः सभी सहृदयों के भाव का पात्र बन जाये। आचार्य शुक्ल ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

“यदि भाव-व्यंजना में भाव अनुचित है, ऐसे के प्रति है जिसके प्रति न होना चाहिए, तो साधारणीकरण न होगा; अर्थात् श्रोता या पाठक का हृदय उस भाव में लीन न होगा।”

वास्तव में यह रस-दशा और रसानुभूति है क्या ? इसे स्पष्ट करना आवश्यक है। आचार्य शुक्ल ने इस विषय में दो बातें कहीं :—

- (१) वे इस दशा को हृदय की मुक्तावस्था मानते हैं, जिसमें ‘अह’ नष्ट होकर भाव की केवल अनुभूति भर रह जातो है। हृदय इस समय केवल काव्य द्वारा उपस्थित भाव का ही अनुभव करता है अन्य किसी वस्तु का नहीं;
- (२) रस-दशा या रसानुभूति की अवस्था में व्यक्ति-हृदय लोक-हृदय में लीन हो जाता है।

इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों के मतैक्य और मत-वैभिन्न्य के मूल में जाकर, नगेन्द्र ने अपनी संयत और संकल्पात्मक आलोचना-शक्ति द्वारा एक ओर तो रसभोक्ता के हृदय की अन्तर्वृत्तियों का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया; दूसरी ओर साहित्य-शास्त्र के इतिहास में सबसे पहली बार स्पष्ट शब्दों में रस-स्रष्टा कवि के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के महत्त्व का उद्घाटन किया। समीक्षा-शास्त्र में तुलनात्मक दृष्टिकोण इतना संयत, परिपुष्ट और संश्लिष्ट इसके पूर्व कभी नहीं रहा। अमरनाथ जौहरी ने लिखा है, “वे (नगेन्द्र) साहित्य को, उसके समष्टिगत मूल्यों के बावजूद भी, अन्ततः व्यक्तिगत साधना भी मानते हैं।^१ उनके विचार से साहित्य का मूल कर्म है निश्छल आत्माभिव्यक्ति।^२ “—महान् व्यक्तित्व के अभाव में कोई कृति महान् नहीं हो सकती; पर निश्छल आत्माभिव्यक्ति के अभाव में तो वह साहित्य ही नहीं।” इस प्रकार वह टेन (Taine) और इलियट (T. S. Eliot) के ऐतिहासिक और परम्परावादी सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। उनका विचार है कि साहित्य की श्रेष्ठता का निर्णय व्यापक और सूक्ष्म धरातल पर, देश और काल की परिसीमाओं का अतिक्रमण कर प्रवाहित होती हुई अखण्ड मानव-चेतना के आलोक में करना अभीष्ट होगा। वह कवि अथवा कलाकार के व्यक्तित्व को देश,

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इन्दौर वाला अभिभाषण : पृ० ३७

२. शचीरानी गुर्तू : हिन्दी आलोचक, प्रथम संस्करण, डा० नगेन्द्र पर अमरनाथ जौहरी का निबन्ध

३. द्रष्टव्य : प्रस्तुत उन्मेष का ‘साहित्य-प्रयोजन’ विषयक अंश

काल और परिस्थिति की सीमा से उन्मुक्त करके, उसके शाश्वत मानवीय मूल्यों को अधिक महत्त्व देते हैं।

नगेन्द्र ने रस के विषय में भी स्रष्टा और द्रष्टा के समन्वय का प्रयास कर अतिवाद का विरोध प्रदर्शित किया। फिर अतिवाद चाहे शंकुक और भट्टनायक का हो अथवा टी० एस० इलियट का हो। ठीक है, वर्तमान समय में संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित विषयों की परिसीमाएँ उन्हें खटकती हैं—उन्हें यह स्पष्ट करने में तनिक भी संकोच नहीं हुआ कि पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने कवि और नाटककारों की उपेक्षा कर दी। परन्तु वे आधुनिक आलोचकों के विषय में यह कहने से भी नहीं चूके, “जो कलाकार व्यक्तित्व के निश्चित और अनिश्चित तथ्यों में इतना उलझ जाते हैं कि कृति (जो संस्कृत साहित्य-शास्त्रियों का मुख्य प्रतिपाद्य था) सर्वथा उपेक्षित हो जाती है।”

इसमें सन्देह नहीं कि पूर्ववर्ती संस्कृत आचार्यों ने रस का जो स्वरूप स्थापित किया था, आज का पाठक उससे अपनी असहमति और असन्तुष्टि व्यक्त करता है। परन्तु किसी बात से असहमति प्रकट कर देने मात्र से उसके कार्य की इति नहीं होती, प्रत्युत वह तो उसके कार्य का अर्थ है। काव्यानन्द और ब्रह्मानन्द-सहोदर अथवा रस के आनन्द के साहित्य-प्रेमी के सम्मुख उसका महत्त्व कम हो जाता है। पश्चिम में भी काव्यानन्द पर विवेचन होता रहा है। पश्चिमी और भारतीय आचार्यों ने काव्यानन्द को ऐन्द्रिय, आत्मिक, काल्पनिक, सहजानुभूति-मय और लौकिक आनन्दों से सर्वथा भिन्न घोषित किया है। नगेन्द्र ने उसका विधिवत् अनुशीलन और परीक्षण किया और अन्त में वे अपना स्पष्ट एवं निरपेक्ष मत प्रस्तुत कर अपने-अशस्त अध्ययन और गहन विचारों का परिचय देते हैं।

आज समाज-शास्त्र का अध्ययन मनोविज्ञान की आधार-भूमि पर होता है, और यही कारण है कि साहित्य की प्रत्येक विधा तथा समीक्षा के प्रत्येक सिद्धान्त का हम मनोवैज्ञानिक औचित्य चाहते हैं। नगेन्द्र समय के साथ चले, और काफी परीक्षण के पश्चात् उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि स्वदेश और विदेश का कोई भी सिद्धान्त आज के युग में मनोविज्ञान की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। काव्यानुभूति को वे साधारण जीवन की अनुभूतियों से नवीन अनुभूति मानते हैं। यहाँ नगेन्द्र और टी० एस० इलियट के विचारों में साम्य है। इलियट के साथ नगेन्द्र भी यह मानकर चलते हैं कि काव्य से प्राप्त संवेदनों में सामंजस्य और अन्विति स्थापित हो जाती है, तभी हमारी अनुभूति मधुर होकर सुखद हो जाती है, इसके

विपरीत विशृङ्खल होने पर कटु रहती है। काव्य के आनन्द को ऐन्द्रिय आनन्द मानने का यह सिद्धान्त मनोविश्लेषण के अनुसंधानों पर आश्रित है। नगेन्द्र यहाँ आई० ए० रिचर्ड्स और हम्फ्रे हाउस की विचारधारा से प्रभावित दीखते हैं। अरस्तू के विवेचन-सिद्धान्त की व्याख्या करते समय हम्फ्रे हाउस ने स्पष्ट मत व्यक्त किया है कि त्रासदी का आनन्द अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित हो जाने का आनन्द है।^१

नगेन्द्र द्वारा उद्घाटित काव्य के आनन्द की मानसिक भूमिका सर्वथा मौलिक है। ठीक है, शंकाओं, समस्याओं और सिद्धान्तों का मनोवैज्ञानिक औचित्य आवश्यक है; परन्तु जब कभी भी नगेन्द्र अनुभव करते हैं कि मनोविज्ञान उनकी शंकाओं का समाधान, समस्याओं का निदान और सिद्धान्तों के औचित्य-स्थापन में असमर्थ है, तो वे दुराग्रहपूर्वक उसे चिन्तन का विषय नहीं बनाते। मानव-मस्तिष्क असीमित है और उससे उद्भूत ज्ञान सीमित। मनोविज्ञान की भी अपनी परिसीमाएँ और परिमितियाँ हैं और नगेन्द्र उनसे भलीभाँति परिचित हैं—तभी न आवश्यकता पड़ने पर, वैज्ञानिक परिधि को भी पीछे छोड़कर जीवन से भी अधिक व्यापक दृष्टि-कोण से काव्यगत समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करते हैं। हम पाते हैं कि मनोविज्ञान भावों का समुचित वर्गीकरण करने में सफल नहीं, परन्तु वे भाव जीवन में अवस्थित हैं और इसलिए नगेन्द्र को वे मान्य भी हैं। और स्पष्ट करके कहना चाहें तो एक उदाहरण ले लीजिये। संस्कृत-साहित्यानुमोदित नवरस आधुनिक मनोविज्ञानानुमोदित नहीं, परन्तु केवल इसी कारण वह अनर्गल नहीं मान लिया गया, जैसा कि अनेक आधुनिक समीक्षकों का मत है। नगेन्द्र इसे ही बहुत समझते हैं कि रस का वर्गीकरण मनःशास्त्रानुमोदित है। इसी प्रकार रस की स्थिति-सम्बन्धी प्रश्न पर भारतीय आचार्यों के मतों का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत करने के बाद, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मत से नगेन्द्र सहमति प्रकट करते हैं कि रस की अवस्थिति न नायक-नायिका में होती है, न पात्रों में; वह तो सहृदय के हृदय में अवस्थित रहता है। नगेन्द्र के मत से काव्यगत भाव विशिष्ट नहीं होता, वह तो साधारणीकृत भाव होता है तथा हृदय में उसकी स्थिति स्वाभाविक होती है। जिस भाव की अनुभूति कवि के लिए सम्भव है, सहृदय के लिए भी उस भाव की अनुभूति सम्भव होगी। कारण स्पष्ट है कि काव्य-भावन में सहृदय, अपने हृदय में स्थित रस के कारण ही भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच सकता है और काव्य के आनन्द को प्राप्त करने में समर्थ होता है। ठीक इसी प्रकार स्रष्टा भी,

अपने मानसकृत पात्रों के माध्यम से अपनी अनुभूतियों को हमारे प्रति संवेद्य बनाने में सफल होता है। नगेन्द्र का मत है: “जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में उसी प्रकार की समान अनुभूति जगाने में समर्थ हो, तो हम कहेंगे कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति विद्यमान है।” उन्होंने कवि की परिभाषा की, “कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके।”^१

यहाँ आकर हमें नगेन्द्र के सिद्धान्तों में रूसी काव्य-मर्मज्ञ टाल्स्टाय के विचारों का प्रभाव परिलक्षित होता है। टाल्स्टाय ने कहा है कि “यदि कोई व्यक्ति लेखक की आत्मिक दशा से एकदम प्रभावित हो जाये, यदि उसे उसके भाव की अनुभूति हो जाये, तथा वह अन्य मनुष्यों से तादात्म्य भी स्थापित कर सके, तो जिस वस्तु के माध्यम से यह कार्य सम्पादित होता है, उसे कलाकृति कहा जायेगा। यह प्रभाव (Infection) कला का सबसे विश्वस्त चिह्न है, और जितना ही अधिक यह प्रभाव होगा, उतना ही अधिक कलाकृति का महत्त्व बढ़ता जायेगा।” हम तो बतला ही आये हैं कि नगेन्द्र के अनुसार कवि वह व्यक्ति है जो अपनी अनुभूति को संवेद्य अनुभूति के रूप में ग्रहण करता है।^१ इस प्रकार नगेन्द्र साहित्य को मूलतः व्यक्तिगत आदान-प्रदान मानते हैं और उनका यह ‘सर्वजैविक दृष्टिकोण’, अमरनाथ जोहरी के मत से, उनके समीक्षागत चिन्तन का परिणाम है।

आनन्द के विषय में मनोविज्ञान के दो मत हैं। एक तो जीवन की समस्त क्रियाओं की अन्विति आनन्द-प्राप्ति के लक्ष्य में मानता है और इसके उन्नयन का श्रेय ‘हैडोनिस्टिक’ विचारकों को है। दूसरा क्रियाशील होना जीवन का धर्म मानता है। वास्तविक जीवन में, आजकल, दूसरे मत को ही प्राधान्य प्राप्त है। और इसमें भारतीय आदर्शवादी मत का समन्वय भी लक्षित होता है।

काव्य के माध्यम से प्राप्त आनन्द और वास्तविक जीवन के आनन्द के मूल में कोई वास्तविक विरोध हो—नगेन्द्र ऐसा मानते नहीं दिखायी देते। आनन्द का स्वरूप क्या हो, इस पर भी नगेन्द्र ने सम्यक् विचार कर पश्चिमी और भारतीय चिन्तन को मिलाने का प्रयास किया है। एक स्थिति तो वे यह मानते हैं कि रस का आनन्द भाव (Emotion) से भिन्न है।^२ इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि कटु या अप्रिय भावों से भी हमें रस (आनन्द) की प्राप्ति होती है।

१. डा० नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास : पृ० १२८

२. Tolstoy : What is Art & other Essays

३. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, द्वितीय संस्करण : पृ० ५२

४. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ५८

आगे रस या आनन्द के स्वरूप से सम्बद्ध समस्या है कि वह लौकिक है या अलौकिक ?

संस्कृत के आचार्यों ने उसे अलौकिक और अनिर्वचनीय उद्घोषित किया है। पश्चिमी समीक्षा के क्षेत्र में प्लेटो ने बुद्धि और आत्मा को एक माना तथा इस कारण केवल दो प्रकार की अनुभूतियों की सत्ता स्वीकार की :—

(१) आध्यात्मिक, और

(२) ऐन्द्रिय ।

प्लेटो ने काव्यानन्द को ऐन्द्रिय अनुभूति मानकर ही उसे हेय ठहराया। अरस्तू ने यद्यपि काव्यशास्त्र में अपने निरपेक्ष मतों की स्थापना कर प्लेटो की विवेचना का खंडन किया, परन्तु उसने भी काव्यानुभूति को ऐन्द्रिय ही माना। अरस्तू का मानदण्ड प्लेटो के मानदण्ड से पृथक् था और वह था सौन्दर्य-सिद्धान्त (Theory of Aesthetics)। पश्चिम में सर्वप्रथम प्लोटिनस ने काव्यानन्द को आध्यात्मिक माना। उसने कला के सौन्दर्य के साथ तादात्म्य स्थापित कर हीगल प्रभृति आदर्शवादी चिन्तकों का मार्ग प्रशस्त किया। हमारी विशिष्ट संस्कृति एक महान् परम्परा-प्राप्त पृष्ठभूमि पर आधारित है। हम प्रारम्भ में भी स्पष्ट कर चुके हैं, और अन्यत्र इस ग्रंथ में भी इस ओर संकेत किया है कि स्वभाव से ही हमारी विचार-पद्धति अन्तर्भाव के विश्लेषण की रही है। हिन्दू धर्म का मुख्य लक्ष्य दर्शन-शास्त्र व उसके अनुसार अनन्त ईश्वर का आत्म-सौन्दर्य-प्रतिपादन रहा है।

नगेन्द्र के मत से पाश्चात्य एवं पौरस्त्य मत मनोविज्ञान की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते। उनके मत से तो काव्य की अनुभूति प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अनुभूति नहीं; काव्य की अनुभूति को, वे आध्यात्मिक मानने के लिए भी तैयार नहीं; उन्हें एडीसन के 'कल्पना के आनन्द' में भी तथ्य के दर्शन नहीं होते; क्योंकि कल्पना मन और बुद्धि की क्रिया मात्र है। इसी प्रकार क्रोचे का प्रातिभ ज्ञान (Intuition) का सिद्धान्त भी मनोवैज्ञानिक नहीं। स्कॉट जेम्स' के मत से क्रोचे दो चीजें भूल गया था : एक तो सौन्दर्य, और दूसरी—प्रेषणीयता; तभी उसने मन और आत्मा की निरपेक्ष सत्ता का प्रतिपादन किया। मनोवैज्ञानिकों ने तो सर्वसम्मति से कह दिया है कि क्रोचे की इस विचित्र शक्ति (प्रातिभ ज्ञान) के लिए पृथक् स्थान का अभाव है।

अंत में नगेन्द्र के मत को विस्तार से रखना आवश्यक है। हम देखते हैं कि

काव्यानुभूति से चित्त में विस्तार और मानसिक संवेदना तो होती है—रोमांच, अश्रु जैसी शारीरिक संवेदना भी अनुभव होती है। नगेन्द्र का तर्क उचित ही है कि ऐसी दशा में काव्यानुभूति में ऐन्द्रिय अनुभूति का अंश तो स्वीकार करना ही पड़ेगा।^१ वे कहते हैं कि यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है, इसमें न तो भारतीय और न पश्चिमी आचार्यों ने कभी संदेह किया। पर एक बात अवश्य है कि कभी-कभी इससे विपरीत अनुभव भी हमें होते हैं। प्रत्यक्ष रूप में अपने प्रियजन का स्पर्श करके चित्त में द्रुति और शरीर में रोमांच का जो अनुभव होता है, वह उस अनुभव से सर्वथा भिन्न होता है, जो मंच पर इसी प्रकार के प्रसंग को देखकर प्राप्त होता है। नगेन्द्र कहते हैं कि चित्त में प्रीति और रोमांच इस समय भी होता है, परन्तु वह पहले से भिन्न होगा। यह भी निश्चित है कि वह प्रत्यक्ष अनुभव से कम तीव्र होगा।^२ इस वैभिन्न्य और वैषम्य की ओर स्पष्ट संकेत करते हुए वे कहते हैं कि इस अपेक्षाकृत अप्रत्यक्षता का कारण यह है कि काव्य का अनुभव प्रत्यक्ष अनुभव नहीं, भावित (Contemplated) घटना का अनुभव है। अतः नगेन्द्र की निष्पत्ति यह हुई कि काव्यानुभूति है तो ऐन्द्रिय अनुभूति ही, परन्तु साधारण नहीं है, भावित अनुभूति है।^३ 'अनुभूति' का विश्लेषण करते हुए वे कहते हैं हमारे हाथ में केवल संवेदन (Sensations) रह जाते हैं। शारीरिक रूप में ये प्रत्यक्ष और स्थूल होते हैं, मानसिक रूप में ये सूक्ष्म और बिम्ब-रूप होते हैं और बौद्धिक रूप तक आते-आते वे इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि लगभग अरूप हो जाते हैं।^४

अस्तु, वास्तव में अनुभूति अपने सभी रूपों में मूलतः संवेदन-रूप ही है, परन्तु स्थूल और प्रत्यक्ष न होकर बिम्ब-रूप होते हैं। काव्यगत संवेदन बौद्धिक संवेदन का बिम्ब-रूप रहता है। सभी प्रकार की बौद्धिक क्रियाओं में इसी प्रकार के बिम्ब-रूप संवेदन प्राप्त होते हैं। नगेन्द्र ने संवेदनों को तीन रूपों में विभक्त किया :—

- (१) शुद्ध प्राकृतिक संवेदन—जो प्रत्यक्ष और स्थूल होते हैं, और जो प्रियजन के स्पर्शादि से प्राप्त होते हैं।
- (२) जो उस स्पर्श के स्मरण से प्राप्त होते हैं—ये बिम्ब-रूप में रहते हैं।
- (३) वे जो स्मृति के विश्लेषण या बौद्धिक अध्ययन से प्राप्त होते हैं, और ये अत्यन्त आन्तरिक तथा सूक्ष्म होते हैं।

१. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६२

२. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका पृ० ६३

३. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६३

४. वही, पृ० ६३

वैसे तो प्रत्यक्ष जीवन में हमें प्रायः ये तीन ही प्रकार के संवेदन प्राप्त होते हैं, परन्तु अन्तिम दो प्रकार के संवेदनों के अतिरिक्त एक चौथे प्रकार का संवेदन स्मृति के भावन से प्राप्त होता है जिसे क्रोचे सहजानुभूति कहता है। मानव का यह अनुभव न तो स्मृति का प्रत्यक्ष अनुभव है, न उसके विश्लेषण का बौद्धिक अनुभव; प्रत्युत वह बिम्ब-रूप का सूक्ष्म स्वरूप होता है। इसीलिए नगेन्द्र कहते हैं कि काव्य से प्राप्त संवेदनों की स्थिति प्रत्यक्ष मानसिक संवेदनों से सूक्ष्म और बौद्धिक संवेदनों से अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष और स्थूल होती है।^१ इसलिए काव्यानुभूति में एक ओर तो ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता और तीव्रता की न्यूनता होती है, दूसरे वह बौद्धिक अनुभूति की अरूपता से भी बची रहती है। यही कारण है कि एक ओर तो वह अधिक शुद्ध और परिष्कृत, तथा दूसरी ओर अधिक सरस होती है।

अन्त में नगेन्द्र हमफ्रे हाउस के मत को स्वीकार करते जान पड़ते हैं कि “जब संवेदनों में (परस्पर-विरोधी) सामंजस्य और अन्विति स्थापित हो जाती है तो हमारी अनुभूति मधुर होती है; और जब वे शृंखला-विहीन तथा बिखरे हुए रहते हैं तो अनुभूति कटु होती है।^२ काव्य से प्राप्त संवेदन बिम्ब-रूप होते हैं, इसीलिए उनकी कटुता क्षीण हो जाती है; वे कवि द्वारा भावित होते हैं, इसलिए उनमें सामंजस्य स्थापित रहता है। काव्य के भावन का अर्थ ही होता है अव्यवस्था में व्यवस्था की स्थापना करना; तथा अव्यवस्था में व्यवस्था ही आनन्द है।”^३ इस प्रकार नगेन्द्र के मत से, जीवन के कटु अनुभव भी काव्य में, अपने तत्त्व-रूप संवेदन के समन्वित हो जाने से आनन्दप्रद हो जाते हैं।

जब से साहित्य की समीक्षा का प्रारम्भ हुआ तभी से आचार्यों ने साहित्यिक आनन्द की समस्या को सुलझाने की दिशा में अनेक स्तुत्य प्रयत्न किये। परन्तु नगेन्द्र का इस दिशा में अग्रसर होना सर्वथा नवीन है। उन्होंने अपने विशिष्ट दर्शन के आधार पर ही काव्यगत आनन्द की व्याख्या की। न्याय, मीमांसा, सांख्य आदि अनेक प्राचीन भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि पर काव्य-शास्त्र की आधारशिला रखी, यह सभी दिशाओं में नया और क्रान्तिकारी कदम था, और इसी क्रान्तिकारी मोड़ के कारण परस्पर-विरोधी धाराओं का समन्वय सम्पन्न हुआ। इस क्षेत्र में नगेन्द्र का योगदान महत्त्वपूर्ण है। एक तो आज शास्त्रीय समीक्षा के प्रति अरुचि-सी उत्पन्न हो गई है, दूसरे जिस मानसिक व्यायाम की

१. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६३

२. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६४

३. Humphry House : Aristotle's Poetics

अपेक्षा इसे समझने के लिए की जाती है, उसके लिए हम सहज तत्पर नहीं। फल यह है कि समीक्षा का यह क्षेत्र नीरस, अर्धविस्मृत, दुस्तर और उलझा हुआ है। सबसे पहली बार नगेन्द्र ने इस उलझे हुए साहित्य का सुव्यवस्थित और सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत कर, इस दिशा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। दूसरे पाश्चात्य काव्यशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा, तथा आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर कस कर, इस शुष्क विषय में भी आधुनिकता और नवीनता का संचार कर दिया। अमरनाथ जौहरी के शब्दों में कहना चाहें तो उन्होंने इस विषय को साहित्य-शास्त्रियों के सुदूर और गहन साधना-गृह से निकाल कर जनसाधारण की मानसिक परिधि की खुली वायु में रख दिया। यदि आप मुझे कहने दें तो मैं कहूँगा कि उन्होंने इस शुष्क, नीरस विषय को जिस रचनात्मक कल्पना-शक्ति द्वारा रोचक और आकर्षक बनाया, उससे उनके शास्त्रीय अनुसंधानों के मानवीय और साहित्यिक मूल्यों में बहुत अधिक मात्रा में परिवृद्धि हो जाती है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि संस्कृत साहित्य-शास्त्र के चार प्रमुख मत क्रमशः काव्य की प्रेषणीयता और काव्य-रस के आस्वादन की समस्या को समझने का प्रयत्न करते हैं और उनमें से प्रत्येक मत समस्या के एक-एक पहलू को लेकर आगे बढ़ता है। कवि-कल्पित नायक से लेकर अभिनेता के नाट्य-प्रदर्शन, सहृदय के भावन और काव्य की ध्वन्यात्मकता के पक्ष की व्याख्या करने वाले ये मत हमारी दृष्टि में काव्य की एक अत्यन्त आवश्यक समस्या के उद्घाटन की क्रमबद्ध योजना के रूप में उपस्थित किये गए हैं—यह बात दूसरी है कि खंडन-मंडन के वाग्जाल में पड़ जाने के कारण उनका मूलवर्ती आशय भुला दिया गया है। परम्परा सुरक्षित है, किन्तु उसका स्वरूप विकृत हो गया है।^१

भाव-विवेक

भाव की मनोवैज्ञानिक स्थिति इस प्रकार स्पष्ट की जा सकती है :—

“We must be satisfied with the merely provisionae description of an emotion as a state of mind characterized predominantly by feeling and activity, aroused by the perception of certain specific objective conditions or specific free ideas of memory and imagination.”^२

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृ० ४२३

2. Mellone and Drummond : Elements of Psychology

आचार्य शुक्ल भाव और मनोविकार में विभेद नहीं करते, जबकि दोनों में स्पष्टतः और मूलतः विभेद है। अंग्रेजी भाषा में इन्हें व्यक्त करने के लिए दो शब्द व्यवहृत होते हैं। दोनों में भेद इस प्रकार किया जाता है कि जो अधिक स्थायी हो वह भाव (emotion), और जिसमें स्थायित्व का अभाव हो वह मनो-विकार (sentiment)। शुक्लजी कहते हैं, “नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के वे भिन्न-भिन्न योग संघटित होते हैं जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं।” शुक्लजी का अंग्रेजी-साहित्य का अध्ययन काफ़ी प्रशस्त था, परन्तु भाव और मनोविकार का विभेद उन्होंने क्यों नहीं किया—यह आचार्य शुक्ल पर अनुसंधान करने वाले विद्वानों के लिए अच्छा विषय है।

संस्कृत में भाव का अर्थ है स्थिति। नगेन्द्र कहते हैं, “माधारण रूप में बाह्य जगत् के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते हैं, वे ही मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।”^१

मनोविज्ञान के पंडितों में भाव के मानसिक और शारीरिक रूप के पूर्वापर क्रम को लेकर विवाद चलता रहा। इसके पहले कि हम मतवादों को स्पष्ट कर उनका औचित्य प्रतिपादन करें, भाव की स्थितियों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

शुक्लजी ने भाव की तीन दशाएँ स्वीकार की हैं :—

१. भाव-दशा, २. स्थायी दशा, तथा ३. शील-दशा। सबसे उच्चकोटि की पूर्ण तथा सच्ची दशा ‘शीलदशा’ ही है।

नगेन्द्र का अभिमत है कि—

- (१) भाव के विषय की सत्ता अवश्य होगी, क्योंकि भाव वास्तव में व्यक्ति की वस्तु (विषयी की विषय) के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया होती है।
- (२) भाव का सुखात्मक अथवा दुःखात्मक आस्वादन निश्चय रूप में होगा।
- (३) मानसिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कुछ प्रयत्न भी होगा।
- (४) भाव की शारीरिक अभिव्यक्ति अवश्य होगी।
- (५) किसी एक भाव की स्थिति निरपेक्ष नहीं रह पायेगी—उसमें अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होंगे।

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग १, पृ० १

२. डॉ० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, द्वितीय संस्करण, पृ० ६४

अरस्तू ने भाव का विवेचन अपने 'भाषण-शास्त्र' में किया है। उसके अनुसार मनोवेगों के अन्तर्गत वे भाव आते हैं जिनमें मनुष्यों के निर्णयों को प्रभावित करने की क्षमता रहती है और जिनके साथ दुःख या सुख की अनुभूति लगी रहती है।

अरस्तू ने मनोवेगों का उल्लेख किया है : क्रोध, प्रेयस्, वैर, भय, विश्वास, लज्जा, धृष्टता, दया, निर्दयता, करुणा, द्वेष, ईर्ष्या और स्पर्धा। नगेन्द्र कहते हैं—
“भारतीय काव्य-शास्त्र में भाव की परिभाषा नहीं की जाती है।”^१ परन्तु यदि ध्यान दिया जाये तो भारतीय काव्य-शास्त्र की स्थायी और संचारी भाव की परिभाषा अरस्तू के मनोवेग की परिभाषा के निकट पड़ती है। आचार्य शुक्ल का मत है, “भावों के लिए आलम्बन आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं, फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।”^२

स्थायी भाव एक स्थिर मनोदशा है और संचारी एक संचरणशील मनो-विकार। मनोवृत्ति (Sentiment) एक स्थिर मनोदशा—एक दृष्टिकोण है ; मनोविकार (Emotion) एक अस्थिर संचरणशील विकार मात्र है। यहाँ पर अरस्तू का भाव-सम्बन्धी विवेचन उद्धृत करना आवश्यक है।

(१) अरस्तू ने मानव-जीवन के प्रायः प्रमुख मनोवेगों को ही ग्रहण किया। यद्यपि उनकी परिभाषाएँ सर्वथा दोषरहित नहीं हैं, परन्तु मोटे रूप से वे मनोविज्ञान और काव्य-शास्त्र दोनों के मूल सिद्धांतों से समन्वित हैं।

(२) भारतीय काव्य-शास्त्र के भाव-विवेचन की भाँति इयत्ता की दृष्टि से अरस्तू का भाव-विवेचन भी अपूर्ण ही रह जाता है। मेरे मत से अरस्तू ने संचारियों का जो विवेचन किया है, वह भारतीय काव्य-शास्त्र की अपेक्षा अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक है। नगेन्द्र ने उचित ही कहा कि भारतीय काव्य-समीक्षकों ने लगभग भावों के विपरीत रूपों का यथावत् मौलिक रूप भी ग्रहण किया है, और साथ ही निर्वेद, ग्लानि, गर्व, विषाद, चिन्ता, दैन्य आदि प्रमुख मनोविकारों को छोड़ भी दिया है।”^३

१. डा० नगेन्द्र : अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० १५५

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग २, काव्य में रहस्यवाद, पृ० १५८

३. डा० नगेन्द्र : अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० १५०

- (३) अरस्तू ने स्थायी और संचारियों में विभेद नहीं किया, वैसे मनोविज्ञान द्वारा किया गया विभेद इस प्रकार है :—

“Emotion is a fleeting experience, sentiment is an acquired disposition, one gradually built up through many emotional experiences and activities, it is an organization or a part of total organization”.

अरस्तू के क्रोध, करुणा, भय आदि जहाँ स्थायी हैं, वहाँ लज्जा, ईर्ष्या आदि शुद्ध संचारी भाव हैं।

- (४) अंत में अरस्तू ने जिन भावों को ग्रहण किया है, वे वस्तुतः श्रोता-समाज के मनोवेग हैं जिनको उद्बुद्ध कर कुशल वक्ता अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है। यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि शायद यही कारण है कि अरस्तू ने ‘काव्य-शास्त्र’ में भावों का विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत किया है। स्थायी भावों की मनोवैज्ञानिक स्थिति पर विचार करते समय यह देखना भी आवश्यक है कि संस्कृत साहित्य-शास्त्रियों का इस सन्दर्भ में क्या मत है और उसमें तथा पश्चिमी मत में और नगेन्द्र के निष्कर्षों में कहाँ वैषम्य और साम्य है, और मूलतः इस वैषम्य और साम्य का कारण क्या है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में स्थायी भावों की निम्न विशेषताएँ प्रतिपादित की गई हैं :—

(१). वे अपेक्षाकृत स्थिर हैं।

(२) वे अपेक्षाकृत पुष्ट हैं।

(३) इन दो विशेषताओं के कारण स्थायी भाव रस-दशा को प्राप्त करने में समर्थ है—और चूँकि संचारियों में इनका एकांत अभाव व्याप्त रहता है, वे रसदशा को प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। मनोविज्ञान ने भाव के तीन रूपों पर अपनी आस्था प्रकट की है :—

(१) Primary emotion : जैसे भय ; इनकी सत्ता निरपेक्ष होती है।

(२) Derived emotion : ये अपनी स्थिति के लिए अन्य भावों पर आश्रित रहते हैं, जिनके अभाव में उनकी सत्ता का भान नहीं हो सकता।

(३) Sentiment : जो मनोविकारों के मिश्रण, उनकी

पुनरावृत्ति और क्रमशः बौद्धिक तत्त्व के समावेश द्वारा निर्मित स्थिर मनोदशा है। कॉलरिज ने बायोग्राफिया लिटरेरिया (Biographia Literaria) में जो विभेद प्राथमिक कल्पना और गौण कल्पना में तथा तरंग और कल्पना में किया है, उस पर भी विचार कर लेना अनावश्यक न होगा।

कॉलरिज काव्य में अकृत्रिमता, अनुभूति की सच्चाई और अभिव्यंजना की सरलता को अत्यधिक महत्त्व देता था। काव्य में वह हृदय और मस्तिष्क दोनों के योग की अपेक्षा रखता था। केवल भावना काव्य के लिए पर्याप्त नहीं है। केवल बौद्धिकता काव्य में तिरस्करणीय है। पर दोनों का एकीकरण श्रेष्ठ काव्य का उपादान है। कॉलरिज कवि के लिए कल्पना-शक्ति को अत्यधिक आवश्यक मानता है। वह कल्पना की वृत्ति को अलौकिक मानता है। स्थायी भाव को शुद्ध भौतिक मनो-विकार नहीं कहा जा सकता। एक से अधिक मनोविकारों का सम्मिश्रण और बौद्धिक तत्त्व का प्राधान्य होने के कारण वह एक व्यवस्थित मनोदशा है। मनोवृत्ति एक परिव्याप्त मनःस्थिति मात्र है, जिसके समग्र रूप का अनुभव कभी नहीं हो सकता है। मनोवृत्ति के संचारी का ही आस्वादन हो सकता है, स्वयं मनोवृत्ति का नहीं। अन्त में नगेन्द्र के निष्कर्ष ये ठहरते हैं :

(१) आरम्भ में तो संस्कृत साहित्य-शास्त्र में स्थायी भावों का वर्गीकरण और विवेचन उपलब्ध साहित्य के आधार पर किया गया था; परन्तु बाद में दार्शनिक आचार्यों ने गम्भीरता आदि की उपलब्धियों और अध्ययन के आधार पर उन्हें व्यापक बनाते हुए उनके आधार को वैज्ञानिक बना दिया।

(२) आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल न होते हुए भी यह विवेचन अनर्गल नहीं। भारतीय और पश्चिमी मनःशास्त्रों की कसौटी पर वह बहुत खरा उतरता है। संचारी मनोविकारों के पर्याय हैं। स्थायी भावों की स्थिति मौलिक मनोवेगों की है, जो अपनी शक्ति, स्थायित्व और प्रभाव के कारण मानव-जीवन की संचालक एवं प्रेरक शक्तियाँ हैं।

(३) यद्यपि मनोवेगों की संख्या निर्धारित करना दुस्तर कार्य है और शायद इसी कारण संस्कृत साहित्य-शास्त्रियों ने समस्त सशक्त मनोवेगों का समाहार नौ स्थितियों के अन्तर्गत किया था। यह संख्या अपूर्ण है और वैज्ञानिक नहीं मानी जानी चाहिए। वात्सल्य को रति से पृथक् स्थान देना ही अभीष्ट है। नगेन्द्र ने भी करुण रस की परिधि में शोक के अतिरिक्त अनुकम्पा, कार्पण्य के समावेश की वकालत की है। रुद्रट ने भी बलपूर्वक कह दिया था कि सभी संचारियों में, विशेषकर गर्व,

ग्लानि और असूया में—नगेन्द्र के मत से), रस-परिणति की क्षमता है।^१

नगेन्द्र का अपना मत है कि संचारियों का विवेचन अपूर्ण और सदोष है, तथा उनमें से ऐसे संचारियों को निकालना ही पड़ेगा जो मुख्यतः शरीर के धर्म है। इसके अतिरिक्त गणना का प्रयास व्यर्थ सिद्ध होगा। समीक्षक अधिक से अधिक यही कर सकते हैं कि जिन मनोविकारों को नाम और परिभाषा दे दी गई है, काव्य-सामग्री के विश्लेषण में मनोविज्ञान के अनुकूल उनका उपयोग कर लें।

१. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, द्वितीय संस्करण, पृ० ७५

चतुर्थ उन्मेष
भारतीय साहित्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय

भारतीय साहित्य-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय

रीति (परिभाषा और स्वरूप)

रीति का सर्वप्रथम प्रयोग वामन द्वारा किया गया। इसके प्रयोग के बाद से तो उसे अनेक अर्थों में व्यवहृत किया गया। वैसे भामह और दण्डी ने रीति की चर्चा की, परन्तु उन्होंने न तो उसके महत्त्व पर ही प्रकाश डाला और न उसकी सर्वमान्य परिभाषा देने में ही वे सफल हो सके। प्रसिद्ध और परिपुष्ट स्थापनाओं के आधार पर आज यह स्वीकार कर लिया गया है कि रीति शब्द के प्रथम प्रयोग, लक्षणकर्ता और रीति-सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य वामन ही हैं।^१

वामन के अनुसार रीति का अर्थ हुआ विशिष्ट-पद-रचना :—

“विशिष्टा पदरचना रीतिः।”^२

काव्य-शोभाकारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त पद-रचना रीति है, यह वामन ने प्रतिपादित किया। नगेन्द्र कहते हैं कि ‘काव्य-शोभाकारक शब्द और अर्थ के कर्मों से युक्त’ शब्दावली कुछ बिखरी हुई है। वास्तव में थोड़ी-सी भी अन्तर्दृष्टि रख कर देखा जाये तो वामन-कृत श्रुटियों से हम अवगत हो सकते हैं।

आनन्दवर्धन ने सम्यक् अर्थात् यथोचित घटना—पद-रचना का नाम ‘संघटना’ दिया और उसे ही रीति कहा। वास्तव में वामन और आनन्द की स्थापनाओं में मौलिक भेद का अभाव है। वामन ने पद-रचना को शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से युक्त कहा और आनन्दवर्धन ने उसके लिए सम्यक् विशेषण का प्रयोग कर रस के मानदण्ड का प्रमाण और औचित्य प्रतिपादित किया। दोनों आचार्यों के अभिमतों में जो भेद मुझे प्रतीत होता है वह यह कि आनन्दवर्धन की रीति रस-रूप सौन्दर्य-साधन है :—

“व्यनक्ति सा रसादीन्”^३ और वामन की रीति अपने-आप में सिद्धि है।

१. नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका

२. काव्यालंकार सूत्र १।२।७

३. ध्वन्यालोक ३।५

आनन्दवर्द्धन के उपरान्त राजशेखर द्वारा रीति का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया। राजशेखर की रीति की परिभाषा है—“वचन-विन्यास-क्रमो रीतिः”। नगेन्द्र के मत से पुनः इसमें और वामन के मत में तात्त्विक भेद का अभाव है। राजशेखर ने काव्य-पुरुष के रूपक का प्रसंग होने के कारण वाणी से सम्बन्ध रखने वाले शब्द प्रयुक्त किये—“लेखन से सम्बद्ध शब्द नहीं। यही कारण है कि नगेन्द्र कहते हैं कि राजशेखर ने पद अथवा शब्द के स्थान पर वचन और रचना के स्थान पर विन्यास-क्रम का प्रयोग किया।”

जाने या अनजाने में ही रीति के स्वरूप का क्रम-विकास होता रहा। प्रत्येक आचार्य ने उसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए कुछ अभिनव स्थापनाएँ कीं। १२वीं शताब्दी तक तो रीति-विषयक विवेचन में आचार्य कुन्तक द्वारा क्रान्ति उपस्थित कर दी गई। नगेन्द्र ने कहा कि कुन्तक स्वतन्त्र विचारवान् आचार्य थे— उन्होंने काव्य में कवि-स्वभाव को मुख्य मानते हुए उसी के अनुसार मार्ग का निरूपण कर रीतियों के प्रादेशिक वर्ग-विभाजन का उपहासपूर्वक तिस्कार किया। मेरे मत से कुन्तक ने रीति को निरपेक्ष स्थान और महत्त्व प्रदान कर उस समय फैले प्रवादों के निराकरण का सफल प्रयास किया।

भोज ने रीति की व्युत्पत्ति-परक व्याख्या प्रस्तुत की :—

“वैदर्भादिकृताः पन्थाः काव्ये मार्गा इति स्मृताः।

रीङ्गताविति धातोस्सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥”

इसका सूक्ष्म अनुशीलन करने पर जो कुछ स्पष्ट होता है वह मेरे मत से यह है कि भोज ने मार्ग, पन्था (पथ) और रीति को व्युत्पत्ति-अर्थ में पर्याय सिद्ध करते हुए तीनों की अभिन्नता प्रतिपादित करने का प्रयास किया। भोज कहाँ तक इस विषय में सफल हुए और उनकी असफलता के लिए दोषी किसे कहा जाये, इस विषय में तो विद्वानों में मतभेद है, और मतभेद होना स्वाभाविक भी है; परन्तु एक बात जिस पर अधिकांश मनीषी मत-वैभिन्न्य रखने में असमर्थ रहते हैं वह है कि भोज के अनुसार रीति का अर्थ है कवि-गमन-मार्ग, जिसे कुन्तक ने कवि-प्रस्थान-हेतु कहा। भोज के उपरान्त रीति में संशोधन मम्मट द्वारा प्रस्तुत किया गया, जिन्होंने उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का विवेचन कर वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली रीति-प्रतिपादन का मार्ग प्रशस्त किया।

एतास्तिस्त्रो वृत्तयो वामनादीनां मते बंदर्भोगौडीयापांचालाख्या रीतय उच्यन्ते ।^१

और—

“वृत्तिनियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः ।”^२

नगेन्द्र कहते हैं कि मम्मट के अनुसार रीति (वृत्ति) नियत वर्ण-व्यापार है। उन्होंने वर्ण-गुम्फन का गुण के साथ नियत सम्बन्ध माना है ।^३

विश्वनाथ की प्रेरणा आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रस्तुत हुई। यह तो स्वीकार ही कर लिया गया है, और उन्होंने मम्मट के वर्णव्यापार के साथ-साथ पद-संघटना के महत्त्व के प्रतिपादन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

अन्त में नगेन्द्र की निष्पत्तियाँ इस प्रकार हैं :—

विकास के क्रम में यद्यपि रीति के महत्त्व में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया—वह आत्म-पद से भ्रष्ट होकर अंग-संस्थान मात्र रह गई, तथापि उसकी परिभाषा में कोई मौलिक अन्तर नहीं हुआ। वामन की ‘विशिष्ट पद-रचना’ ही रीति है। यही सर्व-मान्य परिभाषा रही—यह विशिष्टता भी प्रायः शब्द और अर्थ के चमत्कार पर आश्रित मानी गई, और वामन के निर्देशानुसार गुणों के साथ भी रीति का नित्य सम्बन्ध रहा ।^४ फर्क केवल यह हुआ कि वामन ने जहाँ शब्द और अर्थ के शोभा-कारक धर्मों के रूप में गुणों को और उनसे अभिन्न रीति को अपने आप में सिद्ध माना, वहाँ आनन्दवर्द्धन तथा परवर्ती आचार्यों ने गुणों को रस का धर्म माना^५ और उनके आश्रय से रीति को भी रसाभिव्यक्ति के माध्यम-रूप में ही स्वीकार किया। उनके अनुसार रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना-चमत्कार का नाम है जो माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस-दशा तक पहुँचाने में साधन-रूप से सहायक होती है।

गुण—गुणों को भरत ने भावात्मक तत्त्व न मानकर अभावात्मक ही माना है :—

“गुणविपर्ययाद् एषाम् माधुर्योदायलक्षणाः ।”^६

१. काव्यप्रकाश ६।४

२. काव्यप्रकाश ६

३. नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ३०

४. नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ४०

५. नाट्य-शास्त्र—काव्यमाला : १६-११

गुण को दोषों का विपर्यय माना। विपर्यय के अर्थ में विद्वानों में मतभेद रहा है। कहा जाता है कि भरत ने दोषों का विवेचन पहले प्रस्तुत किया और उसी से सम्बद्ध कर गुणों का विवेचन किया। मुझे तो जैकोबी का मत अधिक उचित दिखलाई देता है कि सामान्य व्यवहार-दृष्टि से मनुष्य के दोष ही अधिक स्पष्ट रहते हैं—और गुणों की कल्पना हम प्रायः उन सहज ग्राह्य दोषों के निषेध-रूप में करते हैं। नगेन्द्र कहते हैं कि गुण का लक्षण, दोषों के विपर्यय-रूप गुण काव्य-शैली को समृद्ध करने वाले तत्त्व हैं जो परस्पर-सम्बन्ध से रस के आश्रित रहते हैं, और यही भरत का मत था।

दण्डी ने काव्य के शोभा-विधायक सभी अलंकार माने।^१ नगेन्द्र कहते हैं कि दण्डी के अनुसार गुण भी एक प्रकार के अलंकार हैं।^२ ये काव्य के स्वतन्त्र अंग हैं। वे रस के आश्रित नहीं—काव्य का इनसे सीधा उपकार (उत्कर्ष) होता है।

गुण के लक्षण सबसे पहले वामन ने इस प्रकार व्यक्त किये—काव्य के शोभा-कारक धर्म गुण कहलाते हैं, और वे हैं ओज-प्रसादादि; यमक-उपमादि नहीं। गुण नित्य हैं, उनके अभाव में काव्य का सृजन नहीं हो सकता।^३

नगेन्द्र ने वामन के मत को इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

(१) गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं।

(२) वे काव्य के मूल शोभाविधायक तत्त्व हैं।

(३) वे काव्य के काव्यत्व के लिए अनिवार्य हैं। उनके अभाव में काव्य काव्यपद का अधिकारी नहीं हो सकता।

(४) भरत के प्रतिकूल और दण्डी के अनुकूल वामन गुणों को रस के धर्म न मानकर शब्दार्थ के ही धर्म मानते हैं तथा काव्य में उनकी स्वतन्त्र तथा प्रमुख सत्ता मानते हैं। गुण इसके आश्रित नहीं, वरन् कान्ति गुण का अंग होने के कारण रस ही गुण का अंग है : 'दीप्तिरसत्वकान्तिः'।^४

अन्त में नगेन्द्र के निष्कर्षों से यह स्पष्ट होता है कि वे गुणों को काव्य के उत्कर्ष-साधक मानते हैं, और इसी मत को प्रकारान्तर से आचार्यों ने स्वीकार भी कर लिया है। नगेन्द्र कहते हैं कि वामन-पूर्व ध्वनि-काल के आचार्यों ने उन्हें शब्दार्थ के धर्म माना और यह प्रतिपादित किया कि गुण शब्दार्थ-रूप काव्य का

१. काव्यादर्श, २।१, २।३.

२. शोभाकरत्वं हि अलंकारलक्षणं, तल्लक्षणयोगात्, तेऽपि अलंकाराः।

३. काव्यालंकारसूत्र, ३।१

४. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ५६

साक्षात् उपकार करते हैं—रस के आश्रय से नहीं। उत्तरकालीन ध्वनि-आचार्यों ने इस स्थापना के उच्छेद का प्रयास किया और उन्होंने गुण को प्राण-रूप रस का धर्म माना—शरीर-रूप शब्दार्थ नहीं। वे रस के आश्रय से ही काव्य-उत्कर्ष की साधना करते थे। विवाद काफ़ी समय तक चलता रहा। मम्मट और जगन्नाथ ने व्यंग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध निरूपित कर माधुर्यादि के स्वरूप-निर्धारण में वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ का आधार ग्रहण किया। नगेन्द्र ने गुणों को काव्य के वे उत्कर्ष-साधक तत्त्व माना जो मुख्य रूप से रस के और गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य-कर्म हैं।^१ गुणों के आधार-तत्त्वों के विषय में नगेन्द्र की मान्यता यह रही—गुण रस और शब्दार्थ का धर्म होने के नाते उसे वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ पर आश्रित मानना पड़ता है। गुण के स्वरूप-निरूपण में वर्ण, समास आदि का अनिवार्य आधार इसका प्रमाण है। अतएव गुण अपने सूक्ष्म रूप में चित्तवृत्ति-रूप हैं; और स्थूल अथवा मूर्तरूप में वर्ण-गुम्फ तथा शब्द-घटना रूप हैं। द्रुति, दीप्ति व्यापकत्व नामक चित्त-वृत्ति उसका आंतर आधार-तत्त्व है तथा वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ बाह्य।^२

नगेन्द्र गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो रस और गुण दोनों ही मनःस्थितियाँ हैं।^३ तनिक-सी भी अन्तर्-दृष्टि रखकर हम विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि रस वह आनन्दरूपी मनः-स्थिति है जिसमें हमारी सभी वृत्तियों की अन्विति आ जाती है और वह स्थिति अखण्ड है। गुण भी मनःस्थिति है, जिसमें कहीं चित्त-वृत्तियाँ द्रवित हो जाती हैं और उनमें दीप्त करने की शक्ति होती है। इसे और अधिक ग्राह्य बनाने के लिए कहा गया कि मधुर वर्णों को सुनकर, प्रेम-करुणा आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में एक प्रकार का विकार पैदा हो जाता है जिसे तरलता के कारण द्रुति कहते हैं। महाप्राण वर्णों को सुनकर और वीर एवं रौद्र आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में दूसरे प्रकार का विकार हो जाता है, जिसे विस्तार के कारण दीप्ति कहते हैं। इन विकारों के आल्लाद-रूप पर, उनमें अन्विति स्थापित हो जाने पर, रस का परिपाक हो जाता है। नगेन्द्र के निष्कर्ष इस प्रकार हैं कि गुण को अनिवार्यतः आल्लाद-रूप न मानकर केवल चित्त की एक दशा ही माना जाये, तो सरलता से रस-परिपाक की प्रक्रिया में रस-दशा से ठीक पहली स्थिति माना जा सकता है जहाँ हमारी चित्त-वृत्तियाँ पिघलकर, दीप्त होकर, या परि-

१. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ६१

२. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ६१

३. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ६१

व्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं।^१

वक्रोक्ति

संस्कृत साहित्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों में नगेन्द्र ने सबसे अधिक ग्रन्थ-वसाय वक्रोक्ति-विवेचन में ही किया। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि १२वीं शताब्दी में आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना की। नगेन्द्र कहते हैं कि अपनी मौलिक प्रतिभा और प्रखर मेधा के द्वारा उन्होंने काव्य के मूल सिद्धान्तों का सर्वथा नवीन रूप में पुनरुत्थान किया और ध्वनि-सिद्धान्त के उद्भावक आनन्द-वर्धन की सार्वभौम प्रतिष्ठा को ललकारा :^२

“निर्मूलत्वादेव तयोर्भावाभावयोरिव न कथंचिदपि साम्योपपत्तिरित्यलमनु-
चितविषय चर्वणाचातुर्यचापत्येन।”^३

—अर्थात् भाव और अभाव के समान उन दोनों के निर्मूल होने से दोनों के साम्य का किसी प्रकार भी उपपादन नहीं हो सकता। इसलिए अनुचित विषय के समर्थन में चातुर्य दिखलाने का प्रयत्न व्यर्थ है। नगेन्द्र कहते हैं कि इसी साहसपूर्ण मौलिक विवेचन के कारण कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त केवल सिद्धान्त मात्र न रहकर सम्प्रदाय बन गया है।

वैसे यह तो स्वीकार ही कर लिया गया है कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त की सम्प्रदाय-रूप में स्थापना कोई आकस्मिक घटना नहीं, प्रत्युत वह तो वक्रोक्ति-सम्बन्धी विभिन्न विकसित धारणाओं की अन्विति है। यह ठीक है कि कुन्तक के समान वक्रोक्ति की व्यापक कल्पना, और उसका इस रूप में महत्त्व-स्वीकार उसके पूर्ववर्ती आचार्य नहीं कर पाये; परन्तु बाण से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक के आचार्यों ने वक्रोक्ति का अपने दृष्टिकोण से विवेचन प्रस्तुत किया। यह भी ठीक है कि भामह से पंडितराज तक आते-आते वक्रोक्ति के मूल स्वरूप और उसके अभीष्ट अर्थ में काफी अन्तर पड़ गया। यह बात विकास-क्रम दिखलाने मात्र से स्पष्ट हो जायेगी। वैसे वक्रोक्ति-सिद्धान्त का सम्यक् विकास प्रतिपादित करना मेरे कार्यक्षेत्र के बाहर जा पड़ता है, परन्तु फिर भी विचार-संगठना को दृष्टि में रखकर संक्षेप में बदलती मुख्य प्रवृत्ति की ओर निर्देश किया जा रहा है।

नगेन्द्र कहते हैं कि वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ की कल्पना कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों में ही नहीं, कवियों तक में मिलती है।^४ बाणभट्ट ने कादम्बरी में

१. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ६४

२. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० १८३

३. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित—तृतीय उन्मेष, परिशिष्ट

४. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० १८४

वक्रोक्ति के इसी व्यापक अर्थ का प्रयोग किया :—

“वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यानं परिचयचतुरेण ।”^१

बाण की यह वक्रोक्ति वास्तव में ही इतिवृत्त-वर्णन-भिन्न काव्य की चमत्कारपूर्ण शैली तथा वचन-वैचित्र्य की ही पर्याय है ।

भामह ने ‘काव्यालंकार’ में वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ की कल्पना का मूल उद्गम प्रस्तावित किया । भामह ने वक्रोक्ति में शब्द-अर्थ दोनों की वक्रता का अन्तर्भाव माना :—

“वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः ।”^२

भामह के अनुसार शब्द-वक्रता और अर्थ-वक्रता का समन्वित रूप ही वक्रोक्ति है ।^३ भामह की वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति पर्याय हैं :—

“एवं चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम् ।”^४

नगेन्द्र ने भामह के आशय को इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

- (१) वक्रोक्ति का मूल—वक्रोक्ति का मूल गुण है—शब्द और अर्थ का वैचित्र्य;
- (२) वक्रोक्ति का प्रयोजन—वक्रोक्ति का प्रयोजन है अर्थ का वैचित्र्यमय भावन;
- (३) वक्रोक्ति का महत्त्व—वक्रोक्ति का महत्त्व सर्वव्यापी है, इसके बिना अलंकार का अलंकारत्व ही सम्भव नहीं । इसके अभाव में वाक्य काव्य न होकर वार्ता मात्र रह जाता है ।^५

दण्डी ने वाङ्मय के दो भेद किये :—

- (१) स्वभावोक्ति, और
- (२) वक्रोक्ति

स्वभावोक्ति में पदार्थों का साक्षात् स्वरूप-वर्णन होता है । यह आद्य अलंकार है :—

“नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती ।

स्वाभावोक्तिदच्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ॥”^६

१. कादम्बरी

२. काव्यालंकार, १-६

३. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० १८५

४. काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका, पृ० ६०६

५. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० १८३

६. काव्यादर्श २।८

वक्रोक्ति इससे भिन्न है, उसमें सहज वर्णन न होकर वक्र अर्थात् चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है। उपमादि अलंकार वक्रोक्ति के प्रकार हैं। नगेन्द्र कहते हैं कि उधर अतिशयोक्ति के प्रसंग में दण्डी ने अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का आधार माना—

“अलंकारान्तराणामत्येकमाहुः परायणम्।”^१

वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति दोनों की पर्यायिता भामह और दण्डी सिद्ध कर देते हैं। दोनों की परिभाषाओं में तो साम्य है ही, दोनों का उद्गम भी एक ही है : ‘लोक सीमातिवर्तिनी विवक्षा’। भामह के अनुसार स्वभाव-कथन भी अपने ढंग से वक्र-कथन होगा, परन्तु दण्डी स्वभाव-कथन को वक्र-कथन से निश्चय ही पृथक् और कम महत्त्वपूर्ण मानते हैं, परन्तु नगेन्द्र भामह और दण्डी के वक्रोक्ति-सम्बन्धी मतों को मूलतः भिन्न नहीं मानते।^२ अपने मत को स्पष्ट करने के लिए नगेन्द्र की निष्पत्तियाँ इस प्रकार हैं :—

- (१) वक्रोक्ति को उन्होंने व्यापक अर्थ में ही ग्रहण किया है—वह विशिष्ट अलंकार न होकर सर्व-सामान्य अलंकार है।
- (२) वक्रोक्ति अतिशयोक्ति से अभिन्न है।
- (३) किन्तु स्वाभावोक्ति से भिन्न है, यद्यपि उसके विपरीत नहीं है। स्वभावोक्ति शास्त्र का सहज माध्यम है—काव्य में भी यह बांछनीय है, उधर वक्रोक्ति काव्य का अनिवार्य माध्यम है।^३

वामन ने ‘सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः’^४ के अनुसार वक्रोक्ति को सामान्य अलंकार न मानकर विशिष्ट ही माना। उनका सिद्धान्त रहा है कि “लक्षणा के बहुत से निबन्ध होते हैं, उनमें से सादृश्यनिबन्धना लक्षणा ही वक्रोक्ति नहीं होती।” लक्षणा में भी थोड़ी-सी वक्रता अवश्य रहती है; इसलिए नगेन्द्र का तर्क है कि वामन ने केवल सादृश्यनिबन्धना को ही वक्रोक्ति क्यों माना? विपरीत-लक्षणा आदि वक्रतर रूपों को क्यों छोड़ दिया गया? प्रश्न वास्तव में उचित है और समुचित समाधान की अपेक्षा रखता है। परन्तु वास्तव में वामन की ‘विशिष्ट-पद-रचना रीतिः’ में विशिष्टता वक्रता से एकान्त भिन्न नहीं है। यदि हम वामन की व्याख्या को ही स्वीकार कर लें, तो वामन के शब्दों में विशेष का अर्थ है गुणात्मा और उनके अनेक शब्द तथा अर्थ-गुणों में वक्रोक्ति के अनेक रूपों का

१. काव्यादर्श २।२२०

२. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० १८७

३. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० १८८

४. काव्यालंकारमूत्र ४।६।८

अन्तर्भाव है। नगेन्द्र का तर्क भी उचित ही है कि वक्रता के व्यापक रूप की कल्पना उन्होंने प्रकारान्तर से अपने सिद्धान्त के अनुसार निश्चय ही की है—उसका लोकोत्तर चमत्कार उन्हें पूर्णतया ग्राह्य है—केवल शब्दावली भिन्न है।

आनन्दवर्धन ने भामह की वक्रोक्ति-विषयक स्थापना की पुष्टि की :

“सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्य कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना ॥”

आनन्दवर्धन के मत से वक्रोक्ति अतिशयोक्ति की पर्याय एवं सर्वालंकार-रूपा है, उसका चमत्कार कवि-प्रतिभा-जन्य है, विषय का औचित्य उसका नियामक है अर्थात् वक्रता अथवा अतिशय का प्रयोग विषय के अनुकूल ही होना चाहिए।

अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति का सामान्य रूप ही ग्रहण किया। भामह के वक्रोक्ति लक्षण की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा :—

“शब्दस्य ही वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तरेण रूपेण अवस्थानम्।

.....लोकोत्तरेण चैवातिशयः। तेन अतिशयोक्तिः सर्वालंकारसामान्यम्।”

नगेन्द्र मानते हैं कि अभिनव गुप्त, भोज और कुन्तक प्रायः समकालीन ही थे।^१ डा० राघवन, जो भोज के विशेषज्ञ माने जाते हैं, का मत है कि भोज और कुन्तक दोनों प्रायः एक ही समय में अवन्तिका और काश्मीर में बैठकर परस्पर अपरिचित रहते हुए भामह के वक्रोक्तिवाद की पुनःप्रतिष्ठा करने का प्रयत्न कर रहे थे। वास्तव में सामान्यतः हम डा० राघवन के प्रामाणिक अनुसंधान को अमान्यता देने के अधिकारी नहीं; परन्तु मैं तो नगेन्द्र के मत के पक्ष में हूँ और नगेन्द्र के साथ मुझे भी भोज और कुन्तक के विवेचन में इतना अधिक अर्थ-साम्य प्रतीत होता है कि डा० राघवन की स्थापना में हमें शंका होने लगती है।

ध्वनि

ध्वनि-सिद्धान्त का विवेचन प्रमुख रूप से ‘ध्वन्यालोक’ में, गौण रूप से ‘काव्य-प्रकाश’, ‘साहित्यदर्पण’, ‘रसगंगाधर’, ‘काव्यनिर्णय’ और ‘काव्यदर्पण’ में किया है। इस सिद्धान्त की सबसे प्रमुख विशेषता यह रही है कि ध्वनिकार ने इसके अन्तर्गत रस, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति आदि समस्त काव्य-सिद्धान्तों के मूल तत्त्वों का समावेश कर दिया। ध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित करते हुए ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धनाचार्य ने कहा है :—

१ लोचन, पृ० २०८

२ भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० १६२

“काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समास्नातपूर्व-
स्वस्याभत्वं जगदुरपरे भक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीयते तत्स्वरूपम् ॥”

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि-विरोधों का बलपूर्वक खण्डन कर ध्वनि तथा व्यंजना की स्थापना की—ऐसा डा० नगेन्द्र का मत है । जिस प्रकार शब्द के अलग-अलग वर्णों के उच्चारण से अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती, उसी प्रकार अभिधा या लक्षणा के द्वारा भी सम्पूर्ण अर्थ और विशेष रूप से मार्मिक अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती । यह मार्मिक अर्थ व्यंजना के द्वारा ही अभिव्यजित होता है । अभिधा और लक्षणा के उपरान्त व्यंजना से ध्वनित होने वाला चमत्कारिक अर्थ ही ध्वनि है, ऐसा आनन्दवर्द्धन का मत है । परन्तु यह स्पष्ट उल्लेख कर देना आवश्यक है कि आनन्दवर्द्धन ने इस ध्वनि को अनुरंजन के रूप में ही स्वीकार किया । उन्होंने आगे स्पष्ट किया कि जिस प्रकार घण्टे पर आघात करने से पहले टंकार और फिर मधुर भंकार एक के बाद अधिक मधुर निकलती है, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ भी ध्वनित होता है ।^१ इस प्रकार ध्वनित होने वाला व्यंग्यार्थ—जहाँ पर प्रधान होता है, वहाँ ध्वनि मानी गई :—

“यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृतस्वार्थो ।

व्यक्तः काव्यविशेषः सध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥”^२

ध्वनिकाव्य एक विशेष प्रकार का काव्य कहा जा सकता है जिसमें शब्द और अर्थ अपने स्वरूप को छिपाये हुए उस अर्थ को अभिव्यजित करते हैं जो काव्य का परम रहस्य है । मम्मट ने कहा है :—

“इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिरिति बुधैः कथितः ॥”^३

व्यंजना की प्रधानता के आधार पर ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार काव्य को तीन विभागों में विभक्त किया गया है । जिस काव्य में वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार-पूर्ण व्यंग्यार्थ होता है, वह ध्वनिकाव्य है, और वही उत्तम काव्य है । जहाँ पर वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ गौण या कम चमत्कारक होता है, वह गुणीरत व्यंग्य काव्य है, अर्थात् मध्य श्रेणी का माना जाता है । जहाँ व्यंग्यार्थ का अभाव होता है उसे अवर-काव्य की संज्ञा प्रदान की गई है । ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादकों

१. एवं घटानादस्थानीयः अनुरणनान्योपलक्षितः व्यंग्योप्यर्थः ध्वनिरिति व्यवहृतः—

ध्वन्यालोकलोचन

२. ध्वन्यालोक, १-१३

३. काव्यप्रकाश, १-४

को यही वर्गीकरण मान्य है।

डा० भगीरथ मिश्र का मत है कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन विस्तार के साथ हुआ और खण्डन-मण्डन द्वारा यह अत्यन्त पुष्ट होकर, एक सर्वमान्य काव्य-सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। ऐसा व्यापक काव्य-सिद्धान्त विश्व के साहित्य में नहीं मिलता। इसी कारण इस सिद्धान्त का इतना महत्त्व है। इसके असंख्य भेद-प्रभेद हैं और यह काव्य की व्यापक से व्यापक और सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषताओं को अपने भीतर समेट लेता है।^१

अलंकार

विभिन्न आचार्यों की मान्यताएँ

शास्त्रीय आलोचना के विभिन्न सम्प्रदायों में से रीतिकाल में भी अलंकार-सम्प्रदाय का सार्वभौम शासन रहा। साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में प्रायः हमेशा एक विवाद चलता रहा और विवाद का विषय रहा है : काव्य की आत्मा किसे माना जाये ? यह तो प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि भारतीय साहित्य-समीक्षा के इतिहास में हमेशा अतिवाद का प्राबल्य रहा है। हमारे आचार्यों ने कभी भी दूसरों के मतवादों को उदार दृष्टि से परख कर समझने की कोशिश नहीं की। प्रत्येक सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए पूर्ववर्ती सभी मतों को भ्रान्त ठहराया। तनिक-सी भी अन्तर्दृष्टि रखकर देखा जाये तो स्पष्ट हो सकता है कि यदि आचार्यों ने थोड़ी-सी भी सहायता दी होती और दूसरों के मतवादों को समझने का औदार्य दिखाया होता तो निश्चय मानिये ये मत और सम्प्रदाय अधिक स्थिर और सत्य के अधिक निकट होते। परन्तु हुआ बिलकुल इसके विपरीत। भामह ने अलंकार को ही काव्य का प्राण माना, तथा अलंकार का प्राण वक्रोक्ति को प्रतिपादित किया :—

“सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनयविना॥”^२

तथा वक्रोक्ति का अर्थ शब्द और अर्थ की विचित्रता प्रतिपादित किया। इस कारण भामह के अनुसार शब्द और अर्थ के वैचित्र्य का नाम अलंकार पड़ा। एक

१. डा० भगीरथ मिश्र : काव्यशास्त्र : प्रथम संस्करण, पृ० २०१

२. वक्रोक्तिकाव्यजीवितम्

बात स्मरण रखने की है कि १२वीं शताब्दी में आचार्य कुन्तक ने राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी के वाक्य 'वैदग्ध्यभंगी भणिति' के आधार पर जो वक्रोक्ति का स्वरूप निश्चित किया वह भामह के 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचानलंकृतिः'^१ से सर्वथा भिन्न था। आगे चल कर वामन ने अलंकार के महत्त्व को स्वीकार तो किया, पर काव्य की आत्मा 'रीति'^२ को ही प्रतिपादित किया। आनन्दवर्द्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व'^३ कहकर ध्वनि को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया। ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार काव्य में मुख्यतः वाच्यार्थ का नहीं, प्रत्युत व्यंग्यार्थ का सौन्दर्य निहित रहता है। आनन्दवर्द्धन ने वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और रस-ध्वनि द्वारा पूर्ववर्ती समस्त मतों के समाहार का प्रयास किया :

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। कुछ समय पहले तक हमारे साहित्य में प्रभाव-प्रदर्शन की एक परिपाटी बँध गई थी। छायावाद की बात की जाती है तो प्रतिपाद्य विषय होता है कि हिन्दी-काव्य में सन् २० के बाद कौन-कौन से प्रभाव परिलक्षित होते हैं ? आज फैशन है विकास बतलाने का। हम कोई भी बात करेंगे तो उसका उत्स वेदों या उपनिषदों में खोजेंगे। मेरा अपना मत है कि ये दोनों प्रवृत्तियाँ अतिवाद के छोर पर हैं। यह कोई आवश्यक नहीं कि प्रत्येक काव्य की धारा पर अन्यदेशीय प्रभाव हो ही; और यह भी आवश्यक नहीं कि आज जो कुछ है उसकी जड़ें वेदों और उपनिषदों तक में व्याप्त हों। मेरे मत से सत्य इन दोनों के मध्य प्रवाहित होता है, और उसका अन्वेषण ही समीक्षक के लिए अभीष्ट है।

काव्य में अलंकार का महत्त्व

अलंकार-सम्प्रदाय सम्भवतः रस-सम्प्रदाय का समकालीन है। वेदों में इसके स्फुट उदाहरण हमें प्राप्त होते हैं। 'नाट्यशास्त्र' और 'अग्निपुराण' में अलंकारों का निरूपण किया गया है। 'अग्निपुराण' के पश्चात् जो साहित्य के लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण भामह, दण्डी, वामन, उद्भट और रुद्रट द्वारा किया गया उनमें अलंकारों का पर्याप्त विवेचन प्राप्त नहीं होता है। किन्तु उन ग्रन्थों के नामों में भी काव्यालंकार का प्रयोग किया गया है। नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण के बाद

१. काव्यालंकार, १-३७

२. काव्यादर्श

यद्यपि अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ भामह का काव्यालंकार ही है, किन्तु भामह द्वारा जिन अलङ्कारों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उन्हें विभिन्न स्रोतों से एकत्रित किया गया है।

अलङ्कार-सम्प्रदाय के आदिम प्रणेता भी अलङ्कारों के ऐतिहासिक विकास का क्रम निश्चित करते-करते 'नाट्य-शास्त्र' तक जा पहुँचे। यद्यपि उन्हें अपेक्षा-कृत निराश ही होना पड़ा, क्योंकि भरत ने केवल चार अलंकारों का ही उल्लेख किया था। भरत के अनुसार रसयुक्त होना ही काव्यत्व के लिए पर्याप्त है, यथा:—

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः । न हि रसादृते कश्चित्पदार्थः प्रवर्तते ।

नाट्यशास्त्र : अंक ६

अग्निपुराण में भी काव्य-जीवन का सर्वस्व रस ही प्रतिपादित किया गया है :—

“वाग्बैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।”

अग्निपुराण : ३३७।३२

“अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती ।”

—३४६।२

तथा

“वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारयते परम् ।”

—३४५।१

उपर्युक्त उक्तियाँ काव्य में अलंकार और गुण की स्थिति आवश्यक स्वीकार कर चलती हैं। अलंकार-सम्प्रदाय का व्यवस्थित विवेचन सबसे पहले हमें भामह के 'काव्यालंकार' में प्राप्त होता है—

“युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ।”

काव्यालंकार : १।२१

भामह का मुख्य प्रतिपाद्य था : काव्य में उक्ति का वैचित्र्य। एक बात अवश्य है कि भरत का क्षेत्र केवल रूपक के स्वरूप को व्यवस्थित करना था और शायद इसीलिए उन्होंने केवल उन अलंकारों का उल्लेख किया जिनका सम्बन्ध वाचिक और आंगिक अभिनय से था। भरत के उपमा, रूपक, दीपक और यमक—से भामह तक आते-आते अलंकारों की संख्या ३८ हो गई। यह तो मैं स्पष्ट ही कर चुका हूँ कि भामह ने अलंकार को काव्य का प्राण माना और अलंकार का प्राण वक्रोक्ति को प्रतिपादित किया। यद्यपि कहा जाता है कि भामह का अलंकार-सम्बन्धी विवेचन वैज्ञानिक है, परन्तु मेरा मत इसके विपरीत पड़ता है। भामह

से तो अलंकार-विवेचन का 'अर्थ' होता है और क्रमशः उसका विकास होता जाता है तथा आनन्दवर्धन ने मबका समाहार ध्वनि में किया। यह हम मान सकते हैं कि भामह के 'काव्यालंकार' में अलंकार का एक सुव्यवस्थित स्वरूप स्पष्ट हुआ।

दण्डी और भामह दोनों अलंकार मत के अनुयायी थे। यद्यपि रस के स्वरूप और उपयोग से भली भाँति परिचित थे, किन्तु उन्हें, रस काव्य की आत्मा है—यह स्वीकार्य न था; तभी न उन्होंने काव्य की आत्मा अलंकार-रचना, कल्पना-सौंदर्य को ही माना।

“काव्यशोभाकारान्धर्मनलंकारान् प्रचक्षते।”

—काव्यादर्श २।१

तथा—

“मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।”

—काव्यादर्श १।५१

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का मत है कि,

“कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु।”

—काव्यादर्श १।६२

कारिका में अलंकारों को रस का पोषक बतलाया गया है।^१ उन्होंने अलंकार शब्द का प्रयोग काव्य-सौन्दर्य के अर्थ में किया। वक्रोक्ति को उन्होंने सभी अलंकारों का मूल माना। उनका मत था कि अलंकार के मूल में वक्रोक्ति रहा करती है। वक्रोक्ति से उनका तात्पर्य काव्यात्मक अभिव्यंजना से था। अतएव पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी का अभिमत है कि इन आचार्यों ने काव्य में अभिव्यंजना के सौन्दर्य को ही प्रमुखता दी थी। उनके मतानुसार काव्य का सौन्दर्य इतिवृत्त या साधारण वस्तु-कथन से नहीं होता।^२ दण्डी का मत है कि वक्रोक्ति ही किसी रचना को काव्य के गुणों से अलंकृत करने में समर्थ है। केवल साधारण कथन (स्वभावोक्ति) तथा विवरण ही काव्य नहीं है। इन आचार्यों ने अलंकारों की सीमा के अन्तर्गत रसों को भी समाहित करने का प्रयास किया। उभय आचार्यों ने अलंकार की व्यापक व्याख्या की और इसके अन्तर्गत वक्रोक्ति, रीति और गुण के तत्त्वों को भी समाहित कर लिया था। आचार्य दण्डी ने कान्ति नामक गुण को भी रस का स्वरूप दे दिया था और स्वयं गुण की सत्ता अलंकारों से अभिन्न होने के कारण आचार्य दण्डी का

१. सेठ कन्हैयालाल पोद्दार : संस्कृत-साहित्य का इतिहास : द्वितीय संस्करण, पृ० ८०, सं० २०११

२. आधुनिक साहित्य : नन्ददुलारे वाजपेयी : पृ० ४०६

यह उपक्रम अलंकार-सम्प्रदाय के विशद बनाने में ही सहायक सिद्ध हुआ।^१

अलंकार क्या है ? काव्य में उनका उपयोग क्या है ? इन प्रश्नों का समाधान-सम्बन्धी विवेचन तो बाद में किया जायेगा, अभी तो हम आपको यह बतला दें कि भामह के उपरान्त दण्डी ने 'काव्यालंकारसूत्र' में अलंकारों के स्वरूप को अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने अलंकारों को सौन्दर्य का उपकरण-मात्र माना। काव्य में सौन्दर्य आवश्यक है, और सौन्दर्य सर्वथा अलंकार के आश्रित है; अतएव काव्य की शोभा अलंकार काव्य का शाश्वत धर्म है, ऐसा दण्डी का मत था। उन्होंने अलंकारों की संख्या ३५ मानी। एक बात और—दण्डी ने भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशयोक्ति (exaggeration) को काव्य की आत्मा स्वीकार किया और परवर्ती अलंकार-सम्बन्धी विवेचन को अधिक व्यवस्थित करने के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

मेरे मत से भामह और दण्डी के बाद आने वाले आचार्य उद्भट ने अलंकारों के वैज्ञानिक स्वरूप की स्थापना की। उनका विवेचन इतना सूक्ष्म और सुव्यवस्थित है कि उसने भामह के अलंकार के आद्याचार्य के महत्त्व को न्यून कर दिया। अलंकारों के क्षेत्र में उद्भट का योगदान इस प्रकार है :—

- (१) दृष्टान्त, काव्यलिङ्ग और पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास के भेदोपभेद, अलंकारों की कुल संख्या ४१—यह कार्य उद्भट ने किया।
- (२) श्लेष के उसने दो भेद कर दिये, यद्यपि मम्मट ने उनका निषेध कर दिया—(१) शब्द-श्लेष, (२) अर्थ-श्लेष।
- (३) व्याकरण पर आधृत कर उपमा के भेदों में परिवृद्धि।

फिर तो अलंकारों का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रारम्भ हो गया और रुद्रट तक आते-आते अलंकारों की संख्या ५० तक पहुँच गई। रुद्रट का अलंकार-वर्गीकरण अलंकार-शास्त्र के लिए एक मौलिक देन थी। एक तो उसने अलंकारों के सूक्ष्म भेदोपभेद कर अलंकारों की संख्या ५० तक पहुँचा दी; दूसरे औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया। रस और भाव को रुद्रट के पूर्व अलंकार में सम्मिलित कर लिया जाता था, परन्तु रुद्रट ने रसवत् अलंकारों की सत्ता स्वीकार करने से साफ़ इन्कार कर दिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ में एक बात की ओर मेरा स्पष्ट संकेत रहा है कि अतिवादी दृष्टिकोण सत्-साहित्य के प्रणयन की प्रेरणा देने में असमर्थ रहता है। ध्वनि, रस

और अलंकार में निरपेक्ष और स्वतन्त्र रूप से काव्य की आत्मा निरूपित करने में यही त्रुटि रह जाती थी कि मतवाद की प्रतिष्ठा-सुरक्षा के मोह में दृष्टिकोण पाक्षिक हो जाता था। मतवादों के दुष्परिणाम संस्कृत-साहित्य में स्पष्ट होने लगे थे और इसी कारण बाद में आने वाले आचार्यों ने स्वतन्त्र मत की स्थापना करने की अपेक्षा समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि अलंकार रस और ध्वनि का सहायक होकर ही गौरव और महत्व को प्राप्त कर सकता है।

संस्कृत-समीक्षा में यह समन्वयात्मक दृष्टिकोण एक अभिनव मोड़ था और जिसके 'अर्थ' का श्रेय मम्मट को है। उन्होंने प्रायः सभी प्रचलित मतों का समाहार काव्य को सालंकार मानकर किया, परन्तु उसकी अनिवार्यता का निषेध भी इन शब्दों में किया। सबसे पहली बार मम्मट ने गुण को अलंकारों से पृथक् कर, गुणों को काव्य का साक्षात् कर्म और अलंकारों को काव्य के शब्द और अर्थ का शोभाकारक धर्म माना। रय्यक का योगदान केवल अलंकारों के वर्गीकरण का है। मम्मट का मत ध्वनिकारों के ही अनुसार है। मम्मट ने जिस प्रकार केवल व्यंग्य-प्रधान (ध्वनि) रचना में भी काव्यत्व स्वीकार किया है उसी प्रकार व्यंग्य-रहित अलंकार-युक्त रचना में भी काव्यत्व स्वीकार किया है। मम्मट के मतानुसार स्पष्टतया तो तीन प्रकार की—(१) सरस अलंकार-युक्त; (२) सरस अस्फुट अलंकार-युक्त और (३) नीरस अस्फुट अलंकारयुक्त—रचना में काव्यत्व हो सकता है; पर काव्य में चमत्कार या तो रसादि पर या अलंकार पर निर्भर है। जहाँ रस हो वहाँ तो अलंकार स्फुट न हो तो भी काव्यत्व के लिए रस की स्थिति पर्याप्त है। किन्तु जहाँ रस और स्फुट अलंकार दोनों ही न हों वहाँ अस्फुट अलंकार में चमत्कार न होने के कारण नीरस रचना में स्फुट अलंकार का होना आवश्यक है; अतः यह कहा जा सकता है कि मम्मट को यही अभीष्ट था। ऐसा ही सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का मत है।^१

पहले कहा जा चुका है कि अलंकारों के अर्थ और स्वरूप के विषय में मत-वैभिन्न्य रहा है। डा० नगेन्द्र ने विभिन्न मतों एवं मतवादों का गहन-गंभीर अध्ययन, मनन एवं चिन्तन करने के पश्चात् निम्नलिखित स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं:—

- (१) अलंकार काव्य के सहज एवं अनिवार्य गुण नहीं; केवल अस्थिर धर्म हैं।

१. कन्हैयालाल पोद्दार : संस्कृत-साहित्य का इतिहास, द्वितीय संस्करण २०११, पृ० १६९

- (२) काव्य की शोभा अलंकार पर निर्भर नहीं। सत्काव्य में अलंकार जहाँ भी वर्तमान रहता है, वहाँ शोभा की सृष्टि नहीं, केवल वृद्धि करता है।
 (३) काव्य का सौन्दर्य है रस; अलंकार का गौरव उसी का उपकार मानने में है।^१

काव्य में शब्द और अर्थ रहते हैं। शब्द और अर्थ मनुष्य के किसी भाव अथवा विचार को इस प्रकार व्यक्त करने के लिए होते हैं कि वे अन्य मनुष्यों को भी ग्राह्य हो सकें। किसी भाव या विचार को अभिव्यक्त करने के केवल दो तरीके हमें प्राप्य हैं। एक तो किसी अन्य से उसकी समानता बतला दी जाये या किसी से उसका विरोध प्रदर्शित कर दिया जाये। मान लें हम अंगूर की मिठास का भान किसी ऐसे व्यक्ति को कराना चाहते हैं जिसने अंगूर कभी नहीं खाये। यदि हम कहें कि अंगूर बहुत मीठे हैं तो इससे कुछ स्पष्ट नहीं होगा और वह न कुछ समझ ही सकेगा। यदि हम कहते जायें कि अंगूर बहुत-बहुत मीठे हैं, तो भी मिठास की इयत्ता बतलाने में हमारी उक्ति असफल ही होगी। यदि हम कह देते हैं कि अंगूर शहद-जैसे मीठे हैं, तो हमारी अभिव्यक्ति सफल होगी; और चूँकि हमारे कल्पित व्यक्ति ने अंगूर तो नहीं, शहद का स्वाद अवश्य लिया, वह अंगूर की मिठास से परिचित हो सकेगा। यह है साम्य द्वारा अभिव्यक्ति। इसके विपरीत हम यह कह कर कि अंगूर नीम-जैसे हैं, वैभिन्न्य द्वारा अभिव्यक्ति करते हैं। एक बात है—जितनी अच्छी समानता अथवा विरोध ढूँढ़ निकालने में हम सफल हो सकेंगे, हमारी उक्ति उतनी ही अधिक स्पष्ट और काव्यात्मक होगी।

सभी प्रकार के साम्य और विरोधमय उक्तियाँ काव्यात्मक होंगी, यह समझना हमारी भूल ही होगी। कहा जाता है कि काव्य की उक्ति में चमत्कार होता है और चमत्कार में कौतूहल। असामान्य वस्तु को देखकर या असाधारण उक्ति को सुनकर हमारी कुतूहल-वृत्ति जागरित होती है। परन्तु कुतूहल जगाना ही काव्य नहीं है। काव्य में विस्मय का भाव व्याप्त रहता है और विस्मय से काव्य में रमणीयता आ जाती है।^२ केवल चमत्कार और विस्मय में चूँकि बुद्धि की प्रधानता रहती है, काव्य से उसका बहिष्कार कर दिया जाता है। यहाँ नगेन्द्र का मत—“जिसमें भाव का योग है, वही काव्यानन्द दे सकता है”^३—सत्य के अधिक निकट है। जिस चमत्कार में भाव का योग है, वही काव्य है।

१. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ८१

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि में ‘कविता क्या है?’ शीर्षक निबन्ध

३. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ ८२

अलंकार और अलंकार्य के भेदाभेद का प्रश्न यूरोप में अभिव्यञ्जनावाद के प्रवर्तन के पश्चात् आधुनिक काव्य-शास्त्र में विशेष चर्चा का विषय बन गया है— ऐसा नगेन्द्र का मत है। जैसा कि हम स्पष्ट ही कर चुके हैं कि हमारे यहाँ तो प्रारम्भ से ही इनके पृथक् अस्तित्व का महत्त्व था। भामह, दण्डी और वामन ने अलंकार तथा अलंकार्य का अभेद प्रतिपादित करते हुए समस्त काव्य-सौन्दर्य को अलंकार के अन्तर्गत ही रखा।^१ अलंकार काव्य-शोभा के कारण अथवा पर्याय माने गए।^२ इसी प्रकार अरमणीय या चमत्कार-रहित होने पर काव्य, काव्य न माना जाकर वार्ता माना जाने लगा। सर्वप्रथम रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकार और अलंकार्य के विभेद के महत्त्व का प्रतिपादन किया। शब्द और अर्थ को अलंकार्य और उपमा-अनुप्रासादि को अलंकार स्वीकार किया।^३

आचार्य कुन्तक ने इस विभेद को अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया। नगेन्द्र कहते हैं कि कुन्तक का अभिप्राय इस विवेचन में यह था कि “अलंकार-सहित (अलंकरण-सहित सम्पूर्ण) अवयव-रहित समुदाय की काव्यता है, कवि-कर्मत्व है। इसी अलंकृत (शब्द-अर्थ) का ही काव्यत्व है, न कि अलंकार का काव्य में योग होता है।” नगेन्द्र कुन्तक के मत को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं— (१) तत्त्वरूप में अलंकार-अलंकार्य की पृथक् सत्ता नहीं है। (२) काव्य में शब्द-अर्थ-रूप अलंकार्य का और वक्रोक्ति-रूप अलंकार का पूर्ण तादात्म्य रहता है। अलंकार कोई बाह्य वस्तु नहीं है, जिसका शब्द-अर्थ के साथ योग होता हो। (३) फिर भी काव्य-सौन्दर्य हृदयंगम करने के लिए व्यवहार रूप में इन दोनों का पृथक् विवेचन किया जा सकता है और वह उपादेय भी होता है। केवल काव्य-शास्त्र में ही नहीं, वरन् व्याकरणादि शास्त्रों में भी तत्त्व और व्यवहार में इसी प्रकार के भेद की कल्पना की जाती है।

देखिये तो कितनी वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक निष्पत्तियाँ हैं ! बार-बार दुहराना आवश्यक नहीं कि नगेन्द्र की समीक्षा-पद्धति में मतवादों की व्याख्या के उपरान्त स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष निष्पत्तियाँ विशेष महत्त्व की रहा करती हैं।

यह तो हम स्पष्ट ही कर आये हैं कि प्रारम्भ से ही हमारे यहाँ समीक्षा का क्षेत्र विभिन्न मत-सम्प्रदायों की स्थापना और उनका उन्मूलन रहा है। गुण,

१. डा० नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, प्रथम संस्करण

२. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान्प्रचक्षते।—दण्डी

३. डा० नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ ३०६

सं० डा० नगेन्द्र : हिन्दीवक्रोक्तिजीवितम्, छठी कारिका की वृत्ति

रीति, ध्वनि और रस तक अलंकारों में परस्पर-सम्बन्ध तथा विभेद-प्रस्तार का कोई अन्त नहीं। मेरा तो अपना मत है कि वर्गीकरण और वर्ग-विभाजन सर्वथा निर्दोष प्रक्रिया नहीं है। नगेन्द्र का मत है कि वर्ग जाति का प्रतिरूप है; व्यक्ति को जाति से तभी पृथक् रूप देना चाहिए जब उसका स्वरूप इतना व्यापक और महत्वपूर्ण हो जाये कि वह अपने-आप में एक जाति अथवा उपजाति का ही वाचक बन जाये।^१ नगेन्द्र का मत उनके निरपेक्ष तथा संश्लिष्ट अध्ययन तथा स्वतंत्र चिन्तन का एक रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। परन्तु देखिये तो सही कि भारतीय काव्य-शास्त्र में, भेद-प्रस्ताव करते समय अनेक हल्की रुचि के आचार्यों ने इस मूल सिद्धान्त की उपेक्षा-सी कर दी है; और शायद यही कारण है कि जिससे उनकी उद्भावनाएँ और निष्पत्तियाँ अनावश्यक एवं असंबद्ध हो गई हैं। यही कारण है कि गंभीर आलोचनाओं का निरपेक्ष अध्ययन प्रस्तुत करते समय, समय-समय पर इस प्रस्तार-प्रवृत्ति को नियंत्रित करने का प्रयास करना पड़ा है। नगेन्द्र के अनुसार तो भामह, आनन्दवर्धन, अभिनव, मम्मट आदि गंभीर विचारकों का सबसे महत्वपूर्ण योग यही रहा है कि उन्होंने विस्तार-प्रस्तार की अपेक्षा नियमन एवं समंजन का ही अधिक प्रयत्न किया।

रीति और गुण के विवेचन में दण्डी ने गुण को रीति का मूल तत्त्व स्वीकार किया। आगे चलकर वामन ने—

“विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा”—कहकर गुण और रीति का सम्बन्ध और भी दृढ़ किया। आनन्दवर्द्धन ने तीन विकल्प प्रस्तुत किये। गुण और रीति का ऐक्य है अथवा व्यतिरेक, अर्थात् भेद अथवा अभेद। आनन्दवर्द्धन ने स्पष्ट कहा कि रीति और गुण एक नहीं—इसमें तो कोई विशेष आपत्ति नहीं है; रीति (पद) रचना और गुण उसको अनुप्राणित करने वाला तत्त्व है—दोनों का अभेद सम्भव नहीं। विभिन्न मतों का समंजन करने पर, तथा मम्मट, विश्वनाथ आदि ध्वनिरसवादियों के मतों के आधार पर, कहा जा सकता है कि रीति और गुण एक नहीं—परन्तु उनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, दोनों में गुण का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है। मूलतः रीति उसी के आश्रित रहती है। नगेन्द्र कहते हैं कि गुण भी रीति से अप्रभावित नहीं रहता; रीति के वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ चित्त की श्रुति-दीप्ति और परिव्याप्ति के निश्चित ही साधक अथवा बाधक हो सकते हैं।

गुण और अलंकारों में तात्त्विक भेद वामन के पूर्व नहीं पाया जाता। सर्व-

प्रथम वामन ने गुण और अलंकारों का पार्थक्य इस प्रकार स्पष्ट किया :—

(१) काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ।^१

(२) तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ।^२

वामन के अनुसार दोनों की पारस्परिक स्थिति इस प्रकार है :—

(अ) गुण-अलंकार दोनों ही शब्द-अर्थ के धर्म हैं । (साम्य)

(आ) दोनों का कर्म भी—काव्य का उत्कर्ष-साधन—प्रायः समान है । (साम्य)

(इ) गुण शब्द-अर्थ के नित्य धर्म हैं, अलंकार अनित्य । (वैषम्य)

(ई) गुण काव्य-शोभा का सृजन करते हैं, अलंकार केवल उसकी श्रीवृद्धि । (वैषम्य)

(उ) गुण के अभाव में अलंकार की उपस्थिति काव्य का उल्टे अपकर्ष करती है ।

आनन्दवर्धन ने गुण-अलंकार-विभेद इस प्रकार किया : “जो उस प्रधानभूत—रस—अंगी के आश्रित रहने वाले माधुर्यादि हैं, उन्हें गुण कहते हैं और जो (उसके) अंग शब्द-अर्थ में आश्रित रहनेवाले हैं, उनको कटकादि के समान अलंकार कहते हैं ।^३

मम्मट ने इसे और स्पष्ट किया :—

“सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।^४

विश्वनाथ ने अलंकार की परिभाषा इस प्रकार की है :—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः^५ और

गुण—अस्थिरा इति नैषां गुणवदावश्यकी स्थितिः ।^६

नगेन्द्र ने इस विवेचन के मूल को हृदयंगम किया, किन्तु फिर भी उनकी मान्यताएँ यहाँ भी विश्लेषणपरक और स्वतंत्र बुद्धिगत रही हैं । उन्होंने अतिवाद का निराकरण किया और संयत मतों को स्थापित कर उनके प्रणेताओं के महत्त्व को स्पष्ट किया । नगेन्द्र की समीक्षा में तुलनात्मक आलोचना का सुष्ठु स्वरूप गोचर हुआ । वे कहते हैं कि व्यवहार में रसवादियों ने स्वीकार

१. काव्य-शोभा के कारक धर्म गुण हैं । (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति)

२. काव्य-शोभा के अतिशय हेतु अलंकार हैं । (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति)

३. सं० नगेन्द्र : ध्वन्यालोक, २-६

४. काव्य के लिए सगुणता अनिवार्य है, परन्तु अलंकृति नहीं ।

५. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण

६. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण

कर लिया कि गुण शब्द और अर्थ से पूर्ण असम्बद्ध नहीं। इसी प्रकार अलंकार भी मूलतः वाचक शब्द और वाच्य-अर्थ के कर्म होते हुए भी व्यंग्य अर्थ से सर्वदा असम्बद्ध नहीं होते। गुण चित्त-वृत्ति-रूप हैं, अलंकार अभिव्यंजना को प्रभाव-शाली बनाने वाले उपकरण। परन्तु मूलतः चित्त-वृत्तिरूप होने पर भी जिस प्रकार गुण गौण रूप में शब्द और अर्थ, वर्ण-गुम्फ, शब्द-गुम्फ से भी सम्बन्ध रखते हैं, उसी प्रकार मुख्य रूप में शब्द और अर्थ के धर्म अलंकार-अभिव्यंजना के चमत्कार होते हुए भी गौण रूप में चित्त को भी चमत्कृत करते हैं। यही सापेक्षिक प्रमुखता गुण और अलंकार का मुख्य अन्तर है—गुण मूलतः काव्य के आन्तरिक तत्त्व हैं और अलंकार बाह्य।^१

पंचम उन्मेष
काव्य में व्यक्तित्व

काव्य में व्यक्तित्व

ललित कलाओं में निर्माता के व्यक्तित्व का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। काव्य की परिगणना ललित कलाओं के अन्तर्गत की जाती है। अरस्तू ने नृत्य तथा संगीत के पश्चात् द्वितीय महत्त्व का स्थान काव्य को ही प्रदान किया है। वास्तव में बात यह हुई कि प्लेटो और अरस्तू काव्य में शैली-तत्त्व के महत्त्व के प्रतिपादन में इतने उलझ गए कि वे उसके सृजनकर्त्ता के उचित महत्त्व का प्रकाशन न कर सके। अरस्तू की परम्परा हैरेन्स, होरेस तथा क्विंटिलियन आदि रोमन तथा डायोनिसस तथा डिमेट्रियस आदि यूनानी रीतिशास्त्रियों के ग्रन्थों में विकसित हुई।¹ काव्य-शैली के समीक्षात्मक इतिहास में सर्वप्रथम सिसरो ने व्यक्तित्व के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा कि प्रत्येक व्यक्ति की शैली निरन्तर परिवर्तनशील है एवं मानव-प्रवृत्ति और रुचि के अनुसार बदलती रहती है और वही (शैली) व्यक्तित्व की अभिव्यंजना है।² १९वीं शताब्दी में 'शैली ही व्यक्ति है' (Style is the man) कहने वाले कारलाइल के पूर्व व्यक्तित्व-प्रकाशन का स्वरूप पश्चिमी समीक्षा में स्पष्ट होकर विकसित हो चुका था।

अरस्तू ने कवि और काव्य के सम्बन्ध के विषय पर दो स्थलों पर निर्देश किया। एक स्थान पर तो वे इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं: "इसके पश्चात् लेखक के व्यवितगत स्वभाव के अनुसार काव्यधारा दो दिशाओं में बँट जाती है। गम्भीर चिन्तन जिनका साध्य था उन्होंने उदात्त (exalted) व्यापारों और सज्जनों के कार्यों का अनुकरण किया और यशस्वी पुरुषों की प्रशस्तियाँ लिखीं, उसी प्रकार इन लोगों ने पहले-पहल व्यंग्य-काव्य की रचना की।"³ यहाँ एक बात स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि प्लेटो और अरस्तू का नाटक, काव्य और महाकाव्य-सम्बन्धी विवेचन तत्कालीन साहित्य पर आधृत था। काव्य को हेय कहने में प्लेटो के पास सबसे सबल तर्क यह था कि उस युग का काव्य वास्तव में हेय था।

1. Greek Literary Criticism (Danston), Page 141-143

2. डा० नगेन्द्र : काव्य में उदात्त तत्त्व, पृष्ठ १६

3. Aristotle's Poetics, Page 14

प्लेटो ने कहा कि काव्य मिथ्या है—दो कारणों से, एक तो वह अनैतिक विचारों को प्रश्रय देता है; दूसरे वह जनसाधारण में ईश्वर-सम्बन्धी भ्रान्त धारणाएँ फैलाता है। प्लेटो के युग के काव्य में ये दोनों दुर्गुण विद्यमान थे।

अरस्तू ने जहाँ तक सम्भव हो सका, प्लेटो के आक्षेपों का यथासम्भव सतर्क उत्तर दिया। कवि और काव्य के सम्बन्ध में अरस्तू के विचारों को प्लेटो के आक्षेप के उत्तर में देखना अधिक उचित दीखता है। अरस्तू के विवेचन के आधार पर नगेन्द्र ने अपना मत स्थापित किया कि काव्य की प्रकृति और कवि की प्रकृति में सहज सम्बन्ध है।^१ प्रारम्भ से ही भारतीय काव्यशास्त्र में प्रधान रूप से और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में व्यक्त रूप से इस विचार को मान्यता प्राप्त थी। आचार्य कुन्तक ने भी इसी मत का प्रतिपादन इन शब्दों में किया :—

स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते।^२

परन्तु आज के युग में आलोचकों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया है जो इस विचार के विपरीत विचार की स्थापना और मान्यता पर बल देता है। टी० एस० इलियट ने कहा, “साधारण व्यावहारिक-नैतिक अर्थ में यदि किसी का व्यक्तित्व दूसरे से गुरुतर है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि वह उसकी अपेक्षा अधिक सफल कवि अथवा साहित्यकार भी है। कला-सृजन की इस प्रेरणा के समय जो समन्वय होता है, उससे किसी के व्यक्तित्व का कोई सम्बन्ध नहीं होता।”^३

नगेन्द्र इलियट एवं अन्य चिन्तकों के विचारों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कवि अपनी प्रतिभा, शिक्षा और अभ्यास के बल पर एक ऐसी सर्जना-शक्ति का अर्जन कर लेता है, जो उसके सामान्य व्यक्तित्व से स्वतन्त्र होती है और इस शक्ति की सर्जन-क्रिया का अनुभव कवि के सामान्य व्यक्तिगत अनुभवों से भिन्न होता है।^४

नगेन्द्र मनोविज्ञान के क्षेत्र को छोड़कर इलियट और युंग के साथ इतनी दूर जाने के लिए तैयार नहीं। नगेन्द्र विकास पर आस्था रखने वाले आलोचक हैं। कवि और उसके काव्य को निरपेक्ष तथा असामान्य भाव-भूमि पर रख कर परखना उनके आलोचना-सिद्धान्त से दूर जा पड़ता है। वे तो मानकर चलते हैं कि काव्य में सजीव भावाभिव्यंजना के लिए आवश्यक है कि कवि स्वयं उन भावों का जीवन्त अनुभव करे।

१. डा० नगेन्द्र : अरस्तू का काव्य-शास्त्र, पृष्ठ ३६

२. आचार्य कुन्तक : वक्तोक्तिजीवितम्

३. Eliot : Tradition and the Individual Talent

४. डा० नगेन्द्र : विचार और विवेचन, पृष्ठ १८०

पन्त के भाव-जगत् की निर्माण-शक्तियों पर विचार करते समय वे पन्त-काव्य में ऐन्द्रियता को सौन्दर्योपासना का एक गुण मानते हैं तथा कीट्स में भी उसका आधार पाने के कारण पन्त और कीट्स की भाव-भूमि के साम्य का प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार साकेत की मनोवैज्ञानिक आधार-भूमि तैयार करने में उन्होंने जिस अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है, वह नगेन्द्र की अपनी वस्तु है।

१९वीं शताब्दी तक पश्चिम के देशों में व्यष्टि और समष्टि इन दो वर्ग-भेदों का साहित्य प्रणीत होने लगा था। साहित्यिक विकास के औचित्य, और प्रवृत्ति तथा वृत्ति के मूल उत्स के उद्घाटन में दर्शन, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान का सहयोग प्राप्त होने लगा था। रोमाण्टिक काव्य की परिणति ने मध्ययुगीन विस्मृत व्यक्तित्व को प्रतिष्ठा के पद पर पुनः अधिष्ठित कर दिया था। कॉलरिज जैसे दार्शनिक कवियों ने काव्य की परिभाषा इन शब्दों में की : “Poetry is the excitement of emotion for the purpose of immediate pleasure through the medium of beauty”^१.

वास्तव में व्यष्टि और समष्टि की समस्या इतनी अभिनव नहीं जितनी कि उसे समझ लिया जाता है। ग्रीक सम्यता के युग में नीतिवादी (स्टोइक)^२ तथा आनन्दवादी (एपीक्यूरियन)^३ मतों के मूल में वे ही सिद्धान्त और भावनाएँ पायी जाती हैं जो समष्टि और व्यष्टि में अन्तर्हित हैं। क्रिश्चियन धर्म का प्रसार होने पर लौकिक और अलौकिक भाव-जगत् स्वर्ग^४ और मर्त्य^५ के रूप में क्रमशः व्यक्तिवाद और समष्टिवाद में परिवर्तित होने लगा।

काण्ट तक तो आते-आते इसमें दार्शनिक सूक्ष्मताओं को भी सम्मिलित कर लिया गया। दोनों के दर्शन-पक्षों को स्पष्ट करते समय कहा जाता है कि व्यष्टि-वादी दर्शन व्यक्ति की प्राकृतिक आवश्यकताओं को और समष्टिवादी दर्शन विश्व की स्वतन्त्रता—उसकी अनिरपेक्ष पूर्णता—को केन्द्र मानकर, क्रमशः व्यक्ति और समाज को आधार मानकर अपना विवेचन प्रस्तुत करने में सफलता का अनुभव करता है। व्यक्तिवादी दर्शन केन्द्रीय संवेदन को प्रमुख आधार मानता है और समष्टिवादी दर्शन बुद्धि-आश्रयी होता है।^६

1. Biographia Literaria

2. Stoic

3. Epicurian

4. Heaven

5. Earth

६. नन्ददुलारे वाजपेयी—नया साहित्य : नये प्रश्न, पृष्ठ ७८

धीरे-धीरे कला और साहित्य का अध्ययन समाज से हटता गया और व्यक्ति-विवेचन प्रमुखता प्राप्त करता गया। कला और साहित्य में फ्रायड के प्रभाव से कुंठा और उसके उदात्तीकरण का अध्ययन ही प्रमुखता प्राप्त करता गया। फ्रायड ने व्यक्तिगत मानस की ही एक नयी धारणा को प्रकाशित किया। कला और साहित्य में फ्रायड के प्रभाव से कुंठा और उसके उदात्तीकरण का अध्ययन ही प्रमुख हो गया। अचेतन, पापानुभूति एवं उसका प्रकाशन फ्रायड के कला-सिद्धान्त का आधार-विन्दु था। एडलर और युंग ने भी मनोविश्लेषण की अपनी विशिष्ट पद्धति के विषय में अपने अभिनव विचार प्रस्तुत कर, व्यक्ति को एक नवीन भूमिका के पार्श्व में खड़ा कर दिया। वास्तव में युंग में सामाजिक नवनिर्माण की भावना अपेक्षाकृत अधिक तीव्र थी, तभी उसने कला का मूल 'सामूहिक अचेतन' माना और इस सामूहिक अचेतन को किसी व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध नहीं किया।

नगेन्द्र की यह मान्यता है कि कवि अपने युग की प्रवृत्तियों से भी प्रभावित होता है। डेनिस टामसन ने कहा है कि मनुष्य के जीवन का ढाँचा आज बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर है कि वह क्या पढ़ता है।¹ साहित्य में जो कुछ लिखा जाता है, उसमें दृष्टिकोण का निर्माण अनेक बातों पर निर्भर रहता है। स्कॉट जेम्स ने टेन के विषय में कहा "Taine's contribution to literary science lay in his study of literature as the product of social forces".² टेन का स्पष्ट मत प्रतीत होता है कि कवि के निर्माण में परिस्थितियों का विशेष हाथ रहता है। वैसे तो मान्य आलोचकों के अनुसार स्वच्छन्दतावादी कला के आधार-तत्त्व रम्य और अद्भुत स्वीकार किये गए हैं, परन्तु रोमाण्टिक रिवाइवल के युग में व्यक्ति के व्यक्तित्व की पूर्ण प्रतिष्ठा स्वीकार कर ली गई। क्लासिकल युग की भाँति काव्य को कवि और सामयिक युग-परिस्थितियों से अलग रखकर नहीं परखा जाता था, प्रत्युत कवि के व्यक्तित्व के आलोक में काव्य प्रकाशित हो उठता था।

“रचनात्मक साहित्य और सृजनात्मक साहित्य में अन्तर है—रचना अथवा निर्माण एक योजनाबद्ध, बुद्धि-सम्मत प्रक्रिया है, जिसके पीछे बहिर्मुखी वृत्ति की प्रेरणा रहती है। सृजन आत्मसाक्षात्कार के क्षणों की अनिवार्य प्रक्रिया है

1. Denys Thompson : Reading and Discrimination, Page 3

2. Scott James : The Making of Literature, Page 253

जिसमें वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। निर्माण का लक्ष्य है कल्याण, सृजन का लक्ष्य है आनन्द।”^१

इस अवतरण में नगेन्द्र का समस्त पाश्चात्य साहित्य के अनुशीलन का सार है। प्लेटो से लेकर टी० एस० इलियट तक ने निर्माण के स्वरूप पर प्रकाश डाला, परन्तु दृष्टिकोण के वैभिन्न्य के कारण, उनकी निष्पत्तियाँ भी भिन्न निकलती रहीं। निर्माणकर्ता के व्यक्तित्व में विशेषता का उल्लेख तो हमारे यहाँ भी होता रहा है; पर पश्चिम में जिस व्यक्तिवाद का प्राबल्य रहा, उसका हमारे यहाँ एकान्त अभाव बना रहा। वैसे आचार्य कुन्तक ने कवि-कर्म को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया : ‘कविकर्म काव्यम्।’^२ एक बात जिसका कि उल्लेख करना आवश्यक दिखलायी देता है वह यह कि कुन्तक पश्चिमी विचारधारा के अधिक निकट जा पड़ते हैं। ‘कवि का कर्म काव्य है’, यह यद्यपि एक सामान्य उक्ति-मात्र है; परन्तु क्या आपने कभी इस प्रकार भी सोचा कि इसमें काव्य-सम्बन्धी दो मौलिक सिद्धांतों—वस्तु-परक काव्य-दृष्टि और व्यक्तिपरक काव्य-दृष्टि, जो पूर्व और पश्चिमी आलोचना की बीच की कड़ी हैं—का चिरन्तन संघर्ष सन्निहित है, जो भारतीय समीक्षा में प्रच्छन्न रूप से और यूरोपीय काव्य-शास्त्र में व्यक्त रूप से चला आ रहा है।

वस्तुपरक काव्य-दृष्टि और व्यक्तिपरक काव्य-दृष्टि को अधिक स्पष्ट करना आवश्यक है। वस्तुपरक दृष्टि काव्य की विषयवस्तु, अभिव्यंजना के उपकरण के महत्त्व का प्रतिपादन करना अपना लक्ष्य समझती है। व्यक्तिपरक दृष्टिकोण कवि द्वारा काव्य की विषय-वस्तु और अभिव्यंजना के उपकरण के उपयोग पर विशेष बल देता है। नगेन्द्र का मत है कि वास्तव में भारतीय काव्य-शास्त्र में, समीक्षकों की कवि-प्रतिभा पर आस्था रहते हुए भी काव्य-वस्तु का व्यवहार में अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व रहा। भरत से लेकर आचार्य शुक्ल तक सभी ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से काव्य-विषय की गरिमा के महत्त्व का ही प्रतिपादन किया है। इस विश्लेषण का यह अर्थ लगाना हमारी समीक्षा-दृष्टि का दोष होगा कि पश्चिम में व्यक्तिपरक दृष्टि के प्राबल्य ने वस्तुपरक दृष्टि के महत्त्व को न्यून किया। मैं अपने मत की पुष्टि में आर्नाल्ड और इलियट के मतों को रखता हूँ, जिन्होंने विकट व्यक्तिवादी युग में भी ‘महान् विषयवस्तु’ के महत्त्व का प्रतिपादन किया। इलियट तो अति-व्यक्तिवाद के विरोधी थे तथा वे कवि को केवल माध्यम

१. डा० नगेन्द्र : विचार और विश्लेषण, पृष्ठ १०६

२. वक्रोक्तिजीवितम्

मानते थे, कर्ता नहीं। इलियट काव्य में कवि व्यक्तित्व का योगदान मानने से इन्कार करते हैं, तथा उन्होंने अपने मत का प्रतिपादन इस प्रकार किया है :—

“सफल कवि होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसकी मानसिक शक्ति भी समृद्ध हो। आवश्यकता तो इस बात की है कि उसका मन अधिक से अधिक भावों और संवेदनाओं का अधिक से अधिक माध्यम बन सके। कला-सृजन की इस प्रेरणा के समय जो समन्वय होता है, उससे कवि के व्यक्तित्व का कोई सम्बन्ध नहीं है—इस समस्त प्रक्रिया में उसका व्यक्तित्व सर्वथा पृथक् एवं निर्विकार रहता है जैसा किसी-किसी रासायनिक क्रिया में होता है।”^१

इसी निबन्ध में आगे चलकर इलियट इस रासायनिक प्रक्रिया को स्पष्ट करते हैं : “ऑक्सीजन और सल्फर डाइ-ऑक्साइड से भरे किसी कमरे में यदि प्लेटिनम का एक तन्तु डाल दिया जाये तो वे दोनों सल्फर ऐसिड में परिवर्तित हो जाते हैं; परन्तु आश्चर्य यह है कि प्लेटिनम-तन्तु में किसी भी प्रकार का विकार नहीं आता।”^२

इलियट आगे कहते हैं :—

“The mind of the poet is the thread of platinum. It may partly or exclusively operate upon the experience of the man himself; but, the more perfect the artist is the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates; the more perfectly will the mind digest and transmute the passions which are its material”.^३

व्यक्तिपरक दृष्टि का प्रतिपादन भी लाञ्छायनस, रूसो, स्विनबर्न तथा क्रोचे द्वारा हुआ। रोमाण्टिक युग तो व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा का ही युग रहा है तथा वर्ड्सवर्थ ने व्यक्तित्व के महत्त्व को सर्वप्रथम अपने ‘Lyrical Ballads’ की भूमिका में स्पष्ट किया। इस भूमिका में उसने काव्य-सृजन-प्रक्रिया का वैज्ञानिक और मनो-वैज्ञानिक अनुशीलन भी प्रस्तुत किया। काव्य की परिभाषा भी वर्ड्सवर्थ के अभीष्ट मतवाद की स्थापना करने में समर्थ थी।^४ वर्ड्सवर्थ की स्थापनाओं और निष्पत्तियों को सबसे पहिले कॉलरिज ने अपने ‘Biographia Literaria’

1. Tradition and the Individual Talent : T. S. Eliot, Page 25

2. Vide, Page 26-27

3. Tradition and the Individual Talent : T. S. Eliot, Page 27

4. “Poetry takes its origin from emotions recollected from tranquillity” : Wordsworth’s preface to the Lyrical Ballads, 2nd edn, 1800

और आज इलियट ने भ्रांत ठहराया। इलियट ने तो वर्ड्सवर्थ द्वारा प्रतिपादित काव्य-सृजन-प्रक्रिया की वैज्ञानिकता का खण्डन किया। इलियट कहता है :—

“It is not in his personal emotions, the emotions provoked by particular events in his life, that the poet is in any way remarkable or interesting. Consequently, we must, believe that ‘emotions recollected in tranquillity’ is an in exact formula. Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion, it is not the expression of personality, but an escape from personality.”¹

वास्तव में इलियट रोमाण्टिक कवियों की अतिव्यक्तित्व-प्रकाशनवादी प्रवृत्ति से चिढ़ गए थे और शायद उन्होंने उस प्रवृत्ति के उच्छेद के हेतु इस प्रकार की वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक आधारभूमि का निर्माण किया। इन्हीं भाव-भूमियों पर आधृत कर हम नगेन्द्र के विचारों का विश्लेषण प्रस्तुत कर सकते हैं। नगेन्द्र के विषय में, जैसा कि इस प्रबन्ध में अनेक स्थलों पर निर्देश किया जा चुका है, एक बात सुनिश्चित है उनमें बुद्धि और हृदय का अभूतपूर्व सामंजस्य है। साहित्य को वे सम्यक्ता एवं संस्कृति के विकास-क्रम में परखते हैं। उन्होंने टेन के मत को भी स्वीकार कर लिया कि कवि और कलाकार समसामयिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है। साथ ही वे सेण्ट व्यू के मत की भी उपेक्षा नहीं कर सकते कि कवि और कलाकार परिस्थितियों के निर्माण में सहयोग देता है।

पाश्चात्य आलोचना का प्रभाव

उन्नीसवीं शताब्दी में, भारत क्या, समस्त विश्व का स्वरूप परिवर्तित होने लगा। रूढ़ियाँ, परम्पराएँ और आदर्श नये साँचे में ढलने लगे एवं युग-परिस्थितियों के अनुकूल रूप धारण करने लगे। राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्ति ने विधायकों में परिवर्तन कर दिया, और इन नये विधायकों को सभी पुरानी वस्तुओं में अभाव दिखलायी देने लगा। परिवर्तन की एक लहर उठी और सब कुछ पुराना अपने में समेट, नये को जन्म दे, आगे बढ़ गई। ऐसी बात नहीं कि परिवर्तन की लहर पहली बार उठी हो; परिवर्तन तो प्रकृति का सिद्धान्त है और मनुष्य भी उसे किसी न किसी रूप में स्वीकार करता ही है; परन्तु नये युग में जो परिवर्तन हुए, उनकी

दिशा और प्रकृति, पहले होने वाले परिवर्तनों से नितान्त भिन्न थी। परिवर्तन, पुरातनता के अवशेषों पर कभी खड़ा नहीं हुआ; उसने तो प्रायः हमेशा प्राचीनता से ही प्राण-शक्ति ग्रहण कर, विकासक्रम के रूप में जन्म लिया। वर्तमान युग के परिवर्तन ने सभी कुछ पुराना मिटा डालने की ठानी और बहुत-कुछ तो मिटा भी डाला। १८५० के पश्चात् पश्चिम के साहित्यिक, दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक सभी क्षेत्रों में परिवर्तन के वेग से मानवता को बचाने का प्रयास लक्षित होता है। विकास और समृद्धि का स्वर मंद पड़ गया था, लोग आत्म-रक्षा का प्रयास करने में असफल हो रहे थे। ईसाइयत हजार 'क्रूसेडों' पर खड़ी हो, परन्तु वह मनुष्य के अन्तःगुणों पर आस्था रखती थी, और सहानुभूति (Compassion) उसका महान् गुण था। डाविन ने ईसाइयत पर आघात किया, और बड़ी ही सबल तथा वैज्ञानिक भाषा में प्रतिपादित किया कि "हम एडम और ईव की सन्तान नहीं, प्रत्युत हमारा विकास मक्खी और मच्छर से हुआ है।" 'स्क्रिप्चर्स' पर आस्था और विश्वास रखने वाले लोग इसे सुनकर तिलमिला उठे होंगे। ईसाई धर्म और इस्लाम ईश्वर को अद्वैत मानता था और ईसा तथा मुहम्मद साहब को क्रमशः उनका पुत्र और 'बन्दा' के रूप में स्वीकार करता था। डाविन के साथी चार्ल्स लायल ने रेखागणित के माध्यम से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध कर दिखलाया। मार्टिन लूथर धार्मिक क्षेत्र में क्रांतिकारी घोषित ही किया जा चुका था, परन्तु जनसाधारण के हृदय में उसके लिए स्थान था। विक्टोरिया-युग का अंग्रेजी साहित्य इन्हीं कुण्ठाओं के साथ-साथ, मध्यमवर्गीय क्रांति के स्वर से अनु-प्राणित साहित्य है, और इसी साहित्य का अत्यधिक प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर पड़ा। मेरी अपनी मान्यता है कि चौसर-युग से (प्रतिपादित हो चुका है कि कुछ अंग्रेज, पश्चिम से उस युग में भी आये थे) ही यदि हमारे और पश्चिम के बीच साहित्यिक आदान-प्रदान प्रारम्भ हो जाता, तो आज के साहित्य की दिशा और उसकी उपलब्धियाँ कुछ और ही होतीं।

भारत में जागृति की लहर पश्चिम से आयी और वह भी पश्चिमी साहित्य के अनुशीलन के माध्यम से। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में, भारतीय जनता का अत्यन्त बुरा हाल था। भारत में एक ऐसी जाति का राज्य स्थापित हो गया था जो पुरुषार्थ में प्रवीण, साहस में अग्रणी और लोभ में अतिशय प्रचण्ड थी। पश्चिमी साहित्य के अनुशीलन ने हमें स्वतन्त्र चिन्तन की ओर उन्मुख किया। तभी से हमारे साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव पड़ने लगा। द्विवेदी-काल में प्रभाव की संचित करने का अवसर प्राप्त हो गया और उसके बाद तो अंग्रेजी के १०० वर्ष पूर्व और वर्तमान हिन्दी-साहित्य में साम्य प्रतिपादित करने का प्रयास हुआ।

अंग्रेजी के 'रोमांटिक रिवाइवल' के समकक्ष छायावाद को रखा गया। परन्तु एक बात सुनिश्चित है कि राजनीति, समाज और धर्म के समान साहित्य में कोई वाद या सिद्धान्त अचानक नहीं निकल पड़ता। उसकी कुछ-न-कुछ पृष्ठभूमि होती है। इस तथ्य को उचित रीति से हृदयंगम न कर सकने के कारण, कतिपय तथाकथित आलोचक अपने अपरिपक्व मतों का प्रतिपादन कर भ्रांति का प्रसार करते हैं।

रोमांटिक युग यूरोप में एकाएक उद्भूत नहीं हो गया। वास्तव में ऐलिजाबेथ के युग से ही १९वीं शताब्दी तक अंग्रेजी साहित्य में रोमानी और क्लासिकल धाराएँ प्रवाहित होती रहीं। अंग्रेजी साहित्य में भी काफी समय तक यह भ्रांति बनी रही कि रोमानी-युग, १८वीं शताब्दी के क्लासिकल युग की प्रतिक्रिया-स्वरूप निस्सृत हुआ। अंग्रेजी आलोचक लेविस ने इस भ्रांत मत का निराकरण करने का प्रयास किया। वर्ड्सवर्थ ने भी अपनी काव्य-भूमिकाओं में स्पष्ट किया कि उसकी प्रतिक्रिया क्लासिकल काव्य नहीं, बल्कि १८वीं सदी के रोमानी काव्य के प्रति है। दिनकर ने प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि "जर्मनी और इंग्लैंड में जो रोमांटिक जागरण हुआ, उसके पीछे कुछ-न-कुछ भारतीय प्रभाव भी था।" उन्होंने प्रमुख रोमानी कवियों पर भारतीय चिन्ताधारा का प्रभाव भी बतलाया है। वर्तमान अंग्रेजी साहित्य तो भारतीय चिन्तन-सूत्रों से ओतप्रोत है—इसके समर्थन में एडविन आर्नल्ड, जोन स्टुअर्ट, ब्लैकी, हक्सले, मार्क्स और इलियट के नाम अनेक में से कुछ हैं।

छायावादी युग के समय से जो पश्चिमी काव्य और छायावादी काव्य में एकरूपता आयी, उसे अनेक लोगों ने बड़े विस्मय से देखा। वे प्रसन्न भी हुए कि कम से कम परतन्त्र देश, काव्य-क्षेत्र में विश्व की बराबरी पर पहुँच सका। प्रारम्भ में 'छायावाद' की भी वही दशा थी जो आज प्रयोगवाद अथवा नई कविता की है। 'छायावाद' के स्वरूप को स्पष्ट करते-करते, आलोचकों के रूढ़िवादी और परम्परा-ग्रस्त उत्तर देते-देते, अंग्रेजी कविता का कुछ गहन अध्ययन किया गया और रोमानी कवियों के सदृश ही छायावादी कवियों ने सवक्तव्य काव्य-ग्रंथ लिखना प्रारम्भ किया जिनमें काव्य-विषय के महत्त्व की प्रतिष्ठा, उसकी कलात्मक और सौन्दर्यगत विशेषताओं का विश्लेषण तथा उन्हें समझने का प्रयास था। इसी समय एक नयी विद्या—मनोविज्ञान—का प्रसार देश में हुआ। जिस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप के लिए यह एक नया विषय था, उसी प्रकार भारत में भी प्रारम्भ में उसकी नूतनता ने लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। काव्य का मनो-

विज्ञानपरक विश्लेषण रोमानी आलोचना का एक प्रमुख अंग था और कवि-व्यक्तित्व के प्रकाशन को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। रोमानी काव्य के अनुशीलन के साथ ही साथ रोमानी आलोचना के अध्ययन ने, छायावाद पर लगाये गए आक्षेपों के उत्तर देने में पर्याप्त सहयोग दिया। मनोविज्ञान कवि और काव्य के सम्बन्धों के निरूपण में आधार बन गया।

रोमांटिक काव्य और आलोचना के बाद अध्ययन की गति आगे बढ़ी और १८५० के बाद अनेक नयी चिन्तन-पद्धतियों और काव्य-सम्प्रदायों का प्रभाव हिन्दी पर पड़ने लगा। 'कला कला के लिए', 'कला जीवन के लिए', 'कला और नैतिकता', 'कला और समाज', 'कला और धर्म'—इन समस्त विवेच्य विषयों ने भारतीय मस्तिष्क को आन्दोलित कर, चिन्तन की नवीन दिशा की ओर उसे उन्मुख किया। वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शैली, पेटर, स्विनबर्न, रोज़ेटी, आर्नल्ड, आस्कर वाइल्ड प्रभृति कवि-आलोचकों ने हिन्दी में नवीन आलोचना-पद्धति के उन्नयन में सहयोग दिया। अब से हिन्दी पर पड़ने वाला प्रभाव इंग्लैंड तक सीमित न रह कर फ्रांस, जर्मनी, इटली और रूस तक फैलने लगा, और आज तो अमेरिकन छोटी कहानियों का प्रभाव अत्यधिक है।

टॉल्स्टाय ने आलोचना का एक नवीन सिद्धान्त अपनी पुस्तक 'What is Art' में स्थापित किया जिसमें उपयोगितावादी मूल्यों को अन्य तत्त्वों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया।

आर्नल्ड ने काव्य को जीवन की आलोचना के रूप में प्रतिपादित किया और कवि के सामाजिक दायित्व के महत्त्व को उसने स्वीकार कर लिया। इसके विपरीत रस्किन ने जीवन के उदात्त अंश को स्वीकार किया और कहा कि कवि उन वस्तुओं का स्पर्श भी सहन नहीं कर सकता जो अनुदात्त हैं। रस्किन को समर्थक अधिक मिल गए और कविता, आर्नल्ड के 'जीवन' से हटती गई; यहाँ तक कि प्री-रैफ़ेलाइट्स (स्विनबर्न, रोसेजी, मोरिस) काव्य को जीवन की कुरूपता से बचाकर, काल्पनिक लोक की यात्रा करने लगे। प्री-रैफ़ेलाइट्स वास्तव में पलायनवादी कहे जा सकते हैं; परन्तु अधिक दिनों तक वे जीवन की वास्तविकता को आवृत न रख सके और यथार्थवादी शैली का प्रादुर्भाव हुआ। वास्तव

1. Art for Art's Sake
2. Art for Life
3. Art and Morals
4. Art and Society
5. Art and Religion

में रोमानी काव्य ने कल्पना के महत्त्व को स्वीकार कर लिया था, परन्तु फिर भी उनके पैर धरती पर थे, प्री-रैफ़लाइट्स उड़े और गिर पड़े। १९वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में यथार्थ अपने पूर्व-प्रतिष्ठित पद को स्वीकार कर चुका था।

अंग्रेजी में आलोचना की एक प्रवृत्ति, कवि-विशेष अथवा प्रवृत्ति-विशेष का अतिरंजनापूर्ण प्रतिपादन करने की भी रही। समालोचना को सर्वमान्य और सर्वयुगीन सिद्धान्तों में आबद्ध नहीं किया जा सकता, प्रत्युत वैयक्तिक अभिरुचि और व्यक्तिगत ज्ञान की परिसीमाएँ, समालोचना की परिसीमाएँ बन जाती हैं। हर्वर्ट रीड ने मनोवैज्ञानिक पद्धति द्वारा काव्य में अभिव्यक्त कवि की अदृश्य मानसिक प्रवृत्तियों का उद्घाटन किया। इलियट ऐतिहासिक विकास को महत्त्व प्रदान करता है और उसी पर आधृत कर कवि की आलोचना प्रस्तुत करता है।

आधुनिक आलोचक साहित्य के सभी युगों की काव्य-धारा को सहृदयतापूर्वक समझने की चेष्टा करता है। पश्चिमी आलोचना की इन प्रवृत्तियों के प्रभाव के अलावा, हमारी अपनी आलोचना की एक विकसित परम्परा है। कवि और काव्य का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी होने के कारण, विकास-क्रम का सूत्र हमें प्रागैतिहासिक युग से प्रारम्भ करना पड़ता है। लिखित सामग्री के अभाव में, तथा लिखित सामग्री के अन्यान्य-विषयान्तर्गत होने के कारण आलोचना के विकास-क्रम के अध्ययन का कार्य अधिक श्रम-साध्य हो गया है। भरतमुनि से लेकर पण्डित-राज जगन्नाथ तक संस्कृत-समीक्षा-पद्धति में, तथा प्राकृत-अपभ्रंश में भी, आलोचना के सिद्धान्त यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। रीतिकाल में सिद्धान्त-कार्यों का अभाव नहीं रहा। इस अव्यवस्थित और असंबद्ध सामग्री में से वर्तमान साहित्य के मूल्यांकन के लिए सिद्धान्तों का निर्माण, सहज कार्य नहीं। सद्गुरुशरण अवस्थी ने एक स्थान पर कहा है कि “समीक्षक का उद्देश्य सहानुभूतिपूर्वक ग्रंथ पढ़ना है। किसी प्रकार का पक्षपात लेकर आलोचना-क्षेत्र में उतरना अपनी बुद्धि का दिवालियापन घोषित करना है। जो समीक्षक आलोच्य ग्रंथ के गुणों का स्पष्टीकरण नहीं करते, वे आलोचक बनने योग्य नहीं।”

गुणादानपरः कश्चिद् दोषादानपरो परः।

गुणदोषाहृतित्यागपरः कश्चन भावकः।

आलोचना और आलोचक अपने आज के प्रचलित अर्थ में आधुनिक शब्द हैं।^१ वास्तव में आलोचक ही पहले भावक था, जो मूल्यांकन कर, सहृदयतापूर्वक काव्य के गुण-दोषों का विवेचन करने में समर्थ था। गुण-दोष-निरूपण आलोचना का

उद्देश्य नहीं हो सकता, यह आलोचक को ज्ञात था। आलोचक का व्यक्तित्व अनेक प्रकार के उत्तरदायित्वों से समन्वित रहता है। सृजनकर्ता को प्रेरणा देकर, वह उसका मार्गदर्शक बनता है। सर्जित कृति के गुण-दोषों के विवेचन के आधार पर उसके महत्त्व का प्रतिपादन कर पाठक के कार्य को सहज बनाता है। पाठक में सत्साहित्य के प्रति अभिरुचि जगाना और अभिरुचि बनाये रखना भी उसका कार्य है। इन समस्त दायित्वों के सफल संवहन के लिए आलोचक में कुछ गुणों का होना अपेक्षित है।

शचीरानी गुर्तू ने कहा है, “मौजूदा आलोचना प्राचीन और नवीन का संधि-चिह्न है। (पूर्व और पश्चिम को भी अन्तर्हित कर लिया जावे तो और अच्छा हो) वह अभी समृद्धि के उस छोर को नहीं छू पाई, जहाँ से दिग्भ्रांति होने का खतरा टल जाता है। पर अन्य प्रभावों को आत्मसात् कर बाहर के वाद ने उसे संवर्द्धित और परिपुष्ट किया है। साहित्य के समूहगत पर्यालोचन, परीक्षण, विश्लेषण, उसके सत्य किंवा अर्द्ध-सत्य निष्कर्षों की खोज, सम्यक् अनुशीलन तथा देशीय एवं बहिर्देशीय अन्तर्विरोधों ने इधर कितनी की प्रवृत्तियों को जन्म दिया, जिसमें युगोन वैविध्य और असामान्य गुण-योग हैं। मुख्य रूप से तो दो ही प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही हैं—अन्तर्वादी और वस्तुवादी। अन्तर्वादी प्रवृत्ति का मूल मनोविज्ञान है जिनमें अहंवृत्ति, आत्मप्रपीडन, स्वप्न-परिपूर्ति और दमित इच्छाओं के कारण स्व-रत्यात्मकता (neurosis-neurosis) आदि वैयक्तिक विकृतियाँ संग्रथित हैं। कुछ आलोचकों ने मनोविश्लेषण का दायरा सीमित कर दिया है।

डा० रामरतन भटनागर का मत है कि “आलोचना एक बौद्धिक प्रक्रिया है और वह साहित्य-चेष्टा की अनुगामिनी है।”^१ डा० भटनागर का यह मत टी० एस० इलियट के मत से प्रभावित प्रतीत होता है।

नलिनविलोचन शर्मा^२ ने कहा, “आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और बाबू गुलाबराय के द्वारा स्थापित दो ध्रुवान्तों के बीच हिन्दी-आलोचना के विस्तार की लम्बाई-चौड़ाई विस्मयजनक है। इयत्तया ही नहीं, ईदृक्तया भी इसकी समता किसी भी भारतीय भाषा का आलोचना-साहित्य नहीं कर सकता। फिर भी, यह सत्य है कि परिमाण की तुलना में प्रकार हीनतर है; शुबलजी की ‘मीमांसा’ की ओर

१. डा० रामरतन भटनागर, हिन्दी-साहित्य की कहानी, द्वितीय संस्करण १९५७, पृष्ठ २०४।

२. नलिनविलोचन शर्मा का निबन्ध—वर्तमान हिन्दी-आलोचना : उपलब्धियाँ और अभाव, आलोचना १९५३, अंक ६।

अग्रसर होने के बदले गुलाबरायजी के 'सन्देश' की ओर निम्नाभिमुख होने की ही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।^१

लगता तो यह है कि कदाचित् अतिशय विस्तार के बीच निम्नताएँ, अवरोध, खतरे, अनधिकार चेष्टाएँ, चवित-चर्वण अनिवार्य है; किन्तु कुछ अंशों में उत्कर्ष के लिए आधार-स्वरूप हैं। कभी-कभी इन प्रवृत्तियों के प्रतिनिधियों के बीच मनो-रंजक ही नहीं, प्रत्युत ज्ञानवर्धक शास्त्रार्थ भी, छिड़ते हैं^२ और कृति की आलोचना का व्यक्तिगत आक्षेप से उत्तर दिया जाता है। काव्य की आलोचना, निबन्ध-संग्रहों और आख्यायिकाओं की समीक्षा एवं उपन्यास के नैतिक मूल्यों की स्थापनाओं में ऐसी आंतियाँ हैं जिन्होंने हिन्दी-समीक्षा के विकास को अवरुद्ध कर दिया है। वास्तव में स्वतंत्र प्रतिभा और निरपेक्ष चिन्तन के अभाव में समीक्षा को अन्य-देशीय समीक्षा पर आधृत कर दिया जाता है। पश्चिम की अनुकृति पर हम कृति और कवि के व्यक्तित्व में साम्य का अन्वेषण करते हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि साम्य को हृदयंगम करने में हम समर्थ ही हों। कवि का व्यक्तित्व व्यापकता और गांभीर्य में साधारण व्यक्तियों से भिन्न रहा करता है। कुछ समय पहले हमारी आलोचना की प्रवृत्तियों को जैसे संस्कृत-साहित्य के वैभव और समृद्धि ने आच्छादित कर उसकी गति को अवरुद्ध और उसके सलिल को पंकिल कर दिया था, उसी प्रकार आज पाश्चात्य साहित्य की नवनवोन्मेषशीलता ने आक्रान्त कर रखा है। ठीक है कि ज्ञान-वर्धन किसी भी प्रारूप में और किसी भी ठौर से ग्राह्य है; परन्तु प्रतिभा और व्यक्तित्व के स्वाभाविक विकास में अवरोध उत्पन्न नहीं होना चाहिए। जैसा डा० अमरनाथ भा ने एक बार कहा था कि पाश्चात्य साहित्य के लिए हम प्राचीन भारतीय आलोचना के रसालंकारादि के निष्कर्षों का व्यवहार कर सकते हैं।^३ देखिये, बात ऐसी है कि मनुष्य के विचारों में परिष्कार और परिमार्जन होता रहता है; और वस्तु, साहित्य और सिद्धान्त-सम्बन्धी उसकी मान्यताएँ भी बदलती रहती हैं। यही कारण है कि सिद्धान्त को बदलना पड़ता है। इसी प्रकार नवीन आलोचना को—वह हिन्दी में हो या अंग्रेजी में—आगे बढ़ते चलना है, और अवश्य आगे बढ़ने में उसे समय के अनुरूप बनने के लिए अपने आपको बदलना है; उन तत्त्वों को पीछे छोड़ देना है जो विकास

१. उदाहरणार्थ, डा० माताप्रसाद गुप्त के समर्थकों और पं० चन्द्रबली पाण्डेय का।

डा० गुप्त को यह श्रेय है कि वह स्वयं इस शास्त्रार्थ से विरत हैं।

२. डा० धीरेन्द्र वर्मा का निबन्ध—हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र, आलोचना, आठवीं अंक

की प्रवृत्ति को अधोन्मुख करने के पक्ष में होते हैं। परन्तु फिर भी उसे अपनी वैयक्तिकता का त्याग नहीं करना है। इस कार्य के लिए आलोचक का व्यक्तित्व समर्थ होना चाहिए, अन्यथा आलोचना युगानुरूप प्रारूप धारण करने में समर्थ नहीं हो सकेगी। प्रारम्भ में हिन्दी-आलोचना की गति मंद रही—क्योंकि संस्कृत और अंग्रेजी-समीक्षा के समन्वय द्वारा हिन्दी-समीक्षा को नवीन दिशा-दृष्टि प्रदान करने की आवश्यकता थी, उसका नगेन्द्र के पूर्व अभाव रहा। डा० देवराज ने कहा कि खड़ी बोली हिन्दी-साहित्य की भाँति हिन्दी-आलोचना का इतिहास भी बहुत छोटा है। उन्होंने पं० रामचन्द्र शुक्ल को इन अर्थों में आलोचना-इतिहास का प्रवर्तक कहा। वास्तव में शुक्लजी में क्लासिकल साहित्य की विकसित रस-संवेदना थी, और इस संवेदना को वे उपयुक्त गरिमा और गंभीरता के साथ अभिव्यक्त करने में समर्थ रहे। चूँकि वे परम्परावादी समीक्षक थे, मर्यादावाद उनके रक्त में घुल-मिल गया था, वे नवीन व्याख्या-सूत्रों की उद्भावना नहीं कर सके। यही कारण है कि कबीर आदि सन्तों की वाणी की गरिमा को वे समुचित महत्त्व प्रदान नहीं कर पाए। शुक्लजी की समीक्षा-वृद्धि में स्थान और महत्त्व प्राप्त करने के लिए शक्ति, शील और सौन्दर्य का समन्वय अपेक्षित था, और तुलसी को छोड़ अन्यत्र उन्हें उसका अभाव दिखा। शुक्लजी का ऐतिहासिक दृष्टिकोण छायावादी युग में आकर लुप्तप्राय हो गया। छायावादी समीक्षकों ने, विशेषकर नन्ददुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र ने, आचार्य शुक्ल की मान्यताओं के विरुद्ध छायावादी प्रगीतों के महत्त्व और उसके कलात्मक सौष्ठव की शक्ति को अधिक महत्त्व दिया। आचार्य वाजपेयी और डा० नगेन्द्र ने छायावादी काव्य की विश्लेषणात्मक आलोचना प्रस्तुत कर, छायावाद की अभिव्यक्तिगत अशक्तियों की, उसके धुन्ध और कुहासे की, उसकी दुरूह कल्पनाओं तथा हल्केपन की, रहस्यवाद के नाम पर प्रशस्ति की विवेचना की और उसकी दार्शनिक व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। वस्तुतः छायावादी काव्य नैतिक धरातल पर, जनतान्त्रिक समत्व-भावना और व्यक्ति के महत्त्व की घोषणा का काव्य है—इसके महत्त्व को शुक्लजी की रूढ़िवादी प्रवृत्ति स्वीकार नहीं कर सकी और महादेवी के पश्चात् डा० नगेन्द्र ने ही सर्वप्रथम यह कार्य किया। नगेन्द्र ने ही आलोचना-क्षेत्र में इसकी स्थापना की—काव्य के क्षेत्र में तो इसकी अवतारणा काफ़ी पहले हो चुकी थी—कि काव्य-साहित्य का विषय मनुष्य-जीवन और स्वयं मानवीय भावनाएँ ही हैं, और काव्य का उच्चतम धरातल मानवीय धरातल होता है, दैवी या पारलौकिक नहीं।

डा० जगदीश गुप्त^१ ने कहा कि शुक्लजी के परवर्ती समालोचकों ने—जिनमें नगेन्द्र प्रमुख हैं—उनके दृष्टिकोण में निहित आदर्शनिष्ठ नीतिवाद, वैयक्तिक अभिरुचि का अतिशय आग्रह, प्रगीत-रचनाओं की तुलना में प्रबन्ध-काव्य के प्रति पक्षपात, निर्गुण-मार्गी कवियों की अपेक्षा सगुण-मार्गी कवियों के प्रति विशेष मोह, नवीन प्रतिभाओं के वैशिष्ट्य को परखने में संकोच तथा युगानुरूप परिवर्तनशील काव्य-प्रवृत्तियों के वास्तविक मूल्यांकन की अक्षमता को स्पष्टतया परिलक्षित किया। नगेन्द्र कहते हैं कि इन न्यूनताओं की पूर्ति के प्रयास में तथा साहित्य के बहुमुखी वांछित विकास के साथ-साथ नवीन विचारों और समस्याओं को सहेजती हुई हिन्दी-समीक्षा काफ़ी आगे बढ़ आई है। यहाँ तक कि शुक्लजी को उन्होंने 'आउट आफ़ डेट' तक कह दिया।^२ यही नहीं, शिवदानसिंह चौहान ने उनमें तर्कशून्यता, दुराग्रह, अनपेक्षित पांडित्य-प्रदर्शन तथा पिष्ट-वेषण का आरोप भी किया है।^३

छायावाद के सैद्धान्तिक पक्ष की व्याख्या तो छायावादी कवियों ने स्वयं की और उनके मूल में स्वरचित काव्य की गुरुता को प्रतिष्ठापित करने का भाव निहित था। प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी तथा रामकुमार आदि प्रमुख कवियों ने साहित्य, विशेषकर काव्य, से सम्बन्ध रखनेवाली मौलिक समस्याओं पर गम्भीर रूप से विचार किया। प्रसाद ने विशुद्ध भारतीय चिन्तन-प्रणाली से अनुभूति और अभिव्यक्ति की समस्या पर विचार किया। पन्त की भूमिकाएँ युग-चेतना तथा सहज सौन्दर्य-बोध की शक्ति को केन्द्र मान पाश्चात्य तथा भारतीय दृष्टियों के समन्वय के लिए प्रयासोन्मुख हैं। निराला के निबंधों में ओजस्वी शब्दों में काव्य के नवीन एवं विद्रोही स्वर और मुक्त स्वरूप को सम्मान मिला। महादेवी का समन्वयात्मक चिन्तन-पक्ष कुछ अधिक गम्भीर हो गया है, उन्होंने छायावादी काव्य के अनुभूति-पक्ष को उपनिषदों और वेदों की आध्यात्मिक साधना तथा अतीन्द्रिय सौन्दर्य को व्यक्त करने वाली वाणी से सम्बद्ध कर दिया। इस सैद्धान्तिक पक्ष की आधार-भूमि पर नगेन्द्र ने अन्तर्विरोधों को छोड़कर उनकी धारणाओं को स्पष्ट कर व्यावहारिक पक्ष अधिक सबल बना दिया। शास्त्रीय और सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा नगेन्द्र का भुकाव व्यावहारिक पक्ष की ओर अधिक रहा। डा० जगदीश गुप्त ने कहा है कि नये समीक्षकों में स्वयं समीक्षा की परि-

१. डा० जगदीश गुप्त : 'शुक्लोत्तर-समीक्षा', आलोचना, अंक ६

२. डाक्टर नगेन्द्र : विचार और अनुभूति, पृष्ठ ६२

३. शिवदानसिंह चौहान : साहित्य की परख

पाटी का निर्माण करनेवालों, पाश्चात्य काव्य-मतों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करनेवालों में, नये मूल्यांकन की समस्या को नये सिरे से उठानेवालों में, सब मिलाकर आधुनिक हिन्दी-समीक्षा के पर्यालोचन में डा० नगेन्द्र का व्यक्तित्व सबसे समर्थ है। डा० नगेन्द्र में पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों समीक्षा-दृष्टियों को गंभीरता से समझने और मूल तक पहुँच जाने की क्षमता है तथा दोनों दृष्टियों के समन्वय से वास्तविक तत्त्व को ग्रहण करने की पर्याप्त शक्ति भी है।

डा० जयकान्त मिश्र^१ ने कहा है कि पाश्चात्य विचारधारा में देश, काल और पात्र के अनुसार कला और साहित्य की समीक्षा होती रही है। कोई भी कला कैसी है, उसके तत्त्व कैसे हैं और वह किन आधारों पर रचित है, इसका समुचित ज्ञान तभी प्राप्त किया जा सकता है जब हम यह जानें कि वह किस देश में, किस समाज में, किस जाति में और किस युग में उत्पन्न तथा विकसित हुई थी। आधुनिक इतिहास और खोजों से अब यह अधिक सम्भव हो चला है कि हम कलाकृति को उसके युग की सामाजिक तथा साहित्यिक पृष्ठभूमि में तथा कलाकार की जीवनानुभूतियों की पृष्ठभूमि में समझें और तब उसकी सफलता या सौन्दर्य की समीक्षा कर सकें। नगेन्द्र का आलोचना-साहित्य इसी चिन्ता-धारा से अभिषिक्त है और इसी के मूल्य-उद्घाटन तथा मूल्य-प्रतिपादन में वे रत हैं। नगेन्द्र की मौलिक और निरपेक्ष विचार-पद्धति में समन्वय की अपूर्व शक्ति है। संस्कृत-साहित्य का सूक्ष्म अनुशीलन करने के उपरान्त वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय समीक्षा-पद्धतियों में इस प्रकार की अभिनव ऐतिहासिक समीक्षा का अभाव रहा। समीक्षा का प्रमुख आधेय वस्तु अथवा उसकी आत्मा रहा। दोनों के समन्वय के प्रयास में काव्यांगों के महत्त्व का समुचित प्रतिपादन न हो सका। ऐतिहासिक समीक्षा वास्तव में पाश्चात्य समीक्षा की देन है और नगेन्द्र की आलोचना-पद्धति में भारतीय गुण और वस्तुपरक दृष्टिकोण तथा ऐतिहासिक प्रभाव-परक मत का स्वस्थ विनियोग है। 'देव और उनकी कविता' में रीतिकालीन कविता की मुख्य प्रवृत्तियों के विवेचन में, विभिन्न सम्प्रदायों के औचित्य और महत्त्व-प्रतिपादन में, काव्यांगों के वैज्ञानिक विश्लेषण में, कवि की व्यक्तिगत रुचि और मान्यताओं के उत्स-निरूपण में, सर्वत्र ही, नगेन्द्र की यह प्रवृत्ति लक्षित होती है।

साधारणतः किसी भी युग में समकालीन साहित्य का सही मूल्यांकन दुस्तर कार्य होता है। एक तो कवि अथवा आलोचक के हम इतने समीप रहते हैं कि उसके परखने के लिए जो निष्पक्ष दृष्टि अपेक्षित होती है, उसका साधारणतः हममें

अभाव रहता है; दूसरे आलोचक स्वयं सैकड़ों स्पष्ट अथवा अस्पष्ट सूत्रों से अपने युग के साथ ऐसे अभिन्न रूप में गुंथा हुआ होता है कि स्वयं अपनी आलोचना किये बिना उस साहित्य की जाँच सम्भव नहीं होती। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक आदि प्रभाव समान रूप से जन-साधारण तथा साहित्य-प्रणेताओं पर पड़ते हैं। इस प्रभाव को इन दो वर्गों ने जिस रूप में ग्रहण किया है, इससे उन के दृष्टिकोण में भेद होना स्वाभाविक-सा हो जाता है। हम परिस्थितियों और घटनाओं, विचारधाराओं और चिन्तन-शैलियों के इतने निकट रहते हैं कि युग की आत्मा की समग्र गति से पूर्ण परिचय प्राप्त नहीं कर सकते। अध्ययन और अन्वेषण के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न चिन्तकों के अनुभव और ज्ञान का सार प्राप्त कर सकना कठिन होता है। नेमिचन्द्र जैन ने उचित ही कहा है कि दूर-दूर तक बिखरे साहित्य के पृथक्-पृथक् खण्डों के व्यक्तित्व को, और सामाजिक परिपार्श्व में उनके संबंध को समझ सकना भी सहज नहीं।^१

समकालीन साहित्य को आँकने की यह कठिनाई पिछले युगों की तुलना में आज सैकड़ों गुना बढ़ गई है। आज के जीवन में विभिन्न राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक समस्याओं और व्यवस्थाओं के बीच इतनी बड़ी टक्कर और संघर्ष है कि जीवन के साधारण से साधारण प्रश्न को लेकर भी किसी सर्वमान्य निष्कर्ष पर पहुँच सकना लगभग असम्भव है। इसके अतिरिक्त विभिन्न साहित्यिक एवं सैद्धान्तिक विचारधाराओं के अपने निजी उक्त भाव भी इतने अधिक हैं कि किसी भी प्रकार का सरलीकरण घातक हो सकता है।

रीतिकालीन काव्य के गौरव-प्रतिस्थापन, रस के वैज्ञानिक विवेचन, अलंकारों का काव्य के वस्तु-पक्ष के साथ सम्बन्ध, छायावाद के स्वरूप-निर्धारण, प्रगति और प्रयोगवाद के काव्यात्मक और कलात्मक मूल्यों के उद्घाटन के साथ-साथ जन-चेतना और साहित्य-चेतना के साथ उसका सम्बन्ध-स्थापन, नाटक की प्रमुख प्रवृत्तियों का आज के युग के साथ समंजन आदि ऐसी समस्याएँ थीं जिनकी ओर नगेन्द्र को आकृष्ट होना पड़ा। जिस विवेक और निष्ठा युक्त व्यक्तित्व से नगेन्द्र ने साहित्य के समालोचना-पक्ष को समृद्ध किया, वह हमारे युगीन साहित्य की एक अमूल्य निधि के स्वरूप में सुरक्षित है। साहित्यकार की निजी शक्ति, उसकी अनुभूति, उस अनुभूति की सचाई और गहराई का जैसा व्यवस्थित और गाम्भीर्य युक्त विवेचन नगेन्द्र ने प्रस्तुत किया, सामान्यतः उसका अभाव ही रहा है। आधुनिक युग की जटिलता के कारण अनुभूति-विवेचन और विश्ले-

षण का प्रश्न कितना महत्वपूर्ण और जटिल है, इसका अनुभव हम सभी करते हैं और साधारणतः सत्य की यह खोज आधुनिक साहित्यकार के मन में बड़ी उथल-पुथल और संघर्ष को जन्म देती है। नगेन्द्र ने ऐसे संघर्ष में अव्यवस्थित जीवन में से एक ऐसे जीवन-दर्शन, और सामाजिक-नैतिक परिकल्पना को खोज निकाला जो व्यक्तिगत विचारधाराओं के मध्य अन्तर्विरोध का शमन, जीवन के बदलते मूल्यों के बीच राजनीतिक-सामाजिक आदर्श की परिकल्पनाओं के तथा वास्तविक अनुभूतियों के बीच, समष्टिगत आदर्शों और व्यक्तिगत प्रेरणाओं और आकांक्षाओं के बीच समन्वय का एक ऐसा आधार प्रस्तुत करती है जो अभिनव होने के साथ ही उपयोगी भी है।

भारतीय कला और साहित्य के उन्नायकों में एक विश्वास का प्राधान्य रहा कि कलाकृति, जो वह सृजन करता है उसका परिचय, उसका ज्ञान, जीवन से, देश से और काल से सीमित न हो। वह शाश्वत कलाकृति का निर्माण करता है और आशा भी करता है कि देश और काल उसकी सफलता या सौन्दर्य को आँकने में सहायक नहीं हो सकते। इस कारण समालोचना के मान सार्वयुगीन और सार्व-देशिक होने चाहिए—ऐसा भारतीय कला और साहित्य के प्रणेताओं का मत रहा है। टेन^१ ने इस सिद्धान्त का जाति^२, युग^३ और तात्कालिक प्रभाव^४ के रूप में प्रतिपादन किया। मार्क्सवादी विचारधारा ने मनोवैज्ञानिक निष्पत्तियों और अपने ऐतिह्यों के सहारे जीवन की यथार्थ अनुभूतियों का साहित्य पर कैसा प्रभाव पड़ता है—इस पर मनन करने का अवसर दिया।

कला या साहित्य का सम्बन्ध नैतिकता से, जीवन के परम लक्ष्य से, धर्म से कहाँ तक है, इस विषय पर भी पाश्चात्य समीक्षा में काफ़ी विमर्श होता रहा और नगेन्द्र तथा नन्ददुलारे वाजपेयी की आलोचना में जो इस दिशा की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति है, वह निश्चित रूप से पश्चिमी समीक्षा की ही देन है। नगेन्द्र ने संस्कृत-साहित्य के कतिपय सम्प्रदायों के वैज्ञानिक विवेचन में इस प्रवृत्ति का अच्छा परिचय दिया है। काव्य के स्वरूप-विवेचन में उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य विभिन्न मतवादों को उदाहृत करने के उपरान्त निष्कर्षों में स्वस्थ समन्वय का परिचय दिया।

समीक्षा के क्षेत्र में पश्चिमी जगत् में तुलनात्मक प्रणाली को भी किंचित्

1. Taine

2. Race

3. Milieu

4. Moment (Time)

अधिक महत्त्व प्राप्त होता रहा है। मैथ्यू आर्नल्ड^१ ने इसकी मान्यता को स्वीकार कर स्पष्ट घोषणा की कि साहित्यकारों या कलाकारों की सफल कृतियों को ध्यान में रखकर आलोच्य कृति की आलोचना होनी चाहिए। 'तुलनात्मक' शब्द के उचित अर्थ को ग्रहण न कर कभी-कभी इस प्रकार की समीक्षा-प्रणाली में भ्रान्तियों तथा विपरीत मतवादों का पोषण हो जाता है। तुलनात्मक का अर्थ जब नवीन और प्राचीन काव्य की तुलना से लिया जाये, तो अधिक उचित और अच्छा तो यही है कि इस प्रकार की समीक्षा-प्रणाली को ग्रहण नहीं किया जाये। वास्तव में तुलनात्मक समीक्षा का आशय होता है—समान सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों में दो भिन्नदेशीय, अथवा अन्तर्देशीय, साहित्यिकों के मत-साम्य और वैषम्य के उत्स का अन्वेषण। लांजाइनस ने तथा भारतीय परम्परा ने भी इस मत का पोषण किया है। डा० जयकान्त मिश्र ने ठीक कहा है कि (तुलनात्मक रीति से आलोचना का) यह अभिप्राय कदापि नहीं समझना चाहिए कि भिन्न रुचि की वजह से ही कोई काव्य अच्छा या बुरा हो सकता है। जो निर्णायक मानदण्ड होंगे, वे ऐसे होंगे, जो प्रसिद्ध हों और सभी की दृष्टि में मान्य हों, तभी उनको कसौटी मानकर कला-कृति की समीक्षा करनी होगी।^२ समालोचना की इस कसौटी को भी नगेन्द्र के हाथों समुचित महत्त्व प्राप्त हुआ। अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति, प्रतिभा और अन्तर्प्रेरणा, करुणरस का आस्वादन और विरेचन-सिद्धान्त, छायावाद और रोमांटिक धारा—इन विषयों में नगेन्द्र पश्चिमी तुलनात्मक समीक्षा की कसौटी को आधार मानकर चले हैं, परन्तु समीक्षा की व्यवस्था नगेन्द्र की अपनी है। प्रत्येक वाद अथवा सम्प्रदाय की प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख, उनका उत्स, उनके साम्य अथवा वैषम्य का आधार इस आधार का वैज्ञानिक मनोविश्लेषण, इस विश्लेषण का औचित्य और महत्त्व-प्रतिपादन तथा अन्त में अपना स्पष्ट मत—यह है नगेन्द्र की समीक्षा-प्रणाली, जो समीक्षा की अन्य प्रणालियों से प्राण-रस ग्रहण करने के उपरान्त भी अपने विषय-प्रतिपादन के क्रम और व्यवस्था में अभिनव है।

आधुनिक काल में सर्वाधिक मान्यता उस समीक्षा-सिद्धान्त को प्राप्त है जिसके अनुसार यह देखना आवश्यक है कि कलाकार ने सौन्दर्यात्मक तीव्रानुभूति की है या नहीं, एवं उस अनुभूति को अपने पाठक-वर्ग तक पहुँचाने में उसे साफल्य प्राप्त है अथवा नहीं। यदि सौन्दर्यानुभूति पर्याप्त मात्रा में नहीं है और जिस विषय

1. Essays in Criticism : Matthew Arnold

२. डा० जयकान्त मिश्र का लेख : आलोचना १९५३, अंक ६

डा० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धान्त

या जिस परिस्थिति का प्रतिपादन लेखक या कवि या कलाकार करता है, वह पर्याप्त सौन्दर्ययुक्त अनुभूति नहीं है तो श्रेष्ठ कला या साहित्य का वहाँ विकास सम्भव नहीं। नगेन्द्र का मत है कि सफल कला या साहित्य के लिए यह आवश्यक है कि कलाकार अपनी कला से, अपने विशिष्ट माध्यम द्वारा उस सौन्दर्यानुभूति को अपने पाठक-वर्ग तक पहुँचा सके। विषय को संवेद्य बना कर पाठक में उसकी अनुभूति को जगाना क्रोचे के सिद्धान्त से साम्य रखता है। इस साम्य के बने रहने पर भी नगेन्द्र के सिद्धान्त का वैशिष्ट्य समाप्त नहीं होता। वास्तव में मैथिली-शरण गुप्त और सुमित्रानन्दन पन्त सम्बन्धी समालोचना-ग्रन्थों में इसी सौन्दर्यगत और कलात्मक आधार को स्वीकार कर नगेन्द्र ने कवि की मानसिक स्थिति के उन क्षणों का विश्लेषण किया है, जिन में कृति का निर्माण हुआ। उन्होंने उसी कलाकृति को सफल माना जिसमें कि पाठक कलाकार की अनुभूति का अनुभव करने में समर्थ हो सके। यही कारण है कि पन्त की प्रारम्भिक रचनाओं में जो रचना-कुशलता, शैली, शब्द-विन्यास तथा भावना की तीव्रता नगेन्द्र पा सके, उनका पन्त की बाद की प्रगतिशील कही जाने वाली रचनाओं में अभाव है। इस प्रकार की समीक्षा-पद्धति के अनुसार नगेन्द्र प्रारम्भ में कलाकृति के सौन्दर्य के कारणों पर प्रकाश डालते हैं, उसके बाद कलाकार की अनुभूति के मूल उत्स के अनुसन्धान का प्रयास करते हैं। कवि की अनुभूति का स्वयं अनुभव करने के बाद, उसे अनुभव कराने में कलाकार रचना-शिल्प द्वारा कितनी सफलता प्राप्त कर सका, इसका निर्देश करते हैं। अन्त में कलाकृति की रचना-कुशलता, शैली, शब्द-विन्यास आदि की समीक्षा प्रस्तुत कर कलाकृति के 'रस' का अनुभव करना, रचना-कौशल द्वारा परिपक्वता का मूल्यांकन करना तथा इसके महत्त्व तथा औचित्य का प्रतिपादन करना यही नगेन्द्र-समीक्षा का सार है। जिसमें भारतीय समीक्षा की पराकाष्ठा और पाश्चात्य समीक्षा की अन्तिम परिणति है, वह नगेन्द्र-समीक्षा है। यही 'एस्थैटिक' मानदण्ड आधुनिक समीक्षा के श्रेष्ठतम मानदण्ड हैं। एवरक्राम्बी और आइ० ए० रिचर्ड्स इसी को समीक्षा का श्रेष्ठतम सिद्धान्त मानते हैं।

डा० जयकान्त मिश्र कहते हैं कि पाश्चात्य समीक्षा के अनुसार आलोचक का काम नीर-क्षीर-विवेक मात्र नहीं है।^१ रिचर्ड्स ने समीक्षा का प्रधान उद्देश्य साहित्यिक 'मूल्यांकन' बतलाया। उनका मत है कि मूल्य^२ तथा प्रेषणीयता^३

१. डा० जयकान्त मिश्र : आलोचना ५३, अंक ६

२. Value

३. Communication

की प्रक्रिया—इन्हीं दोनों स्तम्भों पर आलोचना के भवन का निर्माण सम्भव है। मनुष्यों के विचारों और भावनाओं में प्रारम्भ से ही प्रकाशन अथवा प्रेषणीयता की सम्भावना निहित रहती है। युगों से मनुष्य इसलिए ही सोचता है और अनुभव करता है कि वह अपने विचारों और अनुभूतियों को दूसरों के लिए व्यक्त कर सके। कला के निर्माण में यही प्रयोजन छिपा रहता है, अतएव प्रेषणीयता का वास्तविक अर्थ दूसरों के मन में समान अवस्था का उत्पन्न करना है। जब हम विचार अथवा किसी बात का अनुभव करते हैं तब अपने वातावरण से हमारा एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध स्थापित होता है। जब वैसा ही सम्बन्ध वातावरण और किसी अन्य व्यक्ति के बीच स्थापित होता है तब समान मानसिक चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं। किसी सूचना मात्र का वहन अत्यन्त सरल ढंग से हो जाता है, किन्तु सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्तियों का दूसरों तक पहुँचाना दुस्तर कार्य है; इसके लिए असाधारण माध्यम की आवश्यकता होती है। चुने हुए शब्द एक-दूसरे से मिलकर तथा सुचारु रूप से गुम्फित होकर ऐसा विशिष्ट माध्यम निर्मित करते हैं। इसी अर्थ में छन्दों में बँधी हुई काव्य की भाषा भाव-प्रकाशन में साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक समर्थ मानी जाती है। इस प्रक्रिया का नगेन्द्र की समीक्षा-पद्धति पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि छायावाद के, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के विवेचन में, कवियों के व्यक्तित्व-विश्लेषण में सर्वत्र ही इसी प्रणाली की छाप हमें दिखायी देती है। जिस प्रकार रिचर्ड्स, लीविस, इलियट की समीक्षा-पद्धति मनोवैज्ञानिक तथा सिद्धान्त-पक्ष से भी अधिक पुष्ट है, इसी प्रकार नगेन्द्र के समीक्षा-पद्धति में सिद्धान्त-विवेचन, उसके महत्त्व-प्रतिपादन के साथ-ही-साथ उसका औचित्य तो स्पष्ट कर ही दिया जाता है, समसामयिक कविताओं से उद्धरण लेकर सिद्धान्त को स्पष्ट करना भी नगेन्द्र की समीक्षा की विशेषता है। क्रोचे की मान्यताओं को स्पष्ट करने के उपरान्त नगेन्द्र 'कामायनी' के उद्धरण द्वारा क्रोचे की मान्यताओं को स्पष्ट करते हैं। पन्त के मानसिक विश्लेषण में रिचर्ड्स का प्रभाव स्पष्ट है। इसी प्रकार पश्चिमी समीक्षा का आधार लेकर नगेन्द्र ने तुलनात्मक समीक्षा भी की। सौन्दर्य-उपासना पन्त और कीट्स में समान है, तथा इसी प्रकार आवेश, उन्माद, मानवता-मुक्ति, भ्रातृत्व-प्रेम, आध्यात्मिक उत्कर्ष भी शैली और पन्त में समान रूप से प्राप्त हैं। उन दोनों की तुलना कर नगेन्द्र ने अपनी तुलनात्मक बुद्धि का अच्छा परिचय दिया। अंग्रेजी एवं संस्कृत-साहित्य का अच्छा ज्ञान होने के कारण नगेन्द्र की तुलनात्मक समीक्षा में हमें सजीवता और सहृदयता का अभाव नहीं मिलता। पन्त की बाद की रचनाओं में नगेन्द्र को विक्टोरियन

या जिस परिस्थिति का प्रतिपादन लेखक या कवि या कलाकार करता है, वह पर्याप्त सौन्दर्ययुक्त अनुभूति नहीं है तो श्रेष्ठ कला या साहित्य का वहाँ विकास सम्भव नहीं। नगेन्द्र का मत है कि सफल कला या साहित्य के लिए यह आवश्यक है कि कलाकार अपनी कला से, अपने विशिष्ट माध्यम द्वारा उस सौन्दर्यानुभूति को अपने पाठक-वर्ग तक पहुँचा सके। विषय को संवेद्य बना कर पाठक में उसकी अनुभूति को जगाना क्रोचे के सिद्धान्त से साम्य रखता है। इस साम्य के बने रहने पर भी नगेन्द्र के सिद्धान्त का वैशिष्ट्य समाप्त नहीं होता। वास्तव में मैथिली-शरण गुप्त और सुमित्रानन्दन पन्त सम्बन्धी समालोचना-ग्रन्थों में इसी सौन्दर्यगत और कलात्मक आधार को स्वीकार कर नगेन्द्र ने कवि को मानसिक स्थिति के उन क्षणों का विश्लेषण किया है, जिन में कृति का निर्माण हुआ। उन्होंने उसी कलाकृति को सफल माना जिसमें कि पाठक कलाकार की अनुभूति का अनुभव करने में समर्थ हो सके। यही कारण है कि पन्त की प्रारम्भिक रचनाओं में जो रचना-कुशलता, शैली, शब्द-विन्यास तथा भावना की तीव्रता नगेन्द्र पा सके, उनका पन्त की बाद की प्रगतिशील कही जाने वाली रचनाओं में अभाव है। इस प्रकार की समीक्षा-पद्धति के अनुसार नगेन्द्र प्रारम्भ में कलाकृति के सौन्दर्य के कारणों पर प्रकाश डालते हैं, उसके बाद कलाकार की अनुभूति के मूल उत्स के अनुसन्धान का प्रयास करते हैं। कवि की अनुभूति का स्वयं अनुभव करने के बाद, उसे अनुभव कराने में कलाकार रचना-शिल्प द्वारा कितनी सफलता प्राप्त कर सका, इसका निर्देश करते हैं। अन्त में कलाकृति की रचना-कुशलता, शैली, शब्द-विन्यास आदि की समीक्षा प्रस्तुत कर कलाकृति के 'रस' का अनुभव करना, रचना-कौशल द्वारा परिपक्वता का मूल्यांकन करना तथा इसके महत्त्व तथा औचित्य का प्रतिपादन करना यही नगेन्द्र-समीक्षा का सार है। जिसमें भारतीय समीक्षा की पराकाष्ठा और पाश्चात्य समीक्षा की अन्तिम परिणति है, वह नगेन्द्र-समीक्षा है। यही 'एस्थैटिक' मानदण्ड आधुनिक समीक्षा के श्रेष्ठतम मानदण्ड हैं। एबरक्राम्बी और आइ० ए० रिचर्ड्स इसी को समीक्षा का श्रेष्ठतम सिद्धान्त मानते हैं।

डा० जयकान्त मिश्र कहते हैं कि पाश्चात्य समीक्षा के अनुसार आलोचक का काम नीर-क्षीर-विवेक मात्र नहीं है।^१ रिचर्ड्स ने समीक्षा का प्रधान उद्देश्य साहित्यिक 'मूल्यांकन' बतलाया। उनका मत है कि मूल्य^२ तथा प्रेषणीयता^३

१. डा० जयकान्त मिश्र : आलोचना ५३, अंक ६

२. Value

३. Communication

की प्रक्रिया—इन्हीं दोनों स्तम्भों पर आलोचना के भवन का निर्माण सम्भव है। मनुष्यों के विचारों और भावनाओं में प्रारम्भ से ही प्रकाशन अथवा प्रेषणीयता की सम्भावना निहित रहती है। युगों से मनुष्य इसलिए ही सोचता है और अनुभव करता है कि वह अपने विचारों और अनुभूतियों को दूसरों के लिए व्यक्त कर सके। कला के निर्माण में यही प्रयोजन छिपा रहता है, अतएव प्रेषणीयता का वास्तविक अर्थ दूसरों के मन में समान अवस्था का उत्पन्न करना है। जब हम विचार अथवा किसी बात का अनुभव करते हैं तब अपने वातावरण से हमारा एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध स्थापित होता है। जब वैसा ही सम्बन्ध वातावरण और किसी अन्य व्यक्ति के बीच स्थापित होता है तब समान मानसिक चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं। किसी सूचना मात्र का वहन अत्यन्त सरल ढंग से हो जाता है, किन्तु सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्तियों का दूसरों तक पहुँचाना दुस्तर कार्य है; इसके लिए असाधारण माध्यम की आवश्यकता होती है। चुने हुए शब्द एक-दूसरे से मिलकर तथा सुचारु रूप से गुम्फित होकर ऐसा विशिष्ट माध्यम निर्मित करते हैं। इसी अर्थ में छन्दों में बँधी हुई काव्य की भाषा भाव-प्रकाशन में साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक समर्थ मानी जाती है। इस प्रक्रिया का नगेन्द्र की समीक्षा-पद्धति पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि छायावाद के, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के विवेचन में, कवियों के व्यक्तित्व-विश्लेषण में सर्वत्र ही इसी प्रणाली की छाप हमें दिखायी देती है। जिस प्रकार रिचर्ड्स, लीविस, इलियट की समीक्षा-पद्धति मनोवैज्ञानिक तथा सिद्धान्त-पक्ष से भी अधिक पुष्ट है, इसी प्रकार नगेन्द्र के समीक्षा-पद्धति में सिद्धान्त-विवेचन, उसके महत्व-प्रतिपादन के साथ-ही-साथ उसका औचित्य तो स्पष्ट कर ही दिया जाता है, समसामयिक कविताओं से उद्धरण लेकर सिद्धान्त को स्पष्ट करना भी नगेन्द्र की समीक्षा की विशेषता है। क्रोचे की मान्यताओं को स्पष्ट करने के उपरान्त नगेन्द्र 'कामायनी' के उद्धरण द्वारा क्रोचे की मान्यताओं को स्पष्ट करते हैं। पन्त के मानसिक विश्लेषण में रिचर्ड्स का प्रभाव स्पष्ट है। इसी प्रकार पश्चिमी समीक्षा का आधार लेकर नगेन्द्र ने तुलनात्मक समीक्षा भी की। सौन्दर्य-उपासना पन्त और कीट्स में समान है, तथा इसी प्रकार आवेश, उन्माद, मानवता-मुक्ति, भ्रातृत्व-प्रेम, आध्यात्मिक उत्कर्ष भी शैली और पन्त में समान रूप से प्राप्त हैं। उन दोनों की तुलना कर नगेन्द्र ने अपनी तुलनात्मक बुद्धि का अच्छा परिचय दिया। अंग्रेजी एवं संस्कृत-साहित्य का अच्छा ज्ञान होने के कारण नगेन्द्र की तुलनात्मक समीक्षा में हमें सजीवता और सहृदयता का अभाव नहीं मिलता। पन्त की बाद की रचनाओं में नगेन्द्र को विक्टोरियन

कवि टेनीसन का प्रभाव दीखा तथा 'युगान्त' में टेनीसन के 'इन मेमोरियम' का प्रभाव ।

इस प्रकार व्यक्तिगत कवियों के विवेचन में और काव्य की प्रवृत्तियों के विवेचन में नगेन्द्र के विचारों की नवीनता, गाम्भीर्य एवं व्यापकता के दर्शन होते हैं । उनके आलोचना-साहित्य में चिन्तन तथा रचनात्मक प्रभाव का वैशिष्ट्य है ।

केशव आनन्द^१ ने कहा है आधुनिक अंग्रेजी-साहित्य में टी० एस० इलियट का व्यक्तित्व जितना गौरवास्पद है, उतना प्रेरक भी । वास्तव में यदि उन्नीसवीं शताब्दी की समीक्षा का अनुशीलन किया जाये तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि उस युग की समीक्षा-प्रणाली रोमांसवादी सौन्दर्य-शास्त्र से प्रेरित थी । धर्म की ओर साहित्यकारों की प्रवृत्ति जगी, परन्तु मूल में वह भावावेशजन्य ही थी । नीति का स्वर मुखर हो चुका था ।^२ पेटर के 'कला, कला के लिए' सिद्धान्त का पुष्टीकरण-अर्थापन फ्लॉबियर ने किया । वैसे तो आर्नल्ड ने काव्य को जीवन की समीक्षा के रूप में परखते हुए उसकी संप्राणता के लिए लोक-जीवन के स्वस्थ तत्त्वों की आवश्यकता प्रकट की । उन्नीसवीं शताब्दी के समीक्षक बुद्धि के महत्त्व की प्रतिष्ठा नहीं कर सके, और यह कार्य इलियट ने किया । 'परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा'^३ में इलियट ने आधुनिक युग की निरन्तर विभ्रंखल होती हुई मनोचेतना को सुदृढ़ रखने के लिए, उसकी परम्पराजन्य रूढ़ि का ही नहीं, प्रत्युत चिरगति-शील सर्जनात्मक सम्भावनाओं की समष्टि का भी उल्लेख किया है । उसके साथ ही उन्होंने उल्लेख किया कि अतीत की महाकृतियों में प्रवाहित संवेदनों द्वारा ही किसी युग में महाकृतियों का प्रणयन तथा उन्नयन सम्भव है । अतीत साहित्य के अध्ययन से जहाँ एक ओर परिष्कृत समीक्षात्मक संवेदन का जन्म होता है, वहीं आगे आनेवाली पीढ़ियों की सर्जनात्मक प्रतिभा के लिए मूल्यवान् प्रेरणाएँ भी मिलती हैं ।^४

मेरे मत से तो इतने सबल व्यक्तित्व से युक्त समीक्षक जिस युग को प्राप्त हो, उसे तो युग का सौभाग्य ही मानना चाहिए । इलियट के द्वारा वर्तमान के अतीत के प्रकाश में मूल्यांकन की पद्धति, कलागत महत्त्व और अर्थ-गौरव का प्रभाव नगेन्द्र के आलोचना-साहित्य में बिखरा पड़ा है । 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' और 'रीति-काव्य की भूमिका' में भाव-विवेक के विवेचन में तथा 'अरस्तू का

१. टी० एस० इलियट के काव्य-सिद्धान्त, आलोचना, ६वां अंक

२. Arnold and Pater : Selected Essays

३. Tradition and the Individual Talent

४. Selected Essays, Page 15

काव्य-शास्त्र' में करुण रस के आस्वाद वाले प्रकरण निश्चित ही रिचर्ड्स और इलियट के विवेचनों से प्रभावित दिखलायी पड़ते हैं।

रिचर्ड्स और इलियट की उद्भावनाओं और निष्पत्तियों में वैषम्य निहित रहने पर भी नगेन्द्र का मस्तिष्क शिव प्रभाव को ही ग्रहण कर उसका सम्बन्ध भारतीय परम्परा से स्थापित करने का प्रयास करता है। इलियट क्लामिस्ट है और उस व्यक्तिवाद का विरोध करता है जो अपने में पूर्ण अपने अन्तःस्वर को ही साहित्य का आदि कारण मानता है। इलियट की निर्वैयक्तिकता का प्रभाव नगेन्द्र पर भी पड़ा—जहाँ वे कवि को समाज के अनुसार बदलने की वृत्ति के प्रभाव को शिव मानकर चलते हैं। परन्तु नगेन्द्र पूर्ण निर्वैयक्तिक नहीं हो सके। यहाँ नगेन्द्र इलियट की निर्वैयक्तिकता के स्थान पर रिचर्ड्स की निर्वैयक्तिकता को ग्रहण करते हैं। इसमें कवि तटस्थ होकर विचारों, अनुभवों, कल्पना-चित्रों तथा रहस्यात्मक भङ्कृतियों को एकान्वित कर कलात्मक सृजन की ओर उन्मुख होता है। समीक्षा के क्षेत्र में नगेन्द्र की अपनी मान्यता है कि कविता जब लोक-जीवन के समानान्तर चलती है, तो उसमें जीवन की वक्र स्थितियों, उलझी विषमताओं तथा अनेक बाह्य मूल्यों का प्रभाव भी एकत्र होता जाता है। इलियट की समीक्षक दृष्टि के समान ही नगेन्द्र की समीक्षक दृष्टि स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष है; सुस्पष्ट और सीधी है। उनकी समीक्षा का मौन्दर्य उनकी संगत, सीधी और सुलभी विश्लेषण-पद्धति में है।

इस प्रकार नगेन्द्र के आलोचना-साहित्य में एक निष्ठावान्, जागरूक, मनन-शील व्यक्तित्व प्रवाहित मिलता है। संस्कृत-साहित्य और समीक्षा का विकास, सहस्र वर्षों का हिन्दी-साहित्य का विकास, सात शतक के अंग्रेजी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के अन्वेषण और अनुसंधान का प्रयास, प्रवृत्तियों का वर्गीकरण, उनके मूल उत्स का अन्वेषण, उनका परवर्ती साहित्य और समीक्षा पर प्रभाव; विभिन्न युगों में आलोचना के मान, उन मानों का आधार, उनका औचित्य; सृजनात्मक साहित्य और उसकी समीक्षा पर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों का प्रभाव, युग की चिन्ताधारा के साथ साहित्य और समीक्षा के साम्य या वैषम्य का विवेचन, पाश्चात्य सिद्धान्तों और काव्य-सम्प्रदायों के विवेचन में अथवा आलोचकविशेष के स्वयं के शब्दों में सिद्धान्त की विवेचना, आलोचक के अन्यान्य व्याख्याकारों के अनुसार उसका विश्लेषण, तथा यथासम्भव उसके अनुरूप अन्य भारतीय मत के साथ उसका साम्य या वैषम्य, उसका आख्यान और परीक्षण; काव्य की मौलिक समस्याओं के विषम समाधान प्रस्तुत करना—इस विस्तार और व्यापकत्व के साथ ही गहन और गम्भीर विवेचन, विश्लेषण, स्थापनाएँ, मान्यताएँ, निष्पत्तियाँ नगेन्द्र के व्यक्तित्व को

ऐसी विशिष्टता प्रदान करती हैं कि जिससे उनका महत्त्व अपेक्षाकृत कही अधिक बढ़ जाता है।

इस विवेचना के उपरान्त अब हम इस स्थिति में आ गए हैं कि हिन्दी-साहित्य में नगेन्द्र के स्थान का निर्धारण कर सकें। हमने पश्चिमी क्रांति का संक्षिप्त ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया, पश्चिमी साहित्य के प्रभाव का, चिन्तन धारा, का साहित्य और समीक्षा के विकास, विकास की पृष्ठभूमि पर प्रेरक-शक्तियों का, और रोमाण्टिक विकास के क्रम का विवेचन कुछ संकेतों में प्रस्तुत किया गया। प्लेटो के 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' से लेकर एफ० आर० लीविस तक के विभिन्न काव्य और साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध में किया जा चुका है। भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा का विकसित स्वरूप भी दिखलाया जा चुका है। भारतीय और पाश्चात्य समीक्षण-पद्धति के साम्य अथवा वैषम्य के आधार, आधार के औचित्य के प्रतिपादन का प्रयास भी किया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में पाश्चात्य आलोचना के विकास पर, लगभग उतना ही ध्यान रखा गया है जितना भारतीय सम्प्रदायों और काव्य-शास्त्रों के विकास पर। हो सकता है कतिपय साहित्यिकों को अंग्रेजी और पाश्चात्य आलोचना को इतना महत्त्व प्रदान करना सहन न हो सके। उनसे मेरा केवल इतना ही निवेदन है कि साहित्य देश विशेष की सम्पत्ति नहीं हुआ करता, वह सर्वदेशीय और सर्वयुगीन चिन्तन का समन्वय अपने में करता चलता है। उसी प्रकार साहित्य को परखने के मान एक देश या देशीय साहित्य के आधार पर निर्मित नहीं किये जा सकते। जब हम पश्चिमी साहित्य के प्रभाव को स्वीकार करने लग गए हैं तब हमारा न केवल यह कर्तव्य हो जाता है, प्रत्युत हमें यह अभीष्ट है कि पश्चिमी काव्य-शास्त्र की परम्परा और समालोचना के विभिन्न आधारों, मान्यताओं और मापदण्डों का व्यवस्थित अनुशीलन करना प्रारम्भ कर दें। संस्कृत में काव्य-शास्त्र की जो परम्परा हमें प्राप्त होती है, उसमें लक्षण-ग्रंथ, मतवाद-स्थापन, अन्य मतवाद-उन्मूलन, रस-स्वरूप-निरूपण के बीच 'साहित्य' शब्द का अर्थ, काव्य, कवि-कर्म, अलंकार, गुण-दोष-विवेचन, औचित्य-प्रतिपादन का क्रम पण्डित जगन्नाथ तक अविच्छिन्न रीति से चलता है रीतिकाल में भी संस्कृत-परम्परा का व्रजभाषा-संस्करण प्रस्तुत होता रहा। प्रारम्भ में यह पद्धति उपयोगी रही होगी, परन्तु बाद में तो वाद-प्रवाद, इतिवृत्तात्मकता तथा वैज्ञानिक शैली के अभाव ने आलोचना-पद्धति और आलोचक के स्वरूप को इस प्रकार आवृत कर दिया कि उसके अनुशीलन से न तो कवि और न काव्य का ही स्वरूप स्पष्ट हो पाता था।

रीतिकाल के ही समान आधुनिक काल में लक्षण-ग्रंथों के प्रणयन का अच्छा

प्रचार हुआ। शास्त्रीय आलोचना के विभिन्न सम्प्रदायों में से आधुनिक युग में भी अलंकार का सार्वभौम शासन रहा। लक्षण-ग्रंथों की परम्परा आगे तक चली आती है। अलंकारों के आचार्यों में मुरारिदान^१, भानुकवि^२, लाला भगवानदीन^३, केडिया^४, पोद्दार^५ तथा रामदहिन मिश्र^६ प्रमुख हैं। उपर्युक्त सभी आलोचक संस्कृत-पद्धति में इतने जकड़ गए कि पुरानी लीक पीटने के सिवाय, अलंकारों के मनोवैज्ञानिक उत्स और औचित्य तथा उनकी अभिनव उपादेयता की ओर किसी का भी ध्यान नहीं गया। उनमें दूसरों के मतवादों का खण्डन कर अपने मत की प्रतिष्ठा का प्रयास मिलता है जिसमें नवीनता का एकान्त अभाव है। रस के आचार्यों में कुछ तो ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने अलंकार-विवेचन भी प्रस्तुत कर दिया। भानुकवि ने 'काव्यप्रभाकर' में रस-विवेचन भी किया। महाराजा प्रतापनारायण सिंह ने 'रसकुसुमाकर', बाबूराम विलथरिया ने 'नवरस' तथा लाला भगवानदीन ने 'व्यंग्यार्थमंजूषा' में रसराजत्व का प्रतिपादन किया। परन्तु फिर भी इनकी परिपाटी लक्षण-ग्रंथों की परिपाटी ही रही। बाबू गुलाबराय, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने इस दिशा में स्तुत्य प्रयास किया। गुलाबरायजी ने रस को जो मनोवैज्ञानिक दीप्ति प्रदान की वह इस दिशा में एक अभिनव प्रयास था। पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'रसमीमांसा' में काव्य, विभाव, भाव, रस तथा शब्द-शक्ति की विवेचना प्रस्तुत की गई है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया कि उनकी विवेचना का, लक्ष्य प्राचीनों या नवीनों के मत को ही सर्वसुलभ बनाना नहीं है। शुक्लजी मम्मट, विश्वनाथ तथा पण्डितराज की कोटि के आचार्य थे, और वही मान उन्हें मिल सका, अधिक नहीं। डा० भगवानदास ने 'दि साइंस आफ़ दि इमोशंस' में रस तथा भाव के 'अध्यात्म' की चर्चा विस्तार से की। लेखक का दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक है और ग्रन्थ की सामग्री का चयन दर्शन-ग्रन्थों और संस्कृत काव्य-शास्त्रों से ही अधिक किया गया है।

रामदहिन मिश्र की रचना 'काव्यालोक' अभिधा, लक्षण, व्यंजना और ध्वनि पर नये ढंग से विचार प्रस्तुत करने वाली पहली पुस्तक है। पं० केशवप्रसाद मिश्र ने अपनी 'मेघदूत' की भूमिका में 'ब्रह्मास्वादसहोदर' रस के लिए अनिवार्य भूमि 'मधुमती भूमिका' पर विचार किया। उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों की विद्वत्तापूर्ण

१. कविराजा मुरारिदान : जसवंतजसोभूषण, संस्करण सं० १९२०

२. जगन्नाथप्रसाद भानु : काव्यप्रभाकरसंस्करण सं० १९६६

३. लाला भगवानदीन : अलंकारमंजूषा, संस्करण सं० १९७३

४. अर्जुनदास केडिया : भारतीभूषण, संस्करण सं० १९८७

५. कन्हैयालाल पोद्दार : अलंकारमंजरी, संस्करण सं० १९८०

६. रामदहिन मिश्र : काव्यदर्पण

एवं अध्ययन-मंवलित व्याख्या प्रस्तुत की। डा० श्यामसुन्दर दास ने अपने 'साहित्यालोचन' में प्राच्य एवं पाश्चात्य साहित्यों के काव्य-शास्त्रों का लाभ उठाया, पुस्तक की पद्धति हेनरी हडसन की पुस्तक 'इण्ट्रोडक्शन टु दी स्टैंडी ऑफ लिट्रेचर' से प्रभावित दिखलायी पड़ती है। उसी पुस्तक के छठवें अध्याय 'रस और शैली' में मनोविज्ञानवेत्ताओं के विचारों के अनुसार भावों का विवेचन कर, साहित्यिकों के अनुसार रस का निरूपण प्रस्तुत किया गया है तथा आगे चलकर केशवप्रसाद मिश्र के विचार ज्यों के त्यों उद्धृत कर दिये गए हैं। गुलाबरायजी ने 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'नवरस' में भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का प्रसादपूर्ण शैली में विवेचन प्रस्तुत किया है।

लक्षण-ग्रंथकारों, अलंकाराचार्यों और रसाचार्यों की वैज्ञानिक-अवैज्ञानिक, सैद्धान्तिक-व्यावहारिक, व्यवस्थित-अव्यवस्थित, विकसित और अर्ध-विकसित परम्परा उत्तराधिकार के रूप में नगेन्द्र को प्राप्त हुई। आचार्य शुक्ल ने भारतीय रस-सिद्धान्तों को पाश्चात्य दृष्टिकोण से स्थापित किया। उन्होंने 'रस और अलंकार-शास्त्र को नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमि पर ला बिठाया।' बाद में तो रस और अलंकार लक्षण-ग्रन्थों में बन्द होकर केवल विद्या-थियों के घोटने की वस्तु न रहे, साहित्य के मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन में उनको विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ। पूर्व और पश्चिम के इस समन्वय का सूत्रपात तो आचार्य शुक्लजी ने कर ही दिया था। इन सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दी-समालोचना में एक नयी प्रयोगात्मक शैली को विकसित तथा परिपुष्ट करने का श्रेय नगेन्द्र को है।

साहित्यिक समीक्षण-पद्धति के अर्वाचीन, प्राचीन, पूर्वी और पश्चिमी अनेक सिद्धान्त हैं; किन्तु इतना सर्वमान्य है कि समीक्षा का आधार केवल बौद्धिक विश्लेषण ही नहीं है, यद्यपि बौद्धिक विश्लेषण का दृढ़ आधार समीक्षा के लिए आवश्यक है। समीक्षक में बौद्धिक छानबीन की शक्ति के साथ-साथ सृजनात्मक एवं संश्लेषणात्मक प्रतिभा की भी आवश्यकता है। यदि हम स्वीकार भी करें कि साहित्यिक समीक्षा एक उच्च कोटि के मस्तिष्क की अद्भुत देन है, तो भी हमें मानना पड़ेगा कि कवि या लेखक के अन्तर्-प्रदेश में यात्रा करने वाला प्राणी विशेष अनुभूति तथा संवेदना से युक्त होना चाहिए। इनके अभाव में साहित्यकार मानसिक एवं भावनात्मक जगत् का रहस्योद्घाटन करने में समर्थ नहीं हो सकता। मूल्यांकन अथवा निर्णय तभी हो सकता है जब समीक्षक के हृदय के तार लेखक की विचारधाराओं एवं भावनाओं से तादात्म्य तथा एकरूपता स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर सकें। नगेन्द्र की समीक्षा में बौद्धिक तथा भावनात्मक दोनों तत्त्वों का अभूतपूर्व संयोग हुआ है।

षष्ठ उन्मेष
हिन्दी-साहित्य में विभिन्न वाद

‘वाद’ की पृष्ठभूमि

‘वाद’ अथवा ‘सम्प्रदाय’ एक परिस्थिति-विशेष के परिचायक होते हैं। वैज्ञानिक युग की प्रगति का संस्पर्श भारतीय मानस में सांस्कृतिक बीज-वपन करने के लिए उत्तरदायी है। समाज, राजनीति, धर्म, कला और साहित्य—परस्पर अभिन्न और अविभाज्य मान लिये गए हैं, और स्थूल प्रक्रियाओं की प्रतिक्रिया सूक्ष्म तत्त्वों में घटित होती है, अतः भौतिक परिस्थितियों का प्रभाव समाज की संस्कृति और सभ्यता पर होता हुआ, धीरे-धीरे साहित्य-कला की सूक्ष्म प्रवृत्तियों तक पहुँचा। यह प्रभाव साहित्य के क्षेत्र में वाद अथवा काव्य-सम्प्रदाय के रूप में प्रस्फुटित होता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में कविता का बदलता स्वर, संस्कृति और समाज के बदलते स्वरूप का आभास देता है। द्विवेदी-कालीन कविता की प्रतिक्रिया-स्वरूप छायावाद का उन्मेष सामाजिक और मानसिक क्रांति की पृष्ठभूमि पर अवस्थित है। छायावाद की इस प्रवृत्ति के विरोध में प्रगति और प्रयोग का प्राधान्य बढ़ता गया। प्राधान्य इतना व्यापक और महत् हो गया कि कविता का कलात्मक मूल्य न्यूनतम होता गया। कहा गया कि छायावादी कविता जन-जीवन से दूर होती जा रही थी, और तभी उसे असुन्दर और कलाविहीन जीवन से सम्बद्ध कर दिया गया। प्रगति और प्रयोग के समय जा चुके हैं तथा नयी कविता के रूप में कवि-प्रतिभा और उसका भावुक चेतन मन अभिव्यक्ति के नये प्रकारों और प्रारूपों के उद्घाटन में अनवरत लगा है। इस विकास-क्रम का यदि विज्ञान-सम्मत विश्लेषण ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाये, तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि सम्प्रदाय, वाद और काव्य-मत साहित्यिक अभिरुचि को प्रकट करते हुए, अपने परवर्ती मतवाद के विरोध में उपस्थित होते हैं।

प्रत्येक काव्य-मत, सम्प्रदाय अथवा वाद का एक दार्शनिक पक्ष होता है, जिसमें उसके मूल सिद्धान्तों का दर्शन-सम्मत प्रतिपादन होता है। प्रत्येक वाद साहित्यिक आवश्यकता की तुष्टि के लिए होता है। ‘वाद’ की अभिव्यक्ति, साहित्य की दिशा की ओर संकेत करती है; और प्रकारान्तर से वह जन-अभिरुचि, सांस्कृतिक प्रगति और सामाजिक वैभव के स्वरूप को भी स्पष्ट करती है। ‘वाद’ को केवल साहित्य के सन्दर्भ में रखकर उसका विश्लेषण और मूल्यांकन, हमारे अध्ययन में भ्रम उत्पन्न कर सकता है। अधिक उचित तो यही है कि

सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि पर ही वाद के परीक्षण का प्रयास किया जाये तभी वह शिव और सुन्दर हो सकता है। 'वाद' के स्वरूप को स्पष्ट करने में इतिहास का अनुशीलन भी अध्ययन के महत्त्व को बढ़ा सकता है। आज का समाज कुंठाओं का एवं अभावों का समाज है। एक ओर वर्ग-समाज का अन्तिम-युग—पूँजीवाद—इतिहास-पट पर अपनी अन्तिम लीला समाप्त करते समय कुछ देर और टिके रहने के लिए यदि अपनी अन्तिम रण-चेष्टाएँ कर रहा है, तो दूसरी ओर समस्त पीड़ा-वेदना, आशा-निराशा और दुःख-दर्द के बीच एक नये मानव-युग (समाजवाद) का उद्भव हो रहा है। मानवता इन्हीं दो बिन्दुओं से बँधी है और प्रत्येक वर्ग अपने अस्तित्व की सुरक्षा और व्यक्तित्व के विकास में प्रयत्नशील है। शिवदानसिंह चौहान ने कहा है कि यह वर्ग-संघर्ष इस युग की केन्द्रीय वास्तविकता है।^१ परन्तु इस वास्तविकता को इतिहास और जीवन की मूर्त भाषा में, उसके समस्त वैविध्य और गम्भीर वेदना के साथ साहित्य और कला में प्रतिबिम्बित करने की समस्या इस युग के साहित्यकार की सबसे महत् समस्या है। आज का वर्ग-युक्त समाज का आधार ही एक वैषम्य है, जिससे जीवन के हर क्षेत्र, हर स्तर और हर व्यापार में वैषम्य का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। जिन तरह प्रत्येक समाज के व्यापक ढाँचे में दो विरोधी संस्कृतियों, दो विरोधी दर्शनों, दो विरोधी साहित्य और कला की परम्पराओं और दो विरोधी नैतिक धाराओं में परस्पर द्वन्द्वात्मक संघर्ष चलता आया है, उसी तरह समाज के वर्ग-वैषम्य ने साहित्य और कला के प्रति भी दो विरोधी दृष्टिकोण पैदा किये हैं।

बीसवीं शताब्दी में जितने भी प्राच्य अथवा नवीन काव्य-मतों या वादों का प्रादुर्भाव हुआ, उसकी मूल प्रेरणा चाहे जो रही हो, परन्तु उनका विकास क्रान्ति की लीक पर था और उनका स्पष्टीकरण विरोध का स्पष्टीकरण था। शताब्दी के प्रारम्भ में तो काफ़ी अधिक समय तक रहस्यवाद और छायावाद के स्वरूप के स्पष्टीकरण का प्रयास ही होता रहा। डा० देवराज का कथन है कि छायावादी युग में समाजशास्त्रीय एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण लुप्तप्राय दीख पड़ता है।^२

छायावाद के प्रशंसकों ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विरुद्ध गीति-काव्य को महत्त्व दिया। वास्तव में जिन दिनों शुक्लजी छायावाद का अध्ययन कर अपने दृष्टिकोण को पुष्ट बना रहे थे, उनके जॉनसन जैसे व्यक्तित्व के कारण तथा-

१. शिवदानसिंह का सम्पादकाय : आलोचना ५२, अंक ३

२. डा० देवराज : हिन्दी समीक्षा : एक दृष्टि, आलोचना ५२, अंक ३

कथित छायावादी कवि अपनी अभिनव रचनाएँ उनके पास नहीं भेज सके। यही कारण है कि शुक्लजी उच्च कोटि की रचनाओं को अपने अध्ययन का आधार न बना सके और सन् १९४० के आसपास तक उन्होंने अपने छायावाद-सम्बन्धी मत का विकास और परिवर्द्धन नहीं किया। युग की पृष्ठभूमि पर आधृत कर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र जैसे समीक्षकों ने छायावादी काव्य की विदलेपणात्मक आलोचना प्रस्तुत की; अर्थात् वह आलोचना, जो मुख्यतः कलात्मक सौष्ठव और शक्ति को आँकती है। नगेन्द्र के आलोचना-क्षेत्र में आने के पूर्व छायावाद-सम्बन्धी भ्रान्तियों का शमन न हो सका था, उस समय तो छायावाद की अभिव्यक्तिगत अशक्तियों की, उसके धुन्ध और कुहासे की, उसकी दुरूह कल्पनाओं तथा हल्केपन की रहस्यवाद के नाम पर प्रशस्ति और दार्शनिक व्याख्याएँ की गई। डा० देवराज कहते हैं कि छायावादियों के पास कोई स्पष्ट सामाजिक दर्शन, सामाजिक आदर्श या सन्देश न था, फलतः वे रहस्यवाद के नाम पर शिक्षित समाज को और स्वयं अपने को भुलावा देने लगे। रवीन्द्र के मानववाद तथा जनतांत्रिक समाजवाद का आदर्श उनके उपचेतन में सजग था, पर शायद आस्तिक भारतीय जनता के लिए उस समय वह पर्याप्त नहीं समझा गया। बात ऐसी है कि किसी भी वाद या काव्य-मत को समझने के लिए आवश्यकता है दार्शनिक पृष्ठभूमि की, सामाजिक विकास के क्रम के अध्ययन की, और युग की मान्यताओं को, गहरे जाकर सहृदयता से उन्हें हृदयस्थ कर स्पष्ट करने की। वस्तुतः डा० देवराज की आलोचना करना न तो मेरा प्रतिपाद्य है और न मुझे अभीष्ट ही।

अभिव्यंजनावाद (Expressionism)

‘वाद’ की एक दार्शनिक पृष्ठभूमि हुआ करती है, और इस पृष्ठभूमि पर अवस्थित ‘वाद’ सौन्दर्यानुभूति के एक पक्ष के कलात्मक मूल्य का उद्घाटन करता है। दर्शन और कला के उभय कूलों से सम्बन्धित रहने के कारण ‘वाद’ अपने आयाम में सब का समंजन कर लेता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ‘वाद’ के इसी औचित्य की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया जायेगा। अभिव्यंजनावाद पर आचार्य शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, भुवनेश्वर मिश्र और विनयमोहन शर्मा प्रभृति विद्वानों ने अपने विचार स्पष्ट किये हैं। इसके पहले कि हम अभिव्यंजना के विभिन्न पक्षों पर विचार करें, अधिक उचित होगा कि स्वतन्त्र रूप से क्रोचे और उसके ‘वाद’ को समझ लिया जावे।

कहते हैं, इटली सदा से ‘सुन्दर’ का उपासक रहा है और वस्तुतः सौन्दर्य-

प्रेम ही वहाँ के जीवन का केन्द्र-बिन्दु रहा है। कल्पना अपनी सौन्दर्यानुभूति की तीव्रता के कारण, प्रायः हमेशा प्रेषणीय मानस को आकृष्ट करती रही है। कल्पना और बुद्धि दोनों का कलात्मक सृजन में समान सहयोग रहता है, इस विषय पर तो मैं अपने विचार इस ग्रंथ में अन्यत्र प्रस्तुत कर चुका हूँ। माइकेल एंजेलो ने कहा है : One points not with the hands but with the brain. कहते हैं कि लियोनार्डो विन्सी जब ईसा के 'लास्ट सपर' का चित्र ब्रश और रंग के सहारे कैनवस पर उतारने बैठा तो कई दिनों तक चुपचाप आँखें मूँदे बैठा रहा; अपने ध्यान की आँखों में उस मनोमयी मूर्ति का साक्षात्कार करने। क्रोचे कैथोलिक था, पर चर्च, बाइबिल और क्राइस्ट पर उसकी आस्था न थी। क्रोचे को दर्शन और समाजशास्त्र का अच्छा ज्ञान था। उसे मार्क्स की 'कैपिटल' ने बहुत अधिक प्रभावित किया। गम्भीर अध्यवसाय से उसने १९०२ में अपनी 'Aesthetics' प्रकाशित की, जो अभिव्यञ्जनावाद की बाइबिल बन गई।

क्रोचे ने कल्पना, सौन्दर्य और अनुभूति के नवीन सम्बन्धों और नवीन मूल्यों का उद्घाटन कर कला-समीक्षा के क्षेत्र में क्रान्ति का वातावरण उपस्थित कर दिया। उसने सौन्दर्य की अनुभूति और मनोमयी सौन्दर्यपूर्ण मूर्ति का मन-ही-मन आकलन ही कलाकार का प्रधान धर्म प्रतिपादित किया। क्रोचे ने उपयोगिता की अपेक्षा, सौन्दर्य को अधिक आवश्यक, और दर्शन और विज्ञान की अपेक्षा कला को अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिपादित कर अपने निरपेक्ष और स्वतन्त्र अभिमत की प्रतिष्ठा की। कला में प्रतिभा या सहजानुभूति को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया गया और कला का आधार कल्पना स्वीकार कर लिया गया। कल्पना की मनोमय मूर्ति को ही क्रोचे कला का प्राण मानता है :—

“The origin of Art lies in the power of forming images. Art is ruled uniquely by the imagination. Images are its only wealth. It does not pronounce them real or imaginary, does not qualify them, does not define them; it feels and presents them—nothing more.”^१

कला का जन्म कल्पना से होता है; वह कल्पना, जो मनोमयी मूर्ति का आधार है। स्पष्ट है कि मनोमयी मूर्ति ही कला के द्वारा व्यक्त होती है।^१

क्रोचे ने मानस-दर्शन^१ में कला का विवेचन करते हुए मन के दो व्यापार स्वीकार किये हैं :—

१—ज्ञान व प्रज्ञा, जो सिद्धान्त है,

२—क्रिया व संकल्प, जो व्यवहार है।

उसने ज्ञान के भी दो और उपभेद किये—

१—प्रातिभ ज्ञान, सहजानुभूति (Intuition), जिसका सम्बन्ध कला से रहता है ;

२—प्रमेय-ज्ञान (Logic), जिसका सम्बन्ध तर्कशास्त्र से रहता है।^२

बाह्य दृश्य के भावन से कवि के मन में प्रतिमाओं (images) का अंकित हो जाना, मन का प्रातिभ ज्ञान कहलाता है, और यह प्रातिभ ज्ञान कल्पना द्वारा ही सम्भव है, कल्पना ही मूर्ति-विधान करती है। क्रोचे ने कल्पना को विचार से पृथक् माना। कल्पना को वे बुद्धि-प्रसूत भी नहीं मानते। उसे मन की एक स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। सौन्दर्य का बोध कराने वाली भी कल्पना है, वस्तु के सौन्दर्य का उद्घाटन करनेवाली भी कल्पना ही है। क्रोचे की मान्यता के अनुसार सौन्दर्य वस्तुगत नहीं, उसकी सत्ता तो मनुष्य के मन में है। इसी वस्तु को परिवर्तन-शील, पर आकृति^३ को आत्मा की कृति मानता है। इसी प्रकार क्रोचे अभिव्यजना को भी बाहरी वस्तु या भौतिक न मान कर मानसिक क्रिया मानता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अभिव्यजना के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया। आचार्य शुक्ल के विवेचन में व्यंग्य का स्वर अधिक तीव्र रहा है। क्रोचे की निष्पत्तियों को उदार दृष्टि से देखने के बदले, उन्हें हेय दृष्टि से परखा गया है। वे कहते हैं कि इटली में अन्य कलाओं की भाँति ही काव्य-कला भी समझी गई, जिसके परिणामस्वरूप काव्य में नक्काशी और बेलबूटे देखे जाने लगे; और जैसे इन बेलबूटों का जीवन की वास्तविक स्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार काव्य भी गम्भीर उद्देश्य से दूर चला गया।^४ शुक्लजी के मत से क्रोचे ने अभिव्यजना को ही सब कुछ समझा, उससे पृथक् काव्य में कोई भाव नहीं होता, और उन्होंने काव्य में वाक्यार्थ का कोई व्यंग्यार्थ स्वीकार न कर, 'सहजानुभूति ही काव्य है' (Intuition is expression) के महत्त्व को अधिक

1. Philosophy of mind or Spirit : B. Croce

२. अभिव्यजनावाद : दिनयमोहन शर्मा, 'वीणा' पृष्ठ ५६७

3. Matter

4. Form

५. शुक्लजी का शब्दों वाला भाषण

स्वीकार न कर अभिव्यंजनवाद को आचार्य कुन्तक के वक्रोक्ति का विलायती उत्थान प्रतिपादित किया।^१

क्रोचे ने कला की अभिव्यंजना को विशेष रूप में ग्रहण किया, सुन्दर-असुन्दर का प्रयोग अभिव्यंजना के लिए ही ग्रहण किया, तथा काव्य में कल्पना की क्रिया को ही सब कुछ माना, ऐसा आचार्य शुक्ल का मत है। शुक्लजी ने अपने मत को पुष्ट करने के लिए अंग्रेजी समीक्षकों के मतों को एकत्र किया। वह कहते हैं कि 'कला कला के लिए'^२ विचारधारा प्राचीन हो चुकी है और क्रोचे उसे नवजीवन प्रदान करने में असमर्थ रहा। अन्त में शुक्लजी कहते हैं कि क्रोचे ने अपने अभिव्यंजनावाद में अभिव्यक्ति को ही कला कहा है। परन्तु यह सर्वमान्य बात है कि साहित्य के दो पक्ष होते हैं : कला-पक्ष और भाव-पक्ष। समस्या है कि यदि अनुभूति नहीं होगी तो अभिव्यक्ति किस की होगी ?

क्रोचे की मूल धारणाएँ :—

चूँकि क्रोचे आत्मवादी दार्शनिक हैं, उन्होंने आत्मा की ही सत्ता अन्ततः प्रतिष्ठित की। उन्होंने आत्मा की दो क्रियाएँ स्वीकार कीं :—

(१) विचारात्मक^३, और

(२) व्यवहारात्मक^४।

व्यवहारात्मक क्रिया का आधार है संकल्प, जिसका फल ज्ञान में नहीं प्रत्युत कर्म में प्रकट होता है। जिस प्रकार क्रोचे ने विचारात्मक क्रिया के दो भेद स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान (प्रमेय) और कल्पना द्वारा प्राप्त ज्ञान किया, उसी प्रकार उन्होंने व्यवहारात्मक क्रिया के भी दो भेद किये :—

(१) आर्थिक—सांसारिक योग-क्षेत्र से सम्बद्ध; और

(२) नैतिक—सत्-असत् से सम्बद्ध।

कला का सम्बन्ध स्वयंप्रकाश्य ज्ञान से रहता है। नगेन्द्र की निष्पत्ति है कि क्रोचे के मत से सहजानुभूतिमय ज्ञान अभिव्यंजनात्मक होता है—बौद्धिक क्रिया से स्वतन्त्र वास्तव-अवास्तव, देश-काल के बोध से निरपेक्ष।^५ अर्थात् सहजानुभूति का अर्थ है अभिव्यक्ति : केवल अभिव्यक्ति, न कम न अधिक।^६ और यही कला है।

१. शुक्ल जी का इन्दौर वाला भाषण

२. Art for Arts' Sake

३. 'ल आर्त पोरल आर्थ'

४. Practical Activity : Aesthetic, Page 14

५. भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका : नगेन्द्र, पृष्ठ ४२२

६. Aesthetic : Page 11

नगेन्द्र कहते हैं कि इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः कलाकार है; क्योंकि प्रायः सभी में सहजानुभूति की क्षमता रहती है। जो प्रातिभ ज्ञान प्राप्त कर सकता है, वह अभिव्यंजना में भी समर्थ है और इसीलिए वह कलाकार भी है। कवि में और सामान्य व्यक्ति में भेद सहजानुभूति की तीव्रता का होता है।

वस्तु और अभिव्यंजना के विषय में क्रोचे के मत को स्पष्ट करते हुए नगेन्द्र कहते हैं कि सौन्दर्य वस्तु में निहित है या अभिव्यंजना में, या दोनों में? इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है कि सौन्दर्य के सृजन में अभिव्यक्ति का भाव-तत्त्व में योग नहीं किया जाता, वरन् भाव-तत्त्व ही अभिव्यक्ति के द्वारा मूर्त रूप धारण करता है; अर्थात् यह भाव-तत्त्व ही मानो अभिव्यंजना के रूप में फिर प्रकट हो जाता है जो अभिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत होता है। अतएव सौन्दर्य अभिव्यंजना का नाम है—इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

क्रोचे का अभिमत यह भी था कि कला मूलतः एक आध्यात्मिक क्रिया है, और कलाकृति उसका मूर्त भौतिक रूप है जो सदैव अनिवार्य नहीं होता। कला-निर्माण (सृजन) को पाँच विभागों में विभक्त किया गया :—

(१) अरूप संवेदन,

(२) अभिव्यंजना : अरूप संवेदनों की आन्तरिक समन्विति—सहजानुभूति : प्रातिभ ज्ञान (Intuitive vision),

(३) आनन्दानुभूति,

(४) आन्तरिक अभिव्यंजना अथवा सहजानुभूति का शब्द, ध्वनि, रंग, रेखा आदि भौतिक उपादानों के माध्यम से मूर्तीकरण।

(५) काव्य, चित्र में कला-कृति का भौतिक मूर्त रूप, और

इन पाँच प्रक्रियाओं में क्रोचे ने द्वितीय को ही प्रमुख माना।

आगे क्रोचे अपने मत को स्पष्ट करते हुए कहता है कि सहजानुभूति—आन्तरिक सौन्दर्यानुभूति—ऐच्छिक नहीं; अपितु यह हमारी इच्छा पर ही निर्भर है कि हम उसे बाह्य स्वरूप प्रदान करें अथवा नहीं। अभिव्यंजना मूलतः एक आन्तरिक क्रिया है जो व्यवहार तथा उसका निर्देशन करनेवाले बौद्धिक ज्ञान से पहले होती है, और जो इन दोनों से स्वतन्त्र है। ध्यान में रखना आवश्यक है कि जहाँ कहीं भी अभिव्यंजना के अतिरिक्त रूप के शिल्प-विधान की चर्चा की जाती है, वहाँ उसे अभिव्यंजना से अभिन्न ही मानना चाहिए।

क्रोचे कला को भी भाव-रूप न मानकर ज्ञान-रूप मानते हैं, क्योंकि सहजानुभूति ज्ञान का ही एक प्रारूप है। सहजानुभूति को एक विशिष्ट अनुभूति—सौन्द-

यानुभूति मानना भी व्यर्थ है क्योंकि उसमें कोई वैशिष्ट्य या वैचित्र्य नहीं होता।^१

प्रत्येक अभिव्यंजना का रूप एक ही होता है, क्योंकि संवेदनों को एकान्वित करने की प्रक्रिया का नाम ही तो अभिव्यंजना है ! इसी पर से क्रोचे ने माना कि कला अथवा अभिव्यंजना अखण्ड होती है। और शायद यही कारण है कि क्रोचे को कला के भेदोपभेद मान्य नहीं थे। इसी प्रकार कला अथवा सौन्दर्य की श्रेणियाँ नहीं होतीं, सुन्दर से सुन्दरतर की कल्पना भी असम्भव है। सफल अभिव्यंजना ही अभिव्यंजना है। अभिव्यंजना अपना उद्देश्य आप ही है—अभिव्यक्ति करने के अतिरिक्त उसका कोई इतर उद्देश्य मान्य नहीं। कला का तो एक ही उद्देश्य है—आत्मा का विशदीकरण। संकुल भावनाओं को अभिव्यक्त कर देने से आत्मा मुक्त हो जाती है और कला की यही चरम सिद्धि है। नगेन्द्र कहते हैं—‘इसीलिए क्रोचे की कला मूल रूप में नैतिकता, उपयोगिता आदि के अनुबन्धों से भी मुक्त है।’

क्रोचे के अभिव्यंजना-सम्बन्धी सिद्धान्त यही हैं। इन्हीं में आचार्य शुक्ल को साम्य दिखलायी दिया और इन्दौरवाले भाषण के उपरान्त उन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान बतलाया। नगेन्द्र ने ठीक कहा कि ‘शुक्लजी का यह निर्णय अधिक सुविचारित नहीं है; क्रोचे की इस धारणा से, कि ‘कला में विषय-वस्तु की कोई सत्ता नहीं है—अभिव्यंजना ही कला है’ चिढ़कर शुक्लजी ने आवेश में आकर अभिव्यंजनावाद का द्विगुण तिरस्कार करने के लिए ही कदाचित् ऐसा कह दिया है।’^२ मेरा तो अपना मत है कि यदि शुक्लजी तनिक-सी भी अन्तर्दृष्टि या सहृदयता से क्रोचे के सिद्धान्तों को समझते, तो ऐसी असंगत धारणा कभी व्यक्त न करते।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी^३ ने अभिव्यंजनावाद के स्वरूप को अंग्रेजी की पुस्तकों के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास किया। निबन्ध में विषय-प्रतिपादन की शैली अपने-आप में पूर्ण और उत्कृष्ट है। क्रोचे-पूर्व समीक्षा-क्षेत्र की स्थिति का उद्घाटन करने के उपरान्त क्रोचे के सिद्धान्तों को क्रम से प्रस्तुत किया गया है। सिद्धान्तों को सुस्पष्ट करने में वाजपेयीजी ने वास्तव में अपनी बौद्धिक कुशलता और आलोचना-शक्ति का परिचय दिया है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद पर तथा-कथित आक्षेपों का क्रोचे की ही दृष्टि से समाधान प्रस्तुत करना—वाजपेयीजी के निबन्ध की सबसे बड़ी विशेषता है। पर यदि आप मुझे कहने दें तो मैं कहूँगा

1. Aesthetics : B. Croce, Page 17-19

२. भारतीय कव्य-शास्त्र की भूमिका, पृष्ठ ४२५

३. भारतीय कव्यशास्त्र की भूमिका : नगेन्द्र, पृ० ४२१

४. आधुनिक साहित्य : नन्ददुलारे वाजपेयी

कि निबन्ध अपने-आप में अपूर्ण है। क्रोचे के सिद्धान्त में जो कलात्मक त्रुटि है, उसकी ओर वाजपेयीजी की आलोचक दृष्टि न जा सकी। वैसे वाजपेयीजी का प्रयास स्तुत्य कहा जा सकता है कि उन्होंने अभिव्यंजनावाद को आचार्य शुक्ल की भ्रान्त निष्पत्तियों से निकालकर, एक निरपेक्ष आधार-भूमि पर व्यवस्थित किया।

आचार्य शुक्ल के बाद क्रोचे और कुन्तक के विचारों में साम्य और वैषम्य दिखलाने की एक परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें नगेन्द्र का विवेचन सबसे अधिक संयत है। क्रोचे और कुन्तक के सिद्धान्तों में साम्य की चर्चा करते हुए नगेन्द्र की निष्पत्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

साम्य :

- (१) क्रोचे और कुन्तक के सिद्धान्तों में एक साम्य तो यही है कि दोनों ने अभिव्यंजना को ही काव्य का प्राणतत्त्व स्वीकार किया। दोनों कलावादी आचार्य हैं। राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी के वाक्य 'वैदग्ध्य-भंगी भणिति' पर कुन्तक ने वक्रोक्ति की आधारशिला रखी।
- (२) दोनों ने काव्य में कल्पना-तत्त्व को प्रमुखता दी है। कुन्तक की 'वक्रता', 'कविव्यापार', 'वैदग्ध्य', 'उत्पाद्य-लावण्य', डा० दे के अनुसार कल्पना पर ही आधारित हैं, जिन्हें क्रोचे की सहजानुभूति में कल्पनात्मक माना गया है।
- (३) दोनों अभिव्यंजन-उक्ति को मूलतः अखण्ड, अविभाज्य और अद्वितीय मानते हैं।
- (४) दोनों सफल अभिव्यंजना अथवा सौन्दर्याभिव्यंजना की श्रेणियों और विभागों को स्वीकार नहीं करते।

साम्य-विवेचन के अनन्तर नगेन्द्र वैषम्य को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :—

(१) क्रोचे मूलतः दार्शनिक थे जिन्होंने सम्पूर्ण अलंकार-शास्त्र का निषेध किया। इसके बिल्कुल विपरीत कुन्तक मूलतः आलंकारिक थे जिन्होंने लोकोत्तर-चमत्कारक वैचित्र्य की सिद्धि और उसके द्वारा काव्य की सम्यक् व्युत्पत्ति के लिए कृत-संकल्प होकर अलंकार-शास्त्र की रचना की।

लोकोत्तरचमत्कारकारि-वैचित्र्य-सिद्धये ।

काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥'

(२) क्रोचे के प्रतिपाद्य का मूल आधार है उक्ति : जिसमें वक्र और ऋजु — वक्रता और वार्ता का भेद नहीं है। क्रोचे के अनुसार वक्रोक्ति भी सहजोक्ति

ही है। कुन्तक ने वक्रता और वार्ता—चमत्कारपूर्ण और चमत्कारहीन उक्ति में भेद किया है।

(३) क्रोचे के अनुसार काव्य की आत्मा सहजानुभूति है और कुन्तक के अनुसार कवि-व्यापार। कुन्तक ने वक्रता (सौन्दर्य) को मूलतः तो प्रतिभा द्वारा अन्तःस्फुरित ही माना :—

प्रतिभा प्रथमोद्भेद - समये यत्र वक्रता।

शब्दाभिधेययोरन्तः - स्फुरन्तीव विभाव्यते ॥^१

इस विवेचन के उपरान्त नगेन्द्र कहते हैं कि क्रोचे ने जहाँ केवल आन्तरिक क्रिया—आध्यात्मिक सृजन, सहजानुभूति—को ही काव्य का सर्वस्व माना, वहाँ कुन्तक ने इस आध्यात्मिक क्रिया अथवा प्रतिभा—अन्तःस्फुरण को काव्य का मूल उत्स मानते हुए रचना-कौशल को भी अपने कवि-व्यापार का अनिवार्य अंग माना है।

(४) क्रोचे ने सौन्दर्य और उसकी प्रतिरूप अभिव्यंजना को अपना उद्देश्य आप ही माना है। आनन्द सहचारी भाव तो है, परन्तु अपना उद्देश्य आप नहीं है। कुन्तक आनन्द को सौन्दर्य की सिद्धि ही नहीं वरन् कारण भी मानते हैं। क्रोचे के अनुसार काव्य का उद्देश्य है आत्मा का विशदीकरण, कुन्तक परम आनन्दवादी हैं। वह आनन्द को चतुर्वर्गफलास्वाद से भी बढ़कर मानते हैं।

(५) क्रोचे के सिद्धान्त की अपेक्षा कुन्तक के सिद्धान्त में वस्तु-तत्त्व की अधिक स्वीकृति है। क्रोचे तो उसे अरूप-संवेदन-जाल या प्रकृत सामग्री-मात्र मानते हैं, जिसका अभिव्यंजना के बिना काव्य में कोई अस्तित्व नहीं। कुन्तक विषय की अपेक्षा उसके नियोजन को अधिक महत्त्व देते हैं, पर वे विषय के महत्त्व को अस्वीकार नहीं करते।

नगेन्द्र का अपना मत है कि अभिव्यंजना-सिद्धान्त अभिव्यंजना का दर्शन है, काव्य-शास्त्र नहीं। यूरोप में अभिव्यंजनावाद के नाम से एक कलावाद उठ खड़ा हो गया परन्तु मजे की बात यह है कि क्रोचे ने कला की अखण्डता अक्षुण्ण रखने के लिए जिस सिद्धान्त को उद्भूत किया, उसे आनेवाले अनुयायियों ने खण्ड-रूप में ही स्वीकार किया। क्रोचे का सिद्धान्त तो एक सार्वभौम मौलिक सिद्धान्त था जो काव्य और कला के सभी रूपों पर समान रूप से घटित होता था; परन्तु उसके अनुयायी^२ अभिव्यंजनावादी नाटक, कविता, चित्र आदि की रचना करने लगे। नगेन्द्र कहते हैं कि क्रोचे की एक-एक निष्पत्ति को लेकर एक-एक वाद बीसवीं शती में उत्पन्न हो गया।

१. वक्रोक्तिजीवितम् : कुन्तक १।२४

२. पिरॉडे लो

क्रोचे ने कहा कि प्रत्येक उक्ति अपने-आप में स्वतन्त्र, अन्य से भिन्न तथा अद्वितीय होती है, सहजानुभूति अनिवार्यतः बिम्ब-रूप में ही अभिव्यक्त होती है। कला अपना उद्देश्य आप है। इन पर निम्न वादों का प्रादुर्भाव हुआ :—

- १ प्रभाववाद (Impressionism)
- २ बिम्बवाद (Imagism)
- ३ घनवाद (Cubism)
- ४ वक्रतावाद (Principle of oblique Art)
- ५ अतिवस्तुवाद (Sur-Realism)

एक बात और शेष रह जाती है, जिस ओर न तो आचार्य वाजपेयी ने संकेत किया, और न नगेन्द्र ने ही। क्रोचे की मूलभूत धारणाओं में त्रुटि थी जिसे वह स्वतः भावावेश के कारण देख नहीं सका। स्कॉट जेम्स ने मिस पावेल की आलोचना के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा कि शायद क्रोचे ने 'जीवन' को विस्मृत कर दिया। एक फोटोग्राफ और पोरट्रेट में क्या भेद है? इसका उत्तर दिया जा सकता है कि "the photograph arrests that fragment in the life of a face which is conveyed at one and only one instant of time; the successful portrait conveys the character of the face which we discuss by matching it through a succession of instant, the one gives the face between the monuments of life that is not alive; the other gives us the living face."

छायावाद

द्विवेदी-युगीन काव्यधारा, हमारे साहित्य में एक नवीन उद्बोध और चेतना का नवीन स्फुरण था। साहित्य के इतिहास में यह एक अभिनव प्रवृत्ति का विकास था। भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में जिन नवीन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ, उनका जीवन अल्पकालीन रहा। स्थिति-विशेष के कारणों का अभी तक अनुसंधान तो नहीं किया गया, परन्तु इतना निश्चित है कि बीसवीं शताब्दी के इन साठ वर्षों में लगभग आधा दर्जन प्रवृत्तियाँ हमारे साहित्याकाश में आलोकित होकर विलीन हो गईं। कहते हैं यूरोप में एक नवीन 'आधुनिक चेतना' का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में हो गया था, और उसके फलस्वरूप यूरोप के देशों ने कला, साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में असीम उन्नति कर ली। परन्तु इस 'आधुनिक

चेतना' का भारत में आगमन कुछ विलम्ब से हुआ। जिस प्रकार 'नव जागरण' (Renaissance) इंग्लैंड में लगभग एक शताब्दी विलम्ब से हुआ,^१ उसी प्रकार भारत में आधुनिक चेतना के विकास में भी १०० वर्षों का विलम्ब हुआ। पश्चिमी देशों से हमारा सम्पर्क कई बातों में उपयोगी सिद्ध हुआ और उस सम्पर्क को भारत द्वारा अपनी एवं विश्व की खोज (discovery by India of herself and the World) कहें तो हमारा मंतव्य अधिक स्पष्ट हो सकता है। हमें पश्चिमी देशों के अनुग्रह का भार-संवहन करना ही पड़ता है। डा० सुधीन्द्र ने भी कहा है—“भारतवर्ष की शासक अंग्रेज जाति के ही शिक्षा-शास्त्री, प्राच्य विद्या-विशारद, साहित्य-स्रष्टा, पत्रकार और मिशनरी तथा राजनेता महानुभावों ने नवीन सम्यता और संस्कृति को भारत में लाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया।”^२ बड़े भोले हैं वे लोग जो अंग्रेजों को लांछित करते हैं। इसी नव-जागरण के काल में महावीरप्रसाद द्विवेदी एक ओर तो 'कवियों की उर्मिलाविषयक उदासीनता' पर क्षोभ प्रकट किया करते थे, और दूसरी ओर रीतिकालीन काव्य-परम्परा की वस्तु, भाव और शिल्प में क्रांतिकारी परिवर्तन के आकांक्षी थे। पता नहीं, इन परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों को वे कैसे एकान्वित कर पाते थे; पर जहाँ तक दूसरी बात का प्रश्न है, द्विवेदीजी की आस्था थी कि उसमें वह सब था जो रीतिकालीन काव्य में न रह सकता था—स्थूलता, इतिवृत्तात्मकता, देग-प्रेम, राष्ट्र-सेवा, स्वातन्त्र्य-आकांक्षा आदि। द्विवेदी-काल की कविता का जनता ने हृदय से स्वागत किया या नहीं, इस पर कुछ कहना मुझे अभीष्ट नहीं; पर इतना अवश्य है कि जन-साधारण की रुचि-परिवर्तन में उनका योग स्तुत्य रहा। कहते हैं कि द्विवेदी-काल की कविता में रीति-विरोधी प्रवृत्ति का इतना बाहुल्य हो गया कि कविता काव्य-परिधि के बाहर जा पड़ी और काव्याभास में परिणत हो गई। यह भी निश्चित है कि 'वाद' बदलती साहित्यिक अभिरुचि के द्योतक हैं और एक वाद की अवनति के पश्चात् दूसरे का प्रादुर्भाव होता है। जिस प्रकार द्विवेदीकालीन काव्य-धारा का निर्माण रीति-विरोधी तत्त्वों से हुआ, ठीक इसी प्रकार द्विवेदी कालीन काव्य की स्थूलता और इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दी साहित्य में चिन्तन और सौन्दर्य-भावना की नवीनतम अभिव्यक्ति छायावाद है। इतनी प्रशस्त भावभूमि पर, और इतनी सम्बृद्धि लिये कोई भी 'वाद' हिन्दी-साहित्य में अवतरित नहीं हुआ। एक बात और; पं० रामचन्द्र शुक्ल से लेकर विश्वम्भर मानव तक ने छायावाद की यथोचित परिभाषा उदाहृत कर उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों

1. Modern English Literature : G. H. Mair, A. C. Ward

२. हिन्दी-कविता में युगान्तर : डा० सुधीन्द्र, पृष्ठ १

को स्पष्ट करने का प्रयास किया है परन्तु समझ में नहीं आता कि क्यों एक ही बात पर दो आलोचकों में मत-साम्य नहीं होता। प्रारम्भ से ही, जैसा कि नगेन्द्र ने कहा है, छायावाद का दुर्भाग्य ही था कि उसे ठीक-ठीक सहृदयता से समझने का प्रयास नहीं किया गया। छायावाद मूलतः स्वानुभूति की कविता है। स्वानुभूति ही उसका उद्गम-क्षेत्र है। फूलचन्द्र पाँडे ने छायावाद का विवेचन प्रस्तुत करते समय उसे एक दार्शनिक चेतना, सौन्दर्य-भावना और मानव-जगत् की आधार-भूमि पर आधृत कर उसके स्वरूप को स्पष्ट करने का जो प्रयास किया, वह वास्तव में स्तुत्य है। छायावादी कवि विशेष मानव की उद्भावना कर मनुष्य की एक विशेष संयोजना और दार्शनिक पृष्ठभूमि लेकर आते हैं। एक बात निश्चित है कि मानव-सम्बन्धी इस दृष्टिकोण का द्विवेदीकालीन काव्य में अभाव ही रहा। व्यक्तिवाद का जो प्राधान्य अंग्रेजी रोमाण्टिक कविता में रहा, उसकी अवतारणा छायावादी काव्य में हुई। छायावादी काव्य का मानव अपनी हीनता में भक्त कवि के समकक्ष नहीं रखा जा सकता, और न रीति-काव्य के कवि के समान ही शृंगार की अति से पंकिल व्यक्तित्व से युक्त है। उसका मानव न तो आदर्श है और न यथार्थ। वह आज के युग में समता के धरातल पर अवस्थित एक सामान्य व्यक्ति है, जो दुःख और सुख की सामान्य अपेक्षा करता है।

आलोचक रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार छायावाद की प्रेरणा अंग्रेजी और बंगला कविताओं से आयी। उन्होंने निज मत इस प्रकार व्यक्त किया है : “रहस्यवाद के अन्तर्गत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने सन्तों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि-दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थीं। इस रूपात्मक आभास को यूरोप में ‘छाया’ कहते थे। इसी से बंगाल में ब्रह्मसमाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे, वे ‘छायावाद’ कहलाने लगे। धीरे-धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य-क्षेत्र में आया और फिर रवीन्द्रबाबू की धूम मचने पर हिन्दी के क्षेत्र में प्रकट हुआ।” १९२६ तक तो छायावाद पर्याप्त सम्बृद्धि प्राप्त कर चुका था, उसकी प्रेरक शक्तियाँ और मान्यताएँ काफ़ी स्पष्ट हो चुकी थीं। पता नहीं क्यों, शुक्लजी को उसकी प्रेरक शक्तियाँ पाश्चात्य साहित्य में निहित दिखीं।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी यह निश्चित मत है कि छायावाद की मूल प्रेरणा अंग्रेजी की रोमाण्टिक कविता ही है। “इस श्रेणी (छायावाद) की कविता

१. आधुनिक कवि : फूलचन्द्र पाँडे

२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण सं० १९६६, पृष्ठ ६६८

लिखनेवालों को मूल प्रेरणा इंग्लैंड के रोमाण्टिक भावधारा की कविता से प्राप्त हुई थी। इसमें संदेह नहीं कि उक्त भावधारा में ईसाई सन्तों की रहस्यवादी साधना अवश्य थी।” हिन्दी की छायावादी कविताओं में ‘नीरव वेदना’, ‘मूक रुदन’, ‘हृत्तन्त्री के तार’ शब्दों के प्रयोग वे इसी अंग्रेजी-प्रेरणा के प्रमाण-स्वरूप मानते हैं। फिर शुक्लजी का समर्थन करते हुए उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया है कि छायावाद पर बँगला की कविताओं का प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी के रोमाण्टिक “साहित्य से हटकर यह प्रभाव बँगला और हिन्दी के आधुनिक साहित्य (छायावाद) में आया था।”^१

✓ श्री सियारामशरण गुप्त का “विश्वास है कि ‘गीतांजलि’ की उस व्यापक प्रसिद्धि ने हिन्दी के कुछ नवोदित कवियों को नयी प्रेरणा दी और उसका फल हिन्दी में एक नयी धारा (छायावाद) का विकास है। हिन्दी पर बँगला के इस प्रभाव को स्वीकार करने में मुझे किसी प्रकार की हीनता नहीं दिखायी पड़ती।”^२

छायावाद के सम्बन्ध में आलोचकों की एक यही प्रभाव-स्वीकार्य-परम्परा हमें प्राप्त होती है; परन्तु जिस जोशोखरोश से उन्होंने इस प्रभाव-सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया, उसकी प्रतिक्रिया भी उतने ही शीघ्र प्रारम्भ हो गई। आलोचकों का एक दल ऐसा भी मैदान में उतर आया जो छायावाद को भारतीय चिन्ताधारा के विकास-रूप में प्रतिपादित करने लगा। इलाचन्द्र जोशी ने आचार्य शुक्ल के मत का खण्डन करते हुए कहा : “छायावाद की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का वक्तव्य बिल्कुल भ्रामक, निर्मूल और मनगढ़ंत है। बंगाल में कभी किसी भी युग में, किसी भी कोटि की कविताओं के लिए ‘छायावाद’ शब्द का प्रयोग नहीं हुआ; बंगाल के किसी भी कवि, साहित्य-कलाकार या आलोचक ने कभी कहीं भी, छायावाद शब्द का उल्लेख नहीं किया। ‘छायावाद’ शब्द विशुद्ध रूप में हिन्दी का ही है।”^३

‘प्रसाद’ ने ‘छायावाद’-सम्बन्धी भ्रांति का निराकरण कर पहली बार काव्य-मत के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष को सबल बनाया। उन्होंने छायावाद की लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता और उपचार-वक्रता को प्राचीन प्रतिपादित करने में कुन्तक और ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन का सहयोग लिया। छायावाद हिन्दी कविता का स्वाभाविक विकास था। यह न बँगला से आया और न ईसाई सन्तों के छाया-

१. अवन्तिका : काव्यालोचन, जनवरी १९५४, पृ० २११

२. अवन्तिका : काव्यालोचन, जनवरी १९५४, पृ० २११

३. अवन्तिका : काव्यालोचन, जनवरी १९५४, पृ० १८६

४. अवन्तिका : काव्यालोचनांक, जनवरी १९५३, पृष्ठ १९६

भास से । छायावाद तो हमारे सन्तों की वाणियों द्वारा हिन्दी भाषा-भाषियों के जीवन में सदियों से होता रहा । यह उधार लिया हुआ धन नहीं ।^१

घनानन्द की कविता में प्राचीन काल से चली आती छायावाद की परम्परा के दर्शन होते हैं । छायावादी काव्य की भाँति उनकी कविता में भी ध्वन्यात्मकता और लाक्षणिकता है :—

डगमगी डगनि धरनि छवि ही भार
 ढरनि 'छबोले' उर आहि 'वननाल' की
 × × ×
 ऐरे बीर पौन, तेरो सब और गौन बारी,
 तोसों और कौन मनो, ढरकों हीं वानि रे ।
 जगत के प्रान, ओछे बड़े तो समान,
 घनानन्द-निधान, सुखदान, दुखियानि दें।^२

प्रस्तुत उदाहरण में मानवीकरण और लाक्षणिकता के दर्शन होते हैं, जो छायावाद की बहुत बड़ी विशेषता है । ऐसा नहीं कि उदाहरण बहुत छानबीन कर रखे गए हैं, 'घनानन्द-कवित्त' के प्रत्येक पृष्ठ में छायावादी गुणों से समन्वित उदाहरण प्राप्य हैं । देखिये विशेषण-विपर्यय, जिसका छायावादी काव्य में अतिशय प्रयोग हुआ :—

भरें अँखियाँ दुखियाँ भरना-सी

किस अँग्रेजी कवि का अनुशीलन कर लिया था घनानन्द ने ? घनानन्द के पहले कबीर और जायसी की रचनाओं में भी छायावाद जैसी प्रतीक-योजना पद्धति मिलती है । कबीर की 'रमैया की दुलहिन लूटा बजार' में 'रमैया की दुलहिन' प्रतीक है माया की । जायसी के 'अंतर छपान हंस प्रकटा' में लक्षणा से भँवर का 'काले केश' और हंस का 'उजले केश' अर्थ ग्रहण किया जायगा । लक्ष्यार्थ होगा 'यौवन बीता, वृद्धावस्था आयी' । इस प्रकार छायावाद की विकास-परम्परा को आगे भी पुष्ट किया जा सकता है ।

राय कृष्णदास ने कहा कि रवीन्द्रनाथ पर पुराने ईसाई सन्तों का प्रभाव नहीं, बल्कि रविबाबू कबीर आदि भारतीय सन्तों और कुछ अंशों में विद्यापति आदि के गीतों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं । बंगाल के गोविन्ददास आदि कहीं-कहीं रहस्यवादी हो गए हैं । फिर हम कैसे कहें कि वे ईसाई और यूरोपीय प्रभाव से अपने गीतों की रचना में प्रवृत्त हुए ?

१. अवन्तिका : काव्यालोचनांक, पृष्ठ १८८

२. घनानन्द : सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

वास्तव में छायावाद के मूल उत्स के विषय में वही उचित है जिसकी ओर नगेन्द्र ने संकेत किया। द्विवेदी-युग के कलाकार इतिहास, पुराण, व्याकरण और काव्य-शास्त्र की सीमाओं में बँधे थे। उनकी भाषा व्याकरण के कठोर नियमों से आक्रान्त थी; उनके विषय शुष्क आदर्शवाद से प्रभावित थे। ऐसी परिस्थिति में, कवि का मस्तिष्क ही प्रधान रहा, उसकी कविता इतिवृत्तात्मक बन कर रह गई। दीनानाथ 'शरण' ने भी कहा : "कवि के हृदय के उपेक्षित होने के कारण काव्य में कोमलता और मार्मिकता का प्रायः अभाव रहा। स्वाभाविक है वैसे परिस्थिति में कवि के हृदय की कोमल भावनाएँ अपनी अभिव्यक्ति के लिए अकुला उठीं।"^१ और यही प्रतिक्रिया, आकुलता और कुष्ठा छायावाद की प्रेरक शक्तियाँ थीं। डा० देवराज ने भी छायावाद को, मनुष्य की कोमल भावनाओं के प्रति द्विवेदीयुगीन उपेक्षा के विरुद्ध प्रतिक्रिया मानते हुए कहा, "छायावाद अनाधुनिक पौराणिक धर्म-चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का विद्रोह था।"^२ परन्तु चूँकि डा० देवराज छायावादी उपलब्धियों से संतुष्ट न थे, उसका मूल्यांकन करने में, उसकी चिन्ताधारा के दिशा-निर्देश में वे निष्पक्ष न रह सके और तभी उन्होंने छायावाद की प्रेरक शक्ति 'प्रेम और सौन्दर्य की वासना' को स्वीकार किया, न कि 'आध्यात्मिक पूर्णता की भूख'।^३ डा० देवराज के कथन को प्रोफ़ेसर केसरी-कुमार का समर्थन भी प्राप्त है : "(छायावाद) द्विवेदी-युग की शुष्कता के प्रति रसिकता की प्रतिक्रिया है।"^४

छायावाद को स्पष्ट करने के क्रम में उसकी प्रेरक शक्ति के निर्देश के संदर्भ में उसमें परिव्याप्त निराशा के स्वरूप और उसके उत्स को भी पर्याप्त उभारा गया। कवि-आलोचक इस विषय में एकमत नहीं रहे—नगेन्द्र का यह कथन सर्वथा उचित है। वास्तव में छायावाद का प्रारम्भ आशा और आनन्द से ही हुआ। 'प्रसाद' का 'आँसू' निराशा के क्रोड़ में जन्मने के पश्चात् भी आशा-तरंग को उद्वेलित करता है। यथा :—

मधु-संस्ति की पुलकावलि

जागो, अपने जीवन में

१. हिन्दी-काव्य में छायावाद : दीनानाथ 'शरण', १९५७ का संस्करण

२. छायावाद का पतन : डा० देवराज, पृष्ठ १३-१४

३. छायावाद का पतन : डा० देवराज, पृष्ठ ६

४. छायावाद और प्रगतिवाद : सं० देवेन्द्रनाथ, पृष्ठ २३

फिर से मरन्द-उद्गम हो
 कोमल कुसुमों के वन में
 × × ×
 मेरी मानस पूजा का,
 पावन प्रतीक अविचल हो।
 भरता अनन्त यौवन-मधु,
 अम्लान स्वर्ण-शतदल हो।

—आँसू : 'प्रसाद'

आलोचकों के इन विस्तृत उद्धरणों में छायावाद की प्रेरक शक्तियों को एक ही दिशा' में देखा गया, और उसी दिशा को सर्वांगपूर्ण प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है। न जाने क्यों, आलोचक सम्प्रदायों और काव्य-मतों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं और उनका उपहास करना ही उन्हें अधिक भाता है। प्रो० शिवनन्दनप्रसाद ने उचित ही कहा है: "छायावाद की उत्पत्ति के मूल में बताये गए (विभिन्न) कारण एकांगी और अपर्याप्त हैं। वस्तुतः छायावाद के जन्म का इतिहास समझने के लिए हमें तत्कालीन परिस्थितियों को समझना पड़ेगा। कोई भी प्रबल साहित्यिक प्रवृत्ति-मात्र अंग्रेजी या बंगला के प्रभाव से उद्भूत नहीं हो सकती और न किसी विदेशी प्रवृत्ति की नकल में किसी भाषा में कोई नवीन प्रवृत्ति पनप सकती है। विगत युग की साहित्यिक प्रवृत्ति खड़ी नहीं रह सकती जब तक उसकी जड़ें तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की गहराई में न प्रविष्ट हों। छायावाद ईसाई संतों, रवीन्द्र की कविताओं या अंग्रेजी के रोमाण्टिक शैली की प्रतिक्रिया भी नहीं। वह देश के तद्युगीन सामाजिक जीवन और उसकी परिस्थितियों की युग की काव्य-चेतना पर प्रतिक्रिया है। उसकी जड़ तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में है।" वस्तुतः यह मत पर्याप्त संयत और छायावाद की प्रेरक-शक्ति के उत्स का उद्भव करने में समर्थ है। नगेन्द्र भी कहते हैं: "अनादिकाल में—उस धुंधले समय में एक बार जब स्थूल कर्मकाण्ड ने देश को अभिभूत कर लिया था, सूक्ष्म आत्मज्ञान का विद्रोह 'तदेजति तन्नैजति' के रूप में प्रस्फुटित हुआ था। इसके उपरान्त फिर एक बार शाक्तों और शैवों की भौतिकता का प्रभुत्व असह्य हो जाने पर भगवान् बुद्ध के ज्ञान-मिश्रित वैराग्य द्वारा सूक्ष्म ने क्रांति उप-

1. Dimension, डा० देवराज कहते हैं कि 'डाइमेंशन' के लिए 'सिम्त' शब्द के प्रयोग का सुभाव शिवशानसिंह चौहान से मिला है।

२. कवि सुमित्रानन्दन पन्त और उनका प्रतिनिधि काव्य : प्रो० शिवनन्दन प्रसाद,

स्थित की। धीरे-धीरे जब यही ज्ञान और वैराग्य स्थूल और पार्थिव रूप धारण करते गए तो कबीर के आत्म-तेज ने बाह्य आवरण को भस्मसात् करके उसके द्वारा आच्छादित सूक्ष्म स्पन्दन का अनुभव कराया और अन्त में जब द्विवेदी-युग में कविता उपयोगितावाद और भौतिकता की तुष्टि का एकमात्र माध्यम बन कर केवल सुधार-उपकरण ही रह गई तो भावुकता ने पुनः एक नये रूप से विद्रोह खड़ा किया। यूरोप में भी समय-समय पर ऐसे काण्ड उपस्थित होते रहे हैं जिनमें सबसे प्रमुख उन्नीसवीं शताब्दी की जागृति थी जिसके प्रमुख प्रवर्तक थे रूसो और बाल्तेयर। संक्षेप में, जब-जब स्थूल की प्रभुता असाध्य होती गई है, तभी सूक्ष्म ने उसके विरुद्ध क्रांति की है। इस क्रांति और इस विद्रोह के प्रोद्भास रूप में जो गान संसार की आत्मा ने उन्मत्त होकर गाया, वही छायावाद का प्राण है। सारांश यह कि स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद का आधार है। स्थूल शब्द बड़ा व्यापक है, इसकी परिधि में सभी प्रकार के बाह्य रूप-रंग-रूढ़ि आदि सन्निहित हैं और इसके प्रति विद्रोह का अर्थ है उपयोगितावाद के प्रति भावुकता का विद्रोह, नैतिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातंत्र्य का विद्रोह और काव्य के बन्धनों के प्रति स्वच्छन्द कल्पना और टेकनीक का विद्रोह।^{११}

शायद ही कभी इस अन्तर्दृष्टि को रखकर छायावाद को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया हो। नगेन्द्र छायावाद को विदेशी प्रभावजन्य नहीं मानते, उसे वे विकास के क्रम में स्वीकार करते हैं और जिस विकास-क्रम पर देशी परिस्थितियों का प्रभाव ही लक्षित होता है। नगेन्द्र के मत को दीनानाथ शरण भी स्वीकार करते दिखलायी पड़ते हैं : “साहित्य जीवन का दर्पण है, और आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक आदि कारणों से परिस्थितियों के अनुरूप जीवन की मान्यताएँ परिवर्तित होती रहती हैं; उसी प्रकार साहित्य भी जीवन के साथ-साथ बदलता जाता है। छायावाद की प्रेरक शक्ति तद्युगीन राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण परिवर्तित जीवन ही था। तत्कालीन जीवन ही छायावाद की प्रेरणा-भूमि है।”^{१२}

इस बात का तो अन्यत्र हम उल्लेख कर ही चुके हैं कि छायावाद के जन्म से ही उसकी मूल प्रेरणा, और उसकी शक्ति की उपादेयता को समझने का प्रयास किया गया। आलोचकों ने (जिनमें लाला भगवानदीन, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, रामचन्द्र शुक्ल, ज्वालाराम नागर ‘विलक्षण’, ज्योतिप्रसाद मिश्र, पद्मसिंह

१. सुमित्रानन्दन पन्त : नगेन्द्र, सप्तम संस्करण, पृष्ठ १०२

२. हिन्दी-काव्य में छायावाद : दीनानाथ ‘शरण’, प्रथम संस्करण १९५७, पृष्ठ २३

शर्मा और बनारसीदास चतुर्वेदी) छायावाद के स्वरूप को स्पष्ट करने के बजाय उसके रूप को अस्पष्ट कर दिया। देखिये न, 'छायावाद' को इस प्रकार समझा जाता था :—

किसने छायावाद चलाया, किसकी है यह माया !

× × × ×

मत पीछे पड़ो बंगाली कवियों के तुम

कवि सम्राट् हों या बाप हों सम्राटों के।'

'सुधा' में एक बार क्षीणकाय, दीर्घकेश, पल्लवधारी पाँच प्रकार के कवियों के कार्टून छपे थे। 'चाँद' में भी एक ऐसे कविवर का सपरिवार कार्टून निकला था जिनकी आँखों के आँसू बाल्टी भर रहे थे और वे बाल्टी में नीचे बनी नली से प्रवाहित होकर उपयोगी सिद्ध हो रहे थे—

कवि असली हो तो रो-रोकर इतना आँसू रोज़ बहाये;

पत्नी जिसमें कपड़ा धो ले, पुत्र बँठकर खूब नहाये।

ठीक ही है जब किसी साहित्य को ऐसी प्रतिभा वाले आलोचक प्राप्य हों, उसकी चिन्ताधारा यदि जीवित रह गई तो यह उसका सौभाग्य ही समझिये। आलोचकों में कुछ तो ऐसे थे कि कविता की एक 'सतर' का ठीक अर्थ तक नहीं जानते थे। हुआ यह कि आलोचकों के आक्षेपों और काल्पनिक उद्देशों के प्रत्युत्तर का कार्य कवियों को अपनी काव्य-भूमिकाओं में करना पड़ा, और कहना अनुचित न होगा कि इस कार्य का भार उन्होंने बखूबी निबाहा। 'पल्लव' की भूमिका में प्रत्यालोचना का प्रबल आवेश है। वास्तव में छायावाद का सविस्तार और सोत्साह समर्थन पन्त ने किया। दीनानाथ 'शरण' इसे छायावाद का 'मेनीफेस्टो' मानते हैं। आगे चलकर छायावाद की समस्याओं का समाधान महादेवी ने किया। 'निराला' के निबन्धों को सामयिक महत्त्व प्राप्त है।

अंग्रेजी-साहित्य में भी एक काव्य-युग ऐसा आया जिसने अपनी वैयक्तिकता के आवेश से डा० जॉनसन जैसे आलोचकों तक को तिलमिला दिया। छायावादी कवियों की भाँति, उन्होंने भी आक्षेपों का प्रत्युत्तर साहस के साथ काव्य-भूमिकाओं (Preface to 'Lyrical Ballads', Biographia Literaria)^१ में दिया। ऐसे ही आलोचकों से एक बार शैले ने कहा :—

१. जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी की पैरोडी : सुधा

2. Wordsworth

3. Coleridge

“Reviewers with some rare exceptions are a most stupid and malignant race. As a bankrupt thief turns thief-taker in despair, so an unsuccessful writer turns critic.”

वास्तव में डा० नगेन्द्र और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के पूर्व छायावाद के समर्थकों का आलोचकों में अभाव रहा। इन आलोचकों ने छायावाद का सूक्ष्म और सुसम्बद्ध विश्लेषण किया।

छायावादी काव्य में, प्रकृति में भी, नारी में भी, मानव में भी सर्वत्र सौन्दर्य का अन्वेषण किया गया। डा० देवराज तक को स्वीकार करना पड़ा, “साहित्यिक दृष्टि से छायावादी काव्य की मुख्य लब्धि हिन्दी पाठकों में सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष और प्रसार है। शैले, कीट्स, वर्डस्वर्थ और रवीन्द्र से प्रभावित छायावादी कवियों की प्रवृत्ति एकाएक सौन्दर्योन्मुखी हो उठी।”^१ वास्तव में उत्कृष्ट काव्य में सौन्दर्य-तत्त्व की अनिवार्यता मानी ही जाती है। काव्यगत रस-निष्पत्ति के लिए भी सौन्दर्य-तत्त्व की अपेक्षा की जाती है। छायावादी सौन्दर्य-चेतना में हमें स्थूल और सूक्ष्म सौन्दर्य के मध्य सुन्दर सामंजस्य प्राप्त होता है। वहाँ रीतिकाल जैसी मांसलता है, तो सूक्ष्म भावात्मकता भी।

देख न लूँ, इतनी ही ता है इच्छा ?
 लो सिर भुका हुआ,
 कोमल किरन-उंगलियों से ढँक दोगे
 यह दुग खुला हुआ,
 फिर कह दोगे; पहचानो तो
 मैं हूँ कौन बताओ तो !
 किन्तु उन्हीं अधरों से पहले
 उनकी हँसी दबाओ तो,
 सिहर भरे निज शिथिल मृदुल अंचल
 को अधरों से पकड़ो,
 बेला बीत चली है चंचल बाहु-लता
 से उर पकड़ो !

—‘प्रसाद’

दीनानाथ ‘शरण’ ने ठीक कहा है कि “छायावाद की सौन्दर्य-चेतना में स्थूलता और सूक्ष्मता का यह समन्वय हिन्दी-कविता में अन्यत्र आप नहीं पा सकेंगे।”^२

१. डा० देवराज : छायावाद का पतन, पृष्ठ १८

२. दीनानाथ ‘शरण’ : हिन्दी-काव्य में छायावाद, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११५

वास्तव में छायावादी काव्य में सौन्दर्य की यथार्थ पकड़ है। उसमें ऐन्द्रियता भी है जितनी कि पाठकों के लिये अभीष्ट है। देखिये न—

शशि-मुख पर घूँघट डाले,
अंचल में दीप छिपाये;
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आये !

नगेन्द्र का मत ही सब मतों में उत्कृष्ट ठहरता है : जिस कविता ने नवीन सौन्दर्य-चेतना जगाकर बृहत् समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया, उस कविता का गौरव अक्षय है। और यही कारण है कि छायावादी कवि का ध्यान सामान्य पुरुष, नारी, बालक की ओर अधिक आकृष्ट हुआ। जहाँ तक नारी का सम्बन्ध है, छायावादी कवि का दृष्टिकोण न तो द्विवेदीकालीन कवि का है, और न रीतिकालीन कवि का। छायावाद कवि पुरुष, नारी, बालक तीनों के महत्त्व को स्वीकार कर अतीत से उनके सम्बन्धों को विच्छेद कर देता है। छायावादी कविता में नारी अपने पंचभूत के शरीर का 'पोस्टमार्टम' करवाने नहीं आती, जैसा कि हम रीति-युग के कतिपय कवियों की कविता में पाते हैं। नारी एक शक्ति लेकर, भावनापूर्ण हृदय लेकर स्नेह और दुलार देने इन रूपों में ही छायावादी कवियों में स्थान पाती है। महादेवी नारी में इन प्रारूपों को निखार देती हैं :—

विरह का युग आज दोखा,
मिलन के लघु पल सरीखा;
दुःख सुख में कौन तोखा,
मैं न जानी ओ' न सीखा।

इसी प्रकार पत ने नारी के बालिका और सामंजस्य पर कुछ उत्कृष्ट पंक्तियाँ उदाहृत की हैं।

हम सब जानते हैं कि मनुष्य न तो पूर्ण है और न वह पूर्ण हो ही सकता है—वह साधनरत है, पूर्ण बनने के क्रम में है, शायद यही कारण है कि छायावादी कविता में जीवन के प्रति, जगत् के प्रति, प्रकृति के प्रति, ब्रह्म के प्रति, नारी के प्रति, समाज के प्रति एक कुतूहल एवं ओत्सुक्य की भावना अन्तर्हित रहती है। कवि सत्य की खोज में सतत प्रयत्नशील रहता है।

इस विवेचन के उपरान्त अब हमें अपने मुख्य प्रतिपाद्य विषय पर आ जाना ही अभीष्ट है। नगेन्द्र कहते हैं : “छायावाद में आरम्भ से ही जीवन की सामान्य और

निकट वास्तविकता के प्रति एक उपेक्षा, एक विमुखता का भाव मिलता है।” छायावाद की मूल प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए भी उन्होंने कहा कि वह “अन्त-मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की प्रवृत्ति है।”^१ व्यक्तिवाद और शृङ्गारिकता का विवेचन प्रस्तुत करते समय नगेन्द्र कहते हैं “द्विवेदी-युग की कविता की पूर्ण इतिवृत्तात्मकता और वस्तुगत के प्रति उसका प्रतिक्रिया में छायावाद की कविता भावात्मक एवं आत्मगत हुई। द्विवेदीकालीन कविता का बहिरङ्ग सामाजिक था, जबकि छायावादी कविता का विषय अन्तरंग व्यक्तिगत जीवन हुआ। छायावादी कवि आत्मलीन होकर लिखता है। उसका यह, भक्तिभाव प्रसाद में आनन्दवाद, निराला में अद्वैतवाद, पंत में आत्मरति तथा महादेवी में आत्मरति का प्रक्षिप्त-प्रारूप परोक्ष रति पाया जाता है।”^२ प्रकृति पर चेतना का आरोप करते हुए भी उन्होंने कहा कि “प्रकृति का उपयोग छायावादी कवियों द्वारा दो रूपों में हुआ। एक तो कोलाहलमय जन-जीवन से दूर शान्त-स्निग्ध विश्राम-भूमि के रूप में और दूसरे प्रतीक के रूप में।”^३ छायावाद के मूल दर्शन के विषय में भी उन्होंने कहा कि यह भारतीय अद्वैतवाद का प्रोद्भास है। छायावाद के दर्शन के विवेचन में प्रारम्भ से ही काफ़ी मानसिक संवर्ष का वातावरण निर्मित किया गया। महादेवी छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद मानती हैं। उन्होंने वैदिक ऋचाओं से समानान्तर उद्धरण देकर यह स्थापित किया कि प्रकृति में स्पंदित जीवन-चेतना की पहचान भारतीय कवि के लिए नवीन न होकर अत्यन्त प्राचीन है, सनातन से चली आ रही है। वैसे ता मेरा अपना मत है कि सर्वात्मवाद को छायावादी कवियों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों विधियों से ग्रहण किया। नगेन्द्र का मत है कि निराला पर स्वामी विवेकानन्द और रामकृष्ण परमहंस का प्रभाव पड़ा था। पंत पर इनका गहरा प्रभाव था जो बाद में उन्हें योगि-राज अरविन्द की ओर ले गया। प्रसाद ने योगदर्शन तथा उपनिषद् का सम्यक् मनन किया था। महादेवी का तो भारतीय दर्शन के साथ सम्बन्ध प्रारम्भ से ही रहा, तथा प्रौढ़ि के साथ यह प्रभाव और भी गहरा हुआ।

नगेन्द्र का अपना निष्कर्ष है कि छायावाद का उद्गम सर्वात्मवाद ही है। छायावाद के कवियों की चेतना में नैतिक और आध्यात्मिक प्रभावों के कारण

१. आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ : नगेन्द्र, पृष्ठ ६

२. आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ : नगेन्द्र, पृष्ठ १०

३. आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, नगेन्द्र, पृष्ठ ६६

४. वही, पृष्ठ ६२

एक विशेष परिष्कार आरम्भ से ही था ।^१

प्रारम्भ से ही छायावाद के विषय में कुछ भ्रान्तियों का विद्यमान रहना और आज तक उनका निवारण न हो सकना एक तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत करता है, कि प्रारम्भ से ही छायावाद को समझने का प्रयास किया जा रहा है । परन्तु प्रशस्त भाव-भूमि और विशेष चिन्तन-शैली के अभाव में सफलता प्राप्त न हो सकी ।

छायावाद के विषय में पहला भ्रम तो उन लोगों ने फैलाया जो छायावाद और रहस्यवाद में विभेद स्पष्ट करने में असमर्थ रहे । नितान्त वस्तुपरक दृष्टि-कोण रखकर, शैली के वैभिन्न्य और साम्य को आधार मानकर ही आलोचक कतिपय धारणाओं का पिष्टपेषण करते रहे । वास्तव में, हुआ कुछ ऐसा ही कि प्रारम्भ में जिस छायावादी कही जानेवाली कविता का बाहुल्य था उसका स्वरूप स्वतः स्पष्ट नहीं था । छायावाद की मान्यताओं और परिसीमाओं का आकलन नहीं हो पाया था । इसलिए निश्चित और सुदृढ़ सिद्धान्तों के अभाव में अध्यात्म और कुछ रूपकों एवं प्रतीकों को देखकर ही उन लोगों को छायावाद और रहस्यवाद के साम्य का भ्रम हुआ । वस्तुतः ^{४५} ^{४६} में पर्याप्त वैषम्य विद्यमान है । तनिक-सी भी अन्तर्दृष्टि और विशिष्ट चिन्तन ^{४७} ^{४८} की अभिरुचि रखनेवाला व्यक्ति समझ लेगा कि छायावाद एक बौद्धिक युग का क्रांति-गान है जबकि रहस्यवाद बुद्धि के माध्यम से काव्य है । नगेन्द्र इसे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि “छायावाद का जन्म साधना से—अखण्ड अध्यात्म-विश्वास से भी नहीं हुआ है । अतएव उसके रूपकों और प्रतीकों को यथातथ्य मानकर उसपर रहस्य-साधना अथवा रहस्यानुभूति का आरोप करना अनर्थ है ।”^{४९}

छायावाद-सम्बन्धी दूसरी भ्रान्ति भी नगेन्द्र के शब्दों में—मूलवर्तिनी विशिष्ट परिस्थितियों के अध्ययन के अभाव में—छायावाद को अंग्रेजी रोमाण्टिक कविता का भारतीय विकास मानना है । पाश्चात्य साहित्य के मुख्यतः दो सिद्धान्तों का छायावाद की अभिव्यंजना-शैली पर काफी प्रभाव पड़ा है—क्रोचे का अभिव्यंजनावाद और आस्कर वाइल्ड का कलावाद । आस्कर वाइल्ड ने प्रतिपादित किया कि ‘काव्य का उद्देश्य काव्य ही है ।’ वह जीवन, जगत् और काव्य का कोई सम्बन्ध स्थापित करना नहीं चाहता । काव्य का क्षेत्र ही भिन्न है, सामान्य जगत् से उसका कोई सम्बन्ध नहीं । और तभी वह यह भी कहता है कि काव्य की समीक्षा किसी

१. आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ : नगेन्द्र, पृष्ठ ६२

२. आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ : नगेन्द्र, पृष्ठ ६४

सांसारिक वस्तु की कसौटी पर नहीं होनी चाहिए। उसके अनुसार सौन्दर्य-भावना की संतुष्टि ही काव्य का लक्ष्य है।

प्रगतिवाद

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोप में विचारकों और चिन्तकों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया जो अपनी धारणाओं, मान्यताओं और निष्कर्षों का आधार भौतिक मानने लगा। रूढ़ि और अन्धविश्वास के विरुद्ध प्रतिक्रिया तो यूरोप के अनेक देशों में बहुत पहले प्रारम्भ हो चुकी थी। जिस प्रकार पुनर्जागरण एक अभिनव चिन्तनाकाश का उन्मेष प्रस्तावित करता है, उसी प्रकार औद्योगिक क्रान्ति समाज में एक क्रान्ति प्रस्तावित कर चिन्तन के एक नवीन पक्ष का उद्घाटन करती है। वैसे तो टेनीसन के साथ हम भी मानते ही आते हैं कि परिवर्तन जीवन का नियम है (Change is the Law of life); परन्तु १९वीं शताब्दी से जिस परिवर्तन के महत्त्व को स्वीकार किया गया, वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करने में समर्थ था। वैज्ञानिक और औद्योगिक प्रगति ने संसार का नक्शा बदल दिया; परन्तु फिर भी जनसमूहों और एक वर्ग-विशेष की आस्था आकृष्ट करने में वह असमर्थ ही रहा। पूँजे समूह और मजदूरों का संघर्ष औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भिक दिनों में ही स्पष्ट हो चुका था। विचारक इस ओर बढ़ भी रहे थे। बर्ड्सवर्थ ने तो यहाँ तक कहा :—

What man has made of men ?¹

× × ×

Enough of science and Art,

Close up these barren leaves,

Come forth, and bring with you a heart

That watches and receives.²

विक्टोरियन युग के १८५० तक आते-आते तो प्रगति का स्वरूप स्पष्ट हो चुका था और लोगों के सामने उसके उभय पक्ष आ चुके थे। भौतिक प्रगति के दूसरे पक्ष को स्पष्ट करते हुए एडम स्मिथ ने लिखा : “(Due to the Industrial Revolution the wealth was increasing but its inequit-

1. William Wordsworth, the table turned English Poet, Ward Selection, Page 17

2. Vide Lines written in early spring.

able distribution was the spectacle which was bringing tears in the eyes of the angles."

प्रारम्भ में भौतिक प्रगति के जो दोष और त्रुटियाँ रहीं, बाद में उन्हें पूंजी-वाद के दोष मान लिया गया और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। भौतिकता का प्राबल्य रहा और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रगति का आधार मान लिया गया, जिसके मानने वाले यह मान कर चलते हैं कि हमारा अस्तित्व केवल भौतिक वस्तुओं के द्वन्द्वात्मक स्वरूप पर ही आधारित है। भौतिकवाद मानकर चलता है कि विश्व का आधार पंचभूत है—पदार्थ ही उसका सर्वांश है। इसी पदार्थ (Matter) से उसके सभी दृश्य निर्मित हैं: ईश्वर और आत्मा की सत्ता पर भौतिक-वाद की आस्था नहीं। नगेन्द्र ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है: "शरीर की परिचारिका शक्ति भौतिक है और मस्तिष्क भी शरीर की अन्य इन्द्रियों की भाँति भौतिक ही है और इसी घटनाओं की हमारी इन्द्रियों पर प्रतिक्रिया होती है और इसी स्वरूप एक कम्पन होता है। शरीर का वह सूक्ष्मतरंग और संचालन (अवयव, जो इस कम्पन का अनुभव और समन्वय करता है, आत्मा की कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है, अधिक से अधिक उसे मात्रा के एक विकसित अवस्था-मात्र माना जा सकता है; अर्थात् वह भी अग्ररूप में पदार्थ की ही उद्भूति है। परन्तु यह पदार्थ क्रियाहीन या गतिहीन नहीं, अपितु स्वभाव से गतिशील है और इसमें गति पैदा करने के लिए ब्रह्म के संरक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती; वह तो पदार्थ के अन्तर्गत वर्तमान विरोधी तत्त्वों के सतत संघर्ष का सहज परिणाम है। जिस प्रकार जगत् को उत्पन्न करने के लिए किसी आधिदैविक शक्ति की आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार उसके संरक्षण और विनाश के लिए भी नहीं; क्योंकि जो पदार्थ अपनी परस्पर-विरोधी शक्तियों के संघर्ष के परिणामस्वरूप स्वयं गतिशील हैं, उसमें स्वस्थ रूप का उद्भव और अस्वस्थ रूप का लय आप-से-आप होता रहता है।

"इसलिए विश्व में केवल एक ही सत्ता है—आधिभौतिक। आध्यात्मिक और आधिदैविक सत्ताएँ मन की छलना-मात्र हैं। विश्व किसी ईश्वर या मनुष्य की सृष्टि नहीं; वह गतिशील पदार्थ की एक ऐसी जीवित अग्नि-शिखा है जो अंशतः ऊर्ध्व विकास और अंशतः अधःपतन की ओर उन्मुख है।"

गति की प्रेरक इन्हीं परस्पर-विरोधी शक्तियों के, जो स्वयं वस्तु में वर्तमान

रहती हैं, संघर्ष या द्वन्द्व का, अध्ययन करते हुए जीवन-विकास का अध्ययन करना ही द्वंद्वात्मक प्रणाली है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद वह दर्शन है जो जीवन को एक ऐसी प्रगतिशील भौतिक वास्तविकता मानता है जिसके मूल में विरोधी शक्तियों का संघर्ष चल रहा है। इन विरोधी शक्तियों में निश्चय ही एक विनाश के पथ पर होगी और दूसरी उत्थान के पथ पर। चेतन मस्तिष्क का कार्य यही है कि इस तथ्य को ढूँढ़ निकाले और प्रगतिशील शक्तियों को सहायता दे तथा विनाशोन्मुख शक्तियों का, जो अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए व्यर्थ छटपटा कर विकास या प्रगति में बाधा डालती हैं, बलपूर्वक नाश करे।

“इस प्रकार, जगत् का एकमात्र सत्य भौतिक जीवन ही है। ^२ का स्वस्थ उपभोग हमारा ध्येय है, अन्य किसी भी काल्पनिक सुख की ^३ भटकना पलायन है और इसी भौतिक जीवन की प्रमुख संस्था ^४ आधार है अर्थ। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष में प्रगतिवादी अस्तित्व स्वीकार करता है। काम को वह अर्थ के आश्रित ^५ को भी भौतिक अर्थ में जीवन की विधि-मात्र मानते हुए अर्थ ^६ मानता है। मोक्ष को आध्यात्मिक अर्थ में वह एकदम अस्वीकृत व ^७।”

नगेन्द्र के इस विवेचन को उदाहृत करने से प्रगति ^८ द्वंद्वात्मक भौतिक-वाद वाला पक्ष स्पष्ट हो जाता है और चिन्तनशैली की ^९ स्पष्ट हो जाती है। जैसा कि मैं प्रारम्भ में स्पष्ट कर चुका हूँ कि औद्योगिक ^{१०} के दोष पूंजीवाद पर आरोपित कर दिये गए—निदान प्रगतिवाद साम्यवाद ^{११} पक्ष और पूंजीवाद का शत्रु बन गया। नगेन्द्र प्रगतिवाद को साम्यवाद की ^{१२} इत्यिक अभिव्यक्ति मानते हैं। साम्यवाद से उसका सहज सम्बन्ध हो जाने के कारण प्रगतिवाद ^{१३} साहित्य को मुख्यतः सामाजिक या सामूहिक चेतना मानता है। तभी नगेन्द्र ने प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य ‘अहं’ का समाजीकरण बताया है।

प्रगतिवाद के इन व्यावहारिक और सैद्धान्तिक पक्षों के उद्घाटन के पश्चात् आवश्यकता इस बात की है उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति, चिन्तन-शैली के आधेय और दार्शनिक पक्ष पर विचार कर लिया जावे और तब उनका साम्य एवं वैषम्य नगेन्द्र की निष्पत्तियों से बैठाया जावे।

श्री फूलचन्द पांडे ने लिखा है कि जिस प्रकार व्यावहारिक क्षेत्र में परिस्थिति-जन्य अभाव का प्रकाशन छायावाद है, उसी प्रकार प्रगतिवाद अभाव का नग्न

वत्र है। पन्त प्रगतिशील कविता को छायावाद की एक धारा का ही प्रारूप मानते हैं।^१

इसी प्रकार वे प्रगति और प्रयोगवाद को छायावाद की उपशाखाओं के रूप में मानते हैं; (क्योंकि) मूलतः ये तीनों धाराएँ (छाया, प्रगति और प्रयोग) एक ही युग-चेतना अथवा युग-सत्य से अनुप्राणित हैं।^२ एक बात अवश्य है कि छायावाद में हमारी आन्तरिक नैतिक क्रान्ति का स्वर मुखरित हो उठा, और साहित्यिक तथा कलात्मक चेतना बहुमुखी होकर प्रस्फुटित हुई, पर साथ ही साथ आवात्मकता का प्राधान्य रहा। प्रगतिवाद की काव्यधारा सर्वत्र दलित वर्गों की सहानुभूति के प्रवाह में विचरित होती रही, यथार्थ उसकी श्वास रही। अपने मूल रूप में प्रगतिवाद साहित्य की वह धारा है जो पूँजीवाद के अन्तिम दिनों में प्रारम्भ हुई। सम्पूर्ण कलात्मक वैभव तथा साहित्य को ग्रहण करते हुए

एक नये

प्रणयन करती है।

है

अन्य समुद्र-पार हुआ, परन्तु देश में मुंशी प्रेमचन्द

धारा का

की स्थापना सन् १९३६ में हुई। यों मुंशी प्रेमचन्द

वाद और अगर

के बीच प्रवाहित होते रहे, परन्तु बाद के दिनों में

गोदान' त ही, अति

विचारों में प्रगति के तत्त्व प्राप्त होने लगे थे।

प्रगति और

न मान्यताओं पर आधृत रहा हो, चाहे जिन विचार-

प्रगति और

बढ़ा हो; पर अपने मूल में तो वह छायावाद-रहस्य-

प्रगति और

त्मकता और रचनात्मकता के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप

प्रगति और

नगेन्द्र की मान्यताओं द्वारा स्पष्ट ही कर चुके हैं कि प्रगति-

प्रगति और

प्र विरोधजन्य गतिशील भौतिकवाद या वैज्ञानिक भौतिक-

प्रगति और

वाद का दार्शनिक

वाद रहा है।

प्रगतिवादी मानकर चलता है कि सत्य के मूल में द्वन्द्वात्मकता अवस्थित रहती है। साथ ही यह भी है कि मार्क्सवादी सत्य को ऐतिहासिक विकास के क्रम में देखता है और परिस्थितियों के प्रभाव और उसके महत्त्व की उपेक्षा नहीं करता। नगेन्द्र भी मानकर चलते हैं कि सापेक्ष और निरपेक्ष सत्य की विवेचना में प्रगतिवादी व्यक्तिवादी विचारधारा के प्राधान्य को मान्यता प्रदान करता है। आयेद यही कारण है कि मार्क्स, एंजिल्स, लेनिन और स्टालिन के व्यक्तिवादी और पूँजी-विरोधी विचारों ने प्रगति-समर्थक व्यक्तियों को अधिक प्राकृष्ट किया।

१. सुमित्रानन्दन पंत : रश्मिबन्ध का परिदर्शन, पृष्ठ १०

२. उपर्युक्त परिदर्शन : पंत, पृष्ठ १८

रहती हैं, संघर्ष या द्वन्द्व का, अध्ययन करते हुए जीवन-विकास का अध्ययन करना ही द्वन्द्वात्मक प्रणाली है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दर्शन है जो जीवन को एक ऐसी प्रगतिशील भौतिक वास्तविकता मानता है जिसके मूल में विरोधी शक्तियों का संघर्ष चल रहा है। इन विरोधी शक्तियों में निश्चय ही एक विनाश के पथ पर होगी और दूसरी उत्थान के पथ पर। चेतन मस्तिष्क का कार्य यही है कि इस तथ्य को ढूँढ़ निकाले और प्रगतिशील शक्तियों को सहायता दे तथा विनाशोन्मुख शक्तियों का, जो अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए व्यर्थ छुटपटा कर विकास या प्रगति में बाधा डालती हैं, बलपूर्वक नाश करे।

“इस प्रकार, जगत् का एकमात्र सत्य भौतिक जीवन ही है। ^{२१} का स्वस्थ उपभोग हमारा ध्येय है, अन्य किसी भी काल्पनिक सुख की ^{२२} भटकना पलायन है और इसी भौतिक जीवन की प्रमुख संस्था ^{२३} आधार है अर्थ। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष में प्रगतिवादी अस्तित्व स्वीकार करता है। काम को वह अर्थ के आश्रित को भी भौतिक अर्थ में जीवन की विधि-मात्र मानते हुए अर्थ ^{२४} मानता है। मोक्ष को आध्यात्मिक अर्थ में वह एकदम अस्वीकृत व ^{२५} ।”

नगेन्द्र के इस विवेचन को उदाहृत करने से प्रगति द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद वाला पक्ष स्पष्ट हो जाता है और चिन्तनशैली की ^{२६} स्पष्ट हो जाती है। जैसा कि मैं प्रारम्भ में स्पष्ट कर चुका हूँ कि औद्योगिक ^{२७} के दोष पूँजीवाद पर आरोपित कर दिये गए—निदान प्रगतिवाद साम्यवाद ^{२८} पक्ष और पूँजीवाद का शत्रु बन गया। नगेन्द्र प्रगतिवाद को साम्यवाद की ^{२९} शक्तिक अभिव्यक्ति मानते हैं। साम्यवाद से उसका सहज सम्बन्ध हो जाने के कारण प्रगतिवाद ^{३०} साहित्य को मुख्यतः सामाजिक या सामूहिक चेतना मानता है। तभी नगेन्द्र ने प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य ‘अहं’ का समाजीकरण बताया है।

प्रगतिवाद के इन व्यावहारिक और सैद्धान्तिक पक्षों के उद्घाटन के पश्चात् आवश्यकता इस बात की है उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति, चिन्तन-शैली के आधेय और दार्शनिक पक्ष पर विचार कर लिया जावे और तब उनका साम्य एवं वैषम्य नगेन्द्र की निष्पत्तियों से बैठाया जावे।

श्री फूलचन्द पाँडे ने लिखा है कि जिस प्रकार व्यावहारिक क्षेत्र में परिस्थिति-जन्य अभाव का प्रकाशन छायावाद है, उसी प्रकार प्रगतिवाद अभाव का नग्न

चित्र है। पन्त प्रगतिशील कविता को छायावाद की एक धारा का ही प्रारूप मानते हैं।^१

इसी प्रकार वे प्रगति और प्रयोगवाद को छायावाद की उपशाखाओं के रूप में मानते हैं; (क्योंकि) मूलतः ये तीनों धाराएँ (छाया, प्रगति और प्रयोग) एक ही युग-चेतना अथवा युग-सत्य से अनुप्राणित हैं।^१ एक बात अवश्य है कि छायावाद में हमारी आन्तरिक नैतिक क्रान्ति का स्वर मुखरित हो उठा, और साहित्यिक तथा कलात्मक चेतना बहुमुखी होकर प्रस्फुटित हुई, पर साथ ही साथ भावात्मकता का प्राधान्य रहा। प्रगतिवाद की काव्यधारा सर्वत्र दलित वर्ग की सहानुभूति के प्रवाह में विचरित होती रही, यथार्थ उसकी श्वास रही। अपने मूल रूप में प्रगतिवाद साहित्य की वह धारा है जो पूँजीवाद के अन्तिम दिनों में प्रारम्भ हो

सम्पूर्ण कलात्मक वैभव तथा साहित्य को ग्रहण करते हुए

एक नये

प्रणयन करती है।

है

द्वारा ...
आदर्श और
'गोदान' त, अर्थात्
प्रगतिशील
तत्त्वों पर
व, कलात्मक
यह
का दार्शनिक
वाद रहा है।

यन समुद्र-पार हुआ, परन्तु देश में मुंशी प्रेमचन्द

की स्थापना सन् १९३६ में हुई। यों मुंशी प्रेमचन्द

के बीच प्रवाहित होते रहे, परन्तु बाद के दिनों में विचारों में प्रगति के तत्त्व प्राप्त होने लगे थे।

न मान्यताओं पर आधारित रहा हो, चाहे जिन विचार-

बढ़ा हो; पर अपने मूल में तो वह छायावाद-रहस्य-

त्मकता और रचनात्मकता के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप

नगेन्द्र की मान्यताओं द्वारा स्पष्ट ही कर चुके हैं कि प्रगति-

पर विरोधजन्य गतिशील भौतिकवाद या वैज्ञानिक भौतिक-

प्रगतिवादी मानकर चलता है कि सत्य के मूल में द्वन्द्वात्मकता अवस्थित रहती है। साथ ही यह भी है कि मार्क्सवादी सत्य को ऐतिहासिक विकास के क्रम में देखता है और परिस्थितियों के प्रभाव और उसके महत्त्व की उपेक्षा नहीं करता। नगेन्द्र भी मानकर चलते हैं कि सापेक्ष और निरपेक्ष सत्य की विवेचना में प्रगतिवादी व्यक्तिवादी विचारधारा के प्राधान्य को मान्यता प्रदान करता है। शायद यही कारण है कि मार्क्स, एंजिल्स, लेनिन और स्टालिन के व्यक्तिवादी और पूँजी-विरोधी विचारों ने प्रगति-समर्थक व्यक्तियों को अधिक आकृष्ट किया।

१. सुमित्रानन्दन पंत : रश्मिबन्ध का परिदर्शन, पृष्ठ १०

२. उपर्युक्त परिदर्शन : पंत, पृष्ठ १८

प्रगतिवाद का आधार मार्क्सवादी दर्शन है। वह पूर्ण रूप से भौतिकता पर अवस्थित है। वह काव्य को वर्ग-चेतना का प्रकाशन, जो आर्थिक शोषण का साधन मात्र है, मानता है।^१ नगेन्द्र ने भी इस सत्य को स्वीकार कर लिया है। वे कहते हैं कि दृष्टिकोण बदल जाने से आदर्श और मूल्यों का भी बदल जाना अनिवार्य है। गत युग में जो सत्य-शिव-सुन्दर था, वह आज विपरीत अर्थ रखता है। प्रगतिशील विचारधारा के अन्तर्गत मापदण्ड हो गया है—जनहित। सत्य से आज तात्पर्य है भौतिक वास्तविकता^२; शिव का अर्थ है भौतिक जीवन अर्थात् सामाजिक स्वास्थ्य में सहायक होने वाला; और सुन्दर का आशय है स्वाभाविक एवं प्रकृत।^३

एक बात मुझे खटकती है और नगेन्द्र का ध्यान भी कदाचित् इस ओर नहीं गया। वास्तव में प्रगतिवाद का विवेचन करने के बाद यह हो जाती है कि प्रगतिवाद समाज के एक वर्ग-विशेष का सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व नहीं हो सका। मेरा मत बन के शाश्वत मूल्यों के महत्त्व के प्रतिपादन में भी सफलता प्राप्त होना उदात्त-विरोध, वैषम्य आदि की समन्वयात्मक प्रक्रिया कर सकेगा; और उसके असफल होने का यही कारण है। बात यह ही नहीं जो हमारे सम्मुख है; हमें वही अभीष्ट नहीं जो हमारे सामने है, कि तुष्टि की दिशा में प्रयास कर सके।

जीवन के उदात्त आदर्शों के प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण मानने के कारण प्रगतिवाद उतना अधिक सफल नहीं हो सका जितनी कि सोवियत संघ में।

समाज में विषमताओं का प्राबल्य है—समाज में विषमता की भावना का स्वर तीव्र है। समाज के दो अतिवादी वर्गों के मध्य, एक और वर्ग है जो दोनों वर्गों की हीनता और विषमताओं से सम्पृक्त है। उसकी अपनी संस्कृति और अपनी चिन्तन-पद्धति है। इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व प्रगतिवादी साहित्य करता है—ऐसा नगेन्द्र का मत है। प्रगतिशील साहित्य में यथार्थ और जीवन की कटुता का ही प्राधान्य होने के कारण, जीवन का दूसरा पक्ष बिल्कुल ही अछूता छूट गया है। 'जीवन कैसा होना चाहिए' की अभिव्यक्ति छायावाद में हुई और यह भी

1. Poetry is an expression of class consciousness an instrument of economic exploitation.

2. Material Realism

३. आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, नगेन्द्र, पृष्ठ १०१

अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आस्था रखते हुए भी प्रगतिवाद का वर्ण्य विषय 'जीवन कैसा है' ही रहा ।

नगेन्द्र कहते हैं कि प्रगतिवादी ने अपनी अभिव्यक्ति के उपकरण आग्रह-पूर्वक साधारण—स्वस्थ—जन-जीवन से ग्रहण किये । अतएव प्रगतिवादी शैली में रीतिकाल की पालिश, छायावाद की अमूर्त मधुचर्या का एकान्त अभाव बना रहा, और प्रगतिवादी अभिव्यक्ति कभी कड़ी और कभी तीखी मानी जाने लगी । इसके कारण के रूप में कहा जा सकता है कि प्रगतिशील अभिव्यक्ति भावनात्मक न होकर आलोचनात्मक ही होती है ।

प्रगतिवाद पर आक्षेपों की चर्चा करते हुए नगेन्द्र कहते हैं कि प्रगतिवादी जीवन-दर्शन संकुचित है, वह जीवन की केवल आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत करता है । नगेन्द्र का मत है कि प्रगतिवाद के कर्णधार मार्क्स और कॉडवेल फ्रायड की मानव-जीवन-सम्बन्धी व्याख्याएँ असंगत और अविश्वसनीय हैं । प्रगति के समर्थकों द्वारा जो निष्कर्ष प्रस्तुत किये जाते हैं, उनपर भी नगेन्द्र का विश्वास नहीं जमता, क्योंकि वे बुद्धि-संगत नहीं । मेरा मत है कि जीवन असीम है । उसे परखने के दृष्टिकोण अनेक हैं । मार्क्स, फ्रायड, कॉडवेल ने जीवन को परखने का केवल एक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया । वे यह कहीं नहीं कहते कि यही सर्वांगीण दृष्टिकोण है । प्रत्येक व्यक्ति की परिसीमाएँ व्यक्तिगत और सामाजिक हुआ करती हैं और उनके कारण भी सर्वदेशीय और सर्वकालीन निरपेक्ष सिद्धान्तों का निर्माण नहीं किया जा सकता । मेरा तो अपना मत है कि मार्क्स, फ्रायड और कॉडवेल ने जीवन को एक दृष्टिकोण से परख कर, अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर सामाजिक परिस्थितियों के ढाँचे का निर्माण कर सामाजिक चेतना के महत्व का प्रतिपादन किया । जिन परिस्थितियों के अध्ययन द्वारा वे निष्कर्ष निकालते गए वे शाश्वत हैं और उनके महत्व को कम नहीं किया जा सकता । इनकी उपेक्षा कर नगेन्द्र अपने मत को शाश्वत न बना सके ।

दूसरे आक्षेप के विषय में कहा गया है कि साहित्य अपने मूल रूप में सामाजिक या सामूहिक चेतना नहीं, वह तो वैयक्तिक चेतना ही हो सकती है । मनुष्य पहले व्यक्ति है पीछे समाज की इकाई; और नगेन्द्र उसके पहले ही रूप को मौलिक मानते हैं । अतएव साहित्य अपने वास्तविक रूप में जीवन के प्रति व्यक्ति की अथवा अनात्म के प्रति आत्मा की प्रतिक्रिया है । आत्मा की दो प्रवृत्तियाँ हैं—अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी । साहित्य-सृजन प्रक्रिया से यह स्पष्ट हो चुका है कि वह जीवन की भावगत व्याख्या है । नगेन्द्र ने बड़े जोरदार शब्दों में कहा : “गोर्की, इकबाल और मिल्टन के व्यक्तित्व का विश्लेषण असन्दिग्ध रूप से सिद्ध कर

देगा कि उनके साहित्य में जो कुछ भी महान् है, वह उनके दुर्दमनीय 'अहं' का ही विस्फोट है; साम्यवाद, इस्लाम या प्यूरिटन मत की अभिव्यक्ति नहीं।' ठीक है, नगेन्द्र ने जो कुछ कहा वह स्वयं-सिद्ध है; न तो उसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता है और न वह पुष्टीकरण की ही अपेक्षा रखता है। पर तनिक गहरे पैठ कर तो देखिये ! 'वाद' को छोड़िये, समाज को समष्टि रूप में रखकर व्यक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन कीजिये। गोर्की, इक्कबाल और मिल्टन जो कुछ हैं, ठीक हैं, उनकी व्यक्तिगत प्रतिभा ने उन्हें वहाँ तक पहुँचा दिया; परन्तु हम में भी एक गोर्की, एक इक्कबाल और एक मिल्टन छिपा हुआ है। गोर्की को गोर्की बना देने के लिए शिशु या बाल गोर्की का महत्त्व नहीं; महत्त्व है उन सामाजिक परिस्थितियों का, जिनके अनुकूल वातावरण में शिशु गोर्की का मानस एक विशिष्ट प्रारूप को प्राप्त कर सकने में समर्थ हो सका। हम भी गोर्की बन सकते थे, यदि हमें वैसा वातावरण प्राप्त होता। असाधारण प्रतिभा, समाज की चेतना की जितनी उपेक्षा करती है, उतनी ही उपेक्षा इसके द्वारा व्यक्तिगत चेतना की भी हो जाती है। मिल्टन जिस समाज में रहता था, स्त्रियों की स्थिति उसमें यदि तनिक और अच्छी होती तो मिल्टन नारी के प्रति उतना कटु न होता जितना कि वास्तव में वह अपने 'ट्रैक्ट्स ऑन डाईवोर्स' में हैं।^१ मेरी तो अपनी मान्यता है कि सामाजिक चेतना की उपेक्षा कलाकार द्वारा सम्भव नहीं; और यदि प्रगतिवाद उसे आधार मान लेता है तो यह कोई नाक-भौं सिकोड़ने लायक बात नहीं। नगेन्द्र ने भी स्वीकार कर लिया कि कवि की अपनी चेतना समाज से बहुत-कुछ ग्रहण करती है, और सृजन के अर्ध-चेतन क्षणों में वनस्पति से ढँकी हुई चिनगारी की तरह प्रज्वलित हो उठेगी।^२

प्रगतिवाद के मूल सिद्धान्त के विषय में भी एक आक्षेप किया गया है कि इसका दृष्टिकोण मूलतः वैज्ञानिक होने के कारण बौद्धिक एवं आलोचनात्मक है। नगेन्द्र कहते हैं कि स्वभाव से उसमें तन्मयता या आत्मविसर्जन नहीं है, जो काव्य के लिए (आवश्यक ही नहीं) अनिवार्य है।^३ मैं पूछना चाहूँगा कि आज क्या व्यक्तियों में स्नेह, अनुराग, प्रेम है ? क्या लोक-कल्याण और लोक-मंगल की भावना उनको त्याग की ओर प्रेरित करती है ? क्या आस्था और श्रद्धा उनके तर्क को निर्बल करने में सहायक है ?

1. Miltons Two, 'Tracts on Divorce', 1644-1645

२. आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ : नगेन्द्र, पृष्ठ १०४

३. आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ : नगेन्द्र, पृष्ठ १०७

मैं जानता हूँ कि इनके उत्तर नकारात्मक ही आयेंगे। हम प्रत्येक समस्या का, जीवन की प्रत्येक ग्रन्थि का बौद्धिक विश्लेषण और बौद्धिक समाधान चाहते हैं। यही यदि प्रगतिवादी कविता में हो गया तो क्या बुरा है !

प्रगतिवाद हिन्दी में पन्त की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' द्वारा लाया गया है। परन्तु नगेन्द्र मानते हैं कि प्रगतिवाद का स्थूल भौतिक दर्शन पन्त का मनः-परितोष करने में समर्थ नहीं था। और वे जीवन के सूक्ष्म आध्यात्मिक मूल्यों के देश में फिर लौट गए। जीवन में स्थिरता आने के साथ नगेन्द्र का भी जीवन-दर्शन बदल गया।^१

उधर 'अंचल' ने भी 'मधूलिका' और 'अपराजिता' की रंगीन कविताओं के बाद 'करील' आदि ऐसी कविताएँ लिखीं जो इसी वर्ग में आती हैं। शिव-मंगलसिंह 'सुमन' की अनेक रचनाओं में भी प्रगति का स्वर स्पष्ट रहा। इधर नागार्जुन भी इस प्रकार की रचनाएँ कर रहे हैं।^१

हिन्दी में प्रगतिवाद का भविष्य उज्ज्वल क्यों नहीं रहा, इस विषय में नगेन्द्र के विचार क्रम से इस प्रकार हैं :—

- (१) हिन्दी कवियों का दृष्टिकोण अभी वैज्ञानिक, भौतिक एवं बौद्धिक नहीं बन पाया, अभी वह अधिकांश में भाव-प्रधान ही है। आत्मा का मोह भी ये कवि अभी नहीं छोड़ पाए। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य में मानववाद या क्रान्ति-भावना ही मुख्य है, वैज्ञानिक साम्यवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कम।
- (२) हिन्दी में अभी सामाजिक चेतना इतनी प्रबल नहीं हुई कि व्यक्तिगत प्रक्रियाएँ उसमें समाहित हो सकें। कवियों में वैयक्तिक गीत-तत्त्व की ही प्रचुरता है।
- (३) हिन्दी में जिन प्रवृत्तियों ने छायावाद को जन्म दिया, उनको पूरी तरह से अभिव्यक्त होने का अवसर नहीं मिल पाया। प्रगतिवाद छायावाद की भस्म से पैदा नहीं हुआ, वह उसके यौवन का गला घोट कर ही उठ खड़ा हुआ है। अधिकांश प्रगतिवादी कल के छायावादी हैं।
- (४) हिन्दी के अधिकांश प्रगतिशील लेखक उस जीवन से दूर हैं जो उनकी प्रेरणा का मूल स्रोत है। केवल बौद्धिक सहानुभूति के

१. आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ : नगेन्द्र, पृष्ठ १०७

२. वही

बल पर शोषितों की पीड़ा को मुखर करने वाले या हज़ारों मील दूर पर लड़ने वाली लाल सेना के अभियान-गीत लिखने वालों की रचनाएँ प्राणवान् कैसे हो सकती हैं।^१

आजकल स्वयं प्रगतिवादी वर्ग में भी मौलिक मतभेद उत्पन्न हो गया है। प्रगतिवाद की स्थिति अत्यन्त अस्थिर है। उनकी परिधि में सत्साहित्य की सृष्टि अत्यन्त विरल हो गई है। यद्यपि प्रगतिवाद का भविष्य साम्यवाद के साथ बँधा हुआ है, परन्तु यह नहीं भुलाया जा सकता कि हिन्दी-काव्य को उसने एक जीवन-चेतना प्रदान की।

सप्तम उन्मेष
नगेन्द्र और हिंदी के कुछ अन्य
साहित्यालोचक

हिन्दी-आलोचना : कुछ प्रसिद्ध समालोचक

हिन्दी-साहित्य और समीक्षा की यह प्रवृत्ति रही है कि उसमें युगानुरूप परिवर्तन और परिमार्जन होता जाता है। युग-विशेष की परिस्थितियों में प्रकाशित साहित्य और समीक्षा में परिवर्तन हो जाता है, तब उनकी नियामक परिस्थितियों में भी परिवर्तन हो जाता है। आत्मा की अभिव्यक्ति कला और काव्य की प्रमुख एवं कठिन समस्या है। आत्मा के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति महती वस्तु है। काव्य अथवा साहित्य में अभिव्यक्त इसी आत्मा के सौन्दर्य को समीक्षा में उद्घाटित करने का प्रयास किया जाता है। इस आत्मा के सौन्दर्य को उद्घाटित करने में जिस आलोचक को जितनी अधिक सफलता प्राप्त होती है, वह उतना ही विशिष्ट आलोचक मान लिया जाता है। इस दिशा की ओर तो हम अन्यत्र प्रकाश डाल ही चुके हैं कि साहित्य के मानदण्ड विभिन्न हुआ करते हैं। साहित्य और कला प्रभावित होती है, और प्रभावित करती भी है; परन्तु इतना नहीं कि साहित्य और कला का प्रारूप ही बदल जाय। संस्कृत-साहित्य और समीक्षा के अनुकरण का एक प्रभाव तो यह हुआ कि हिन्दी में स्वतंत्र एवं निरपेक्ष आलोचकों का आविर्भाव ही नहीं हुआ। संस्कृत साहित्य-शास्त्र की परिपाटी पर ही लक्षण-ग्रन्थों, अवैज्ञानिक आस्थामूलक नीति-मतों, वर्णाश्रम-धर्म की आदर्शवादिता की अपेक्षा में साहित्य-सिद्धांतों की मीमांसा होती रही। भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने पर अपेक्षाकृत नवीन दिशा की ओर हमारी अभिरुचि हुई। स्वतंत्र एवं अपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील देश के साहित्य के अनुशीलन में हमें एक विशेष प्रकार का आकर्षण दीखा। पश्चिमी साहित्य के अध्ययन ने हमें नयी दिशा-दृष्टि प्रदान की। पश्चिम के प्रकृति-विज्ञान और मानस-विज्ञान की नवीन उद्भावनाओं ने हमारी चिन्ता-धारा और प्रेरणा-सूत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिए। जहाँ हम संस्कृत-साहित्य के मोती ही बीन रहे थे, वहाँ अब हमें आधुनिक मनोविज्ञान, मानव-शास्त्र, और द्वन्द्वात्मक भौतिक-दर्शन, तथा सौन्दर्य-सिद्धान्त सम्बन्धी अन्वेषणों, स्थापनाओं और निष्पत्तियों में भी सत्यांश दीखने लगा। अब हम स्वीकार करने लग गए थे कि हमारा ज्ञान, हमारे पूर्वजों से कुछ अंशों में श्रेष्ठ है, और अब तो प्रत्येक मानव-क्रिया, भाव-दशा और रुचि के मूल को एक ही प्रेरक प्रवृत्ति में बैठा कर हम साहित्य की परिकल्पना करने में असमर्थ थे। हमने संस्कृत-साहित्यशास्त्र की उपादेयता स्वीकार करने में तनिक भी कृपणता नहीं

दिखलायी; परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि, व्यक्तिवादी समष्टिगत दर्शन और विकास-परम्परामूलक सिद्धान्त हमें नयी दिशा की ओर ले गए।

वास्तव में इस समय यदि हम पीछे लौटकर आज के आलोचना-साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें प्रतीत होता है कि जहाँ हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में विशिष्ट व्यक्तित्वों का अभाव नहीं, और वह अपनी प्राथमिक अवस्था से भी काफ़ी आगे चली आयी है, उसमें सौन्दर्य और वैभव भी समा गया है, परन्तु फिर भी उसके चारों ओर कुछ अव्यवस्था-सी फैली दिखायी पड़ती है। हो सकता है इस अव्यवस्था के औचित्य-प्रतिपादन के मोह में कतिपय आलोचक उसे बौद्धिक स्वातंत्र्य के रूप में स्वीकार करें, परन्तु ऐसा करना उचित नहीं। सभी क्षेत्रों और सभी कोणों से साहित्यिक समीक्षा में व्यवस्था एवं क्रमबद्धता की अपेक्षा की जा रही है। इस दिशा में पहली आवश्यकता तो सामान्य मानों के निर्धारण की है जिससे समीक्षा की दिशा सुस्पष्ट और विशृंखल न हो।

बुद्धि का भरोसा न करके साहित्य-निर्माण का सारा बोझ मन की उमंग पर डाल दें तो आलोचना का दायित्व काफ़ी कम हो सकता है। मन की उमंग आलोचकों में भी होती है, लेकिन इस उमंग को बुद्धि का विषय स्वीकार्य ही नहीं। तर्क-बुद्धि के विपरीत समालोचना की परिकल्पना नहीं की जा सकती। उसका आधार मन की उमंग भी है, एवं तर्क और बुद्धि भी। जिस प्रकार साहित्य में हम बुद्धि और हृदय के समन्वय की अपेक्षा करते हैं उसी प्रकार की अपेक्षा हम आलोचना में भी करते हैं। वास्तव में देश और समाज के संघर्ष के संदर्भ में ही हमें साहित्य की आलोचना करना है।

साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी क्या हो, आलोचक को किन-किन रचना-तत्त्वों एवं साहित्यिक उपकरणों से अवगत होना चाहिए, युग-विशेष की अप्रतिहत गति को हृदयंगम रखते हुए किस प्रकार साहित्य-समष्टि के व्यष्टि-रूप सौन्दर्य-तत्त्व में अपनी निरपेक्ष बुद्धि को केन्द्रित कर आलोच्य सामग्री को परिपुष्ट एवं गरिमान्वित किया जाये तथा वातावरण एवं विशेष परिस्थितियों में धिरा होकर भी कैसे ऊपर उठकर रचनाओं में उन तत्त्वों का संकलन किया जाये जो साहित्य के सनातन तथ्यों का प्रतिपादन कर सकें—ये ऐसे प्रश्न और समस्याएँ हैं जिन पर नगेन्द्र ने स्वतंत्र रूप से विचार कर, हमारे सम्मुख उन्हें एक सुलभे हुए रूप में रखा। आलोचक नगेन्द्र की रचनात्मक सक्रिय प्रतिभा स्रष्टा के अन्तर में सृजन के समय उठे सर्जनात्मक शक्ति के उद्वेग का दिग्दर्शन कराने में समर्थ है। वे युग की साहित्यिक समस्याओं का सौन्दर्यात्मक और मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करते हैं। नगेन्द्र समन्वयवादी आलोचक हैं। उन्होंने पूर्व-पश्चिम, अर्वाचीन-प्राचीन,

सभी के बीच सम्बन्ध की एक पतली रेखा खींच कर उनके पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट कर उनके युगीन महत्त्व और औचित्य का प्रतिपादन किया। 'रीतिकाल' हमेशा से उपेक्षित रहा है, परन्तु नगेन्द्र की विवेचना के पश्चात् उसका विलुप्त महत्त्व प्रकाश में आ जाता है और काव्यानन्द प्रदान कर हमें आन्दोलित करने में समर्थ है। चेखव ने कहा : "आलोचक तो घोड़े की वह डाँस है जो डंक मारकर उसे हल चलाने से रोकती है।" एस्किस्कस का यह मत, 'याद रखो समालोचक के लिए कभी किसी ने भी स्मारक खड़ा नहीं किया,' नगेन्द्र के विषय में चरितार्थ नहीं होता। उनकी समालोचनाएँ उनके महत्त्व और साहित्यिक योगदान के पद-चिह्न हैं। आगे हम नगेन्द्र को हिन्दी के कतिपय समालोचकों के संदर्भ में रखकर उनके योगदान और महत्त्व की चर्चा कर, उनकी सम्प्राप्तियों और निष्पत्तियों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास करेंगे।

डा० रामरतन भटनागर ने उचित ही कहा है कि "बीसवीं शताब्दी में आलोचना के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। इसका कारण यह है कि इस युग में साहित्य-सृजन के साथ तर्क-प्रतिभा पूर्ण रूप से जागरूक थी। साहित्य के प्राचीन मान नये युग की रचनाओं को तोलने में असमर्थ थे। नयी कृतियाँ नये पश्चिमी प्रभावों को लेकर उपस्थित हुईं अथवा उनमें बदले हुए युग की मनोवृत्ति प्रकाशित हुई। फलतः उनके लिए प्राचीन मान अनुपयुक्त थे। इस क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी सबसे पहले आये। उन्होंने रीतिकालीन साहित्य-मान्यताओं का विरोध किया और काव्य के लिए नयी कसौटी तैयार की। वास्तव में यह कसौटी तो कार्य के लिए ही थी परन्तु उसमें साहित्य-दृष्टि इतनी भिन्न और नवीन थी कि सम्पूर्ण साहित्य-क्षेत्र में उसकी उपादेयता स्वीकार कर ली गई। समालोचना की तर्क-पद्धति और भाषा-शैली के निर्माण में भी उनका योग महत्त्वपूर्ण है।" उनकी दृष्टि को हम (डा० भटनागर के साथ) "नैतिक, आदर्शात्मक एवं सुधारवादी कह सकते हैं। वह विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि नहीं है, परन्तु यह अवश्य है कि उसी के माध्यम से हमारी साहित्यिक चेतना में साहित्य और जीवन समन्वित कर दिया गया। कहना अत्युक्ति नहीं कि नवीन धारा के इतिवृत्तात्मक, उपदेशप्रधान, निरलंकृत काव्य को इस आलोचना से बड़ा बल मिला। यह स्पष्ट है कि द्विवेदीजी की दृष्टि बहिर्मुखी और समाजोन्मुखी थी और वे अंतःवृत्तियों पर आश्रित भावना-प्रधान छायावादी काव्य को ठीक-ठीक नहीं परख सके। यह कार्य पहली बार डा० नगेन्द्र ने किया।"^१

डा० रामरतन भटनागर ने कहा, "हिन्दी में आलोचना और काव्य-चर्चा के

१. डा० रामरतन भटनागर : हिन्दी साहित्य की कहानी, द्वितीय संस्करण, १९५७, पृष्ठ २३०

विषय भारतेन्दु से पूर्व के युगों में बहुत थोड़े थे; जो थे वे संस्कृत आचार्यों का पिष्टपेषण या निरर्थक ऊहापोह था।^१ उनके मत से नयी समीक्षा का जन्म भारतेन्दु-युग में हुआ और उनके 'नाटक' ग्रन्थ को नयी समीक्षा का शिलारम्भ कह सकते हैं। हमें डा० भटनागर का मत स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। मेरे मत से तो भारतेन्दुजी के इस ग्रन्थ में किसी नवीनता के दर्शन नहीं होते, सिवाय इसके कि नाटक के तत्त्वों की विवेचना करते समय पश्चिमी सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया गया, और समीक्षकों द्वारा युगानुरूप स्वतन्त्रता अपेक्षित ही है। सम्पूर्ण उन्नीसवीं शती वास्तव में सैद्धांतिक समीक्षा में शून्य है। कुछ आलोचना और परिचयात्मक समालोचना हमें गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की 'समालोचना' (१८९६) में अम्बिकादत्त व्यास की 'गद्य-काव्य-मीमांसा' (१८९७) में, और छन्दशास्त्र में जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के 'छन्दप्रभाकर' (१९१४) में प्राप्त होती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और नगेन्द्र

आ० रामचन्द्र शुक्ल के रूप में हिन्दी साहित्य को एक सबल शास्त्रीय आलोचक प्राप्त हुआ। आचार्य शुक्ल से पूर्व आलोचकों में एक ही प्रकार की आलोचना का प्रयास दिखायी पड़ता है। उस समय आलोचना का पर्याप्त विकास हुआ और साहित्य के इस क्षेत्र में जितने व्यक्ति प्रविष्ट हुए, उतने अन्य किसी क्षेत्र में नहीं आये। आलोचना-पद्धति एवं आलोचना के सिद्धान्तों के व्यवस्थित अध्ययन की प्रवृत्ति तो कम आलोचकों में परिलक्षित हुई; अधिकतर आलोचना तो अव्यवस्थित क्रम में व्यक्तिगत, पारस्परिक द्वेष की अभिव्यक्ति-मात्र लगती है। हिन्दी में समालोचना भारतेन्दु के समकालीन बदरीनारायण 'प्रेमघन' के समय से प्रारम्भ होती है। श्रीनिवासदास के 'संयोगिता-स्वयंवर' और महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'कालिदास की निरंकुशता', 'विक्रमांकदेवचरित' और 'नैषध-चरित्र-चर्चा' में युग-प्रेरणा से प्रेरित दिखायी पड़ती है। हिन्दी कवियों की सर्वप्रथम आलोचना मिश्रबन्धुओं के 'हिन्दी-नवरत्न' में देखने को मिलती है। पद्मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक आलोचना के नाम पर कविवर बिहारी के ऊपर एक बड़ा भारी ग्रन्थ तैयार किया है। वास्तव में यह आलोचना आभ्यन्तरिक वृत्तियों पर आश्रित न होकर बाह्य तथ्यों पर आधारित है। कृष्णविहारी मिश्र की 'देव और बिहारी' तथा 'मतिराम' पर लिखी समीक्षा-पुस्तकें कवि की भीतरी वृत्तियों की उपेक्षा नहीं

१. डा० रामरतन भटनागर : हिन्दी-साहित्य की कहानी, द्वितीय संस्करण १९५७, पृष्ठ २२६

करतीं और इस सन्दर्भ में वे उत्कृष्ट हैं। इस युग के सर्वश्रेष्ठ समालोचक काशी के रामचन्द्र शुक्ल आये।

‘English Critical Essay’ के बीसवीं शताब्दी के संस्करण (20th Century Volume) की भूमिका में फिलिप जोन्स ने मैथ्यू आर्नल्ड को पुरानी और नयी समालोचना का संधि-स्थल माना है। वास्तव में १९वीं शताब्दी की अंग्रेजी समालोचना करने पर एक बात स्पष्ट हो जाती है कि आर्नल्ड के पूर्व समीक्षा-क्षेत्र में विशृंखलता थी। आर्नल्ड ही एक ऐसे समालोचक हैं जिन्होंने पुरानी समीक्षा-पद्धति के उत्कृष्ट तत्त्वों और नयी समीक्षा-पद्धति की उपलब्धियों दोनों को स्वीकार कर, समीक्षा-सम्बन्धी एक नवीन पंथ का मार्ग प्रशस्त किया। आर्नल्ड ने काव्य को ‘जीवन की आलोचना’ प्रतिपादित कर, जीवन के महत्त्व को स्वीकार किया।

अंग्रेजी-समीक्षा के समान ही आचार्य शुक्ल के पूर्व हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में व्यवस्था का अभाव था। शुक्लजी का आलोचना-साहित्य को समृद्ध बनाने का प्रयास प्रारम्भ से ही स्तुत्य रहा। उन्होंने रस और अलंकारों के विवेचन को मनो-वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधृत कर दिया। यह वस्तुतः हिन्दी में अपेक्षाकृत नवीन दिशा-दृष्टि का आविर्भाव था, जो आलोचना को शुक्लजी द्वारा प्राप्त हुआ। समीक्षा-पद्धति शुक्लजी की भारतीय ही रही। नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि शुक्लजी ने ‘रस और अलंकारादि को लक्षण-ग्रन्थों वाले निःशक्त रूप में न रहने देकर उन्हें नवीन प्राणों से अनुप्राणित कर दिया।’ शुक्लजी ने उच्चतर जीवन-सौंदर्य का पर्याय बनाकर ‘रस और अलंकार-पद्धति’ का व्यवहार किया। सूर, तुलसी और जायसी की विवेचनात्मक समीक्षा में शुक्लजी अपने समय से काफ़ी आगे निकल गए। जिस आदर्शवादी दृष्टिकोण को शुक्लजी ने स्वीकार किया था, उसे व्यावहारिकता प्रदान करने के लिए आदर्शात्मक कवियों का भी चयन कर उन्होंने अपनी मर्यादावादिता की रक्षा की। सूर, तुलसी और जायसी के उत्कृष्ट काव्य-सौन्दर्य के साथ ‘रस और अलंकार’ का विन्यास करके ‘रस-पद्धति’ को उन्होंने अपूर्व गौरव प्रदान किया।

शचीरानी गुटू ने रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड के मध्य साम्य के तत्त्वों को इस प्रकार व्यक्त किया है। दोनों में,

एक गहरी मौलिक दृष्टि,
सशक्त चिंतन और आदर्शनिष्ठ नीतिवाद,
निर्णय की क्षमता,
ईषत् आक्रोश,
आतंकजन्य साहसिकता,

सैद्धान्तिक मतवादों और वैयक्तिक अभिरूचियों का अतिशय आग्रह ।

मिडल्टन मरे ने कहा “जिस प्रकार कला-जीवन की चेतना है, उसी प्रकार समालोचना भी कला को अनुप्राणित करती है ।” बात ठीक है । इसी प्रकार कहीं-कहीं शचीरानी गुटू की कलम भी कमाल करती है । देखिये न, वे कहती हैं, “कला संवेदन और सहज बोध से साध्य है, आलोचना गहरी विश्लेषण-बुद्धि और तर्क-क्षमता से; लेकिन निरा तर्क और बौद्धिकता ही प्रयोजनीय नहीं, उसमें आलोचक की संवेदना का संस्पर्श तो होना चाहिए, अन्यथा विचारों और अनुभूतियों को प्रेक्ष्य रूप कैसे दिया जा सकता है !”

आचार्य शुक्ल ने साहित्यिक द्वन्द्वावस्था और संकुचित परिस्थितियों को परख कर युगानुरूप साहित्य-सर्जन किया था और अपनी धारणाओं की दृढ़ नींव पर स्थिर होकर विचित्र साहस और विद्रोहात्मक शक्ति का परिचय देते हुए स्वस्थ समीक्षा से अपना सक्रिय सम्पर्क स्थापित किया । तत्कालीन लेखकों की पक्षपात-पूर्ण प्रवृत्ति के कारण और समुचित पथ-प्रदर्शन के अभाव में उन दिनों हमारा आलोचना-साहित्य सर्वथा एकांगी और उपेक्षित था । आचार्य शुक्ल का समालोचना से क्या सम्बन्ध था, यह उन्हीं से सुनिये : “समालोचना के सम्बन्ध में हमें इतना ही कहना है कि इधर शुद्ध समालोचनाओं का अभाव और भावात्मक समालोचनाओं का प्राचुर्य है जिनमें कवि की विशेषताएँ हमारे सामने उतनी नहीं आती जितनी आलोचकों की अपनी अलंकृत छटा ।” शुक्लजी ने इन शतरंजी चालों से पृथक् हट कर चतुर्दिक वातावरण पर व्यापक दृष्टिपात करने के पश्चात् समीक्षा के मूलभूत तत्त्वों को पृथक्-पृथक् स्पर्श किया । शुक्लजी के विचार लोक-भावना पर आधृत थे । उनके आलोचना-सम्बन्धी ग्रन्थों में उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है । डा० रामकुमार वर्मा का अभिमत है : “‘हिन्दी-साहित्य के इतिहास’ में हमें इतिहास के साथ समालोचना और आधुनिक दृष्टिकोण से कवियों के मूल्यांकन का प्रयास मिलता है ।” वास्तव में जीवन की आलोचना, कवि का सन्देश, लेखक की अन्तर्दृष्टि और भावों की अनुभूति आदि के आधार पर कवियों और लेखकों की आलोचना का शुक्लजी के पूर्व एकांत अभाव रहा, और इस दिशा में उनका प्रयास निस्संकोच स्तुत्य कहा जा सकता है ।

बीसवीं शताब्दी में मानसिक विकास का क्रम इतना द्रुततर हो गया कि साहित्यिक से अत्यधिक जागरूक रहने की अपेक्षा की जाने लगी । अनेक क्षेत्रों में शुक्लजी का योगदान महत्त्व का है, परन्तु फिर भी उनके सिद्धान्त, उनकी आदर्श-

त्मक और मर्यादावादी दृष्टि, आज आलोचकों के बीच महत्त्व का स्थान प्राप्त करने में असमर्थ है। यद्यपि शुक्लजी ने अनेक क्षेत्रों में युगप्रवर्तनकारी कार्य किये, परन्तु आज परिवर्तित युग में उनके कार्य भी परिसीमाओं में आबद्ध दिखायी पड़ते हैं।

शुक्लजी के कार्यों के अनुरूप ही नगेन्द्र ने भी शास्त्रीय आलोचक का कार्य किया। परन्तु जो व्यवस्था, शास्त्रीयता और औचित्य हमें नगेन्द्र में प्राप्त होता है, शुक्लजी में उसका अभाव है। शुक्लजी अपने आदर्श और मर्यादा के कायल थे। जो भी उनकी इस परिसीमा में नहीं आ सका, शुक्लजी ने उसे छोड़ दिया। शुक्लजी में एक प्रकार की हठवादिता और पाक्षिक दृष्टिकोण का प्राबल्य था, जिसने उन्हें निरपेक्ष नहीं रहने दिया। अभिव्यंजनावाद शुक्लजी को 'वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान' दिखायी दिया, छायावाद और रहस्यवाद का विभेद उन्होंने शैली के आधार पर किया; साधारणीकरण के सिद्धान्त का विवेचन भी पाक्षिक और एकांगी रहा। शुक्लजी साहित्य का जातीयता से अभिन्न सम्बन्ध मानते थे और व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि को अधिक महत्त्व देते थे; जिस कारण, आगे चल कर उनका यह मत समय से पीछे छूट गया।

नगेन्द्र ने इन सबको उचित महत्त्व प्रदान करते हुए उनका समुचित विवेचन प्रस्तुत किया। वास्तव में शुक्लजी की परिसीमाएँ हैं। हिन्दी-साहित्य, पहले की अपेक्षा आज अधिक सम्बृद्धि प्राप्त कर चुका है। नगेन्द्र द्वारा प्रस्तुत रस का मनो-वैज्ञानिक आधार अधिक उचित है। उनकी तुलनात्मक समीक्षा के तत्त्व अधिक स्पष्ट और निरपेक्ष हैं। नगेन्द्र में शुक्लजी के समान मर्यादा या आदर्श के हठ का अभाव है। छायावाद के साहित्यिक आधार का समस्त श्रेय नगेन्द्र को है। साहित्यिक प्रवृत्तियों, काव्य-मतों और वादों का जैसा वैज्ञानिक और सौन्दर्यपरक विवेचन नगेन्द्र ने किया, उसका शुक्लजी में अभाव है। अंग्रेजी साहित्य के वादों, काव्य-मतों का जैसा भ्रान्तिपूर्ण परिचय शुक्लजी ने दिया, उससे उनका महत्त्व और कम हो गया। शुक्लजी संस्कृत और संस्कृत-साहित्य को ही आदर्श की परिणति मानते थे। शुक्लजी छायावाद के महत्त्व को स्वीकार करने में असमर्थ रहे, क्योंकि छायावाद शुक्लजी की समष्टिगत दृष्टि और आदर्श की अपेक्षा करता था। वक्रोक्ति को वे अधिक महत्त्व दे गए।

नगेन्द्र ने अपनी समस्त आलोचना-सम्बन्धी कृतियों में महत्त्व और औचित्य की समस्या को इस कौशल के साथ प्रस्तुत किया है कि वह उनकी एक कलात्मक विशेषता बन गई। आचार्य शुक्ल की परिसीमाओं का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कर, उन्होंने भ्रान्ति-निवारण का प्रयास किया। छायावाद के सम्बन्ध में शुक्लजी

जो भ्रांत धारणा स्थापित कर गए, उसका निदान नगेन्द्र ने किया। अभिव्यञ्जना-वाद और वक्रोक्ति के साम्य-वैषम्य की चर्चा करने के पश्चात्, नगेन्द्र उभय मतवादों में तत्कालीन परिस्थितियों के महत्त्व का प्रतिपादन कर दोनों को पृथक् कलासम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। विद्वानों के विचार करने की शैली समान हुआ करती है। ठीक है, परन्तु युगीन परिस्थितियों के प्रभाव के कारण उनके अभिमतों में, अभिव्यक्तियों में अन्तर आ जाता है। शुक्लजी इस पर विचार नहीं कर सके; नगेन्द्र ने इसी विचार-तत्त्व पर अपनी आलोचना की आधार-भित्ति खड़ी की। शुक्लजी में अंग्रेजी समीक्षा के प्रति न जाने क्यों कटुता का भाव था, न जाने क्यों इतनी सम्बृद्ध और साहित्य-परिपाटी का प्रभाव उन पर न पड़ सका, और हमेशा उन्होंने पश्चिम को, पश्चिमी साहित्य को, पश्चिमी समीक्षा को हेय दृष्टि से देखा। ठीक है पश्चिम दूध का धोया नहीं, उसकी भी अपनी परिसीमाएँ हैं; परन्तु परिसीमाओं में आबद्ध रहने मात्र से तो कोई भी साहित्य हेय और त्याज्य नहीं हो जाता। नगेन्द्र ने काव्य-शास्त्र और काव्य-सम्प्रदायों की तुलनात्मक, विश्लेषण-बद्ध समीक्षा प्रस्तुत कर, इस प्रकार की हीन भावना का शमन कर, साहित्य के कलात्मक और सौन्दर्यपरक मूल्य के उद्घाटन का प्रयास किया। यह नगेन्द्र का सबसे बड़ा योगदान है जो कदाचित् इतनी सम्पूर्णता और व्यवस्था के साथ अन्य किसी आलोचक से सम्भव नहीं हो सका।

शुक्लजी सन् १९४१ तक रहे, और छायावाद अन्तिम साँस सन् १९३६ में ही ले चुका था। परन्तु फिर भी शुक्लजी अपने मतों को परिष्कृत नहीं कर सके। मैं तो इसे व्यक्ति की कमजोरी ही मानूँगा। शुक्लजी की देन इतनी अधिक है कि हम यहाँ उसका उल्लेख, करने में असमर्थ हैं; परन्तु यदि कहीं शुक्लजी अपनी परिसीमाओं, आदर्शों, मर्यादाओं और हठवादिता से ऊपर उठकर साहित्य के कलागत एवं सौन्दर्यपरक मूल्यों के उद्घाटन का प्रयास करते, तो सच मानिये, शुक्लजी हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ आलोचक मान लिये जाते।

गुलाबराय और नगेन्द्र

गुलाबराय उन आलोचकों में से हैं जो प्रारम्भ से ही समालोचना-साहित्य को सम्बृद्ध बनाने में रत हैं। शुक्लजी ने यद्यपि रस-विवेचन का कार्य हाथ में लिया था, परन्तु साहित्य के अन्य कार्यों में वे ऐसे उलझे कि रस-विवेचन को पूर्णता प्रदान न कर सके। रसों का वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण गुलाबराय और नगेन्द्र ने ही किया। क्रम में गुलाबराय पहले आते हैं। उन्होंने पश्चिमी सिद्धान्तों के आधार पर स्थायी भावों का विवेचन भी व्यवस्थित ढंग

से किया। गुलाबरायजी के 'नवरत्न' में शास्त्रीय पद्धति का पूर्ण परिपाक और वैज्ञानिक क्रम से युक्त अच्छा विवेचन है। यद्यपि उन्होंने शास्त्रीय विषय होने के कारण शास्त्र का आधार ग्रहण किया है, परन्तु सम्पूर्ण विवेचन पश्चिमी मनो-विज्ञान का आश्रय लेकर प्रस्तुत किया है। स्थायी भावों को प्रारंभिक सहज वृत्तियों से सम्बन्धित करने का कार्य गुलाबरायजी ने किया। वास्तव में नगेन्द्र से पूर्व तक इस विषय का पूर्ण परिपाक नहीं हो सका था। नगेन्द्र ने गुलाबरायजी के कार्य को अधिक आगे तक बढ़ा कर, भावों के मनोवैज्ञानिक औचित्य पर प्रकाश डाला।

गुलाबरायजी ने शुक्लजी के साधारणीकरण के सिद्धान्त का विरोध किया। शुक्लजी ने कहा : "साधारणीकरण से तात्पर्य है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन होती है।" गुलाबरायजी का अभिमत है कि "व्यक्ति कुछ समान धर्मों की प्रतिष्ठा के ही कारण नहीं, वरन् अपने पूर्ण व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा में सहृदयों का आलम्बन बनता है।" वास्तव में साधारणीकरण में शुक्लजी ने आलम्बन की वस्तुगत सत्ता पर बल दिया। नगेन्द्र एक क़दम आगे बढ़कर कवि-कल्पना के महत्त्व को स्वीकार कर, उसे प्रस्तुत करते हैं। गुलाबरायजी ने मध्य मार्ग का अनुसरण किया है।

शुक्लजी की व्याख्यात्मक समालोचना के साथ रिचर्ड्स के मूल्यवाद का सम्बन्ध जोड़ देने के कारण, उसे एक नवीन दिशा की ओर उन्मुख करने का प्रयास गुलाबरायजी ने किया है। वास्तव में वे कला-पारखी और सौन्दर्यवादी आलोचक हैं। जहाँ भी कला और सौन्दर्य का अभाव होगा, वहाँ उसे काव्य या साहित्य की परिधि में रखने से इन्कार कर देते हैं। गुलाबरायजी समन्वय के महत्त्व का अत्यधिक प्रसार करते दिखलायी पड़ते हैं। नगेन्द्र का भी यही महत्त्व है। नगेन्द्र और गुलाबरायजी, दोनों समन्वय को जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार करते हैं और इसीलिए आलोचना में भी इसको प्रतिफलित देखने के आकांक्षी हैं। साहित्य भी 'सहित' करने की भावना का नाम है और 'सहित' करना ही समन्वय है—गुलाबरायजी का यही अभिमत है।

गुलाबरायजी उस समाज-व्यवस्था को आदर्श मानते हैं, जिसमें भेद और विशेषीकरण के साथ-साथ अधिक से अधिक समन्वय हो। यही विकसित समाज

का आदर्श है। जो काव्य इस आदर्श का पूरा करता है, वही सत्काव्य है।

इस प्रकार नगेन्द्र और गुलाबराय की समीक्षण-पद्धति सम्पूरक है। दोनों आलोचना-क्षेत्र में समन्वय के आकांक्षी हैं, दोनों व्यावहारिक आलोचना में कवि के उद्देश्य को खोजने की कोशिश करते हैं। दोनों ने पश्चिमी आलोचना के विकास-क्रम का अनुशीलन कर अपने ज्ञान को गम्भीर और प्रशस्त बना लिया है।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और नगेन्द्र

बख्शीजी का आधिर्भाव हिन्दी समालोचना-साहित्य में उस समय होता है जब आचार्य शुक्ल साहित्य से थक कर आराम कर रहे थे, और कभी-कभी छायावाद पर भुंभला लिया करते थे। बख्शीजी कहानी, निबन्ध और कविता के क्षेत्र में कलम आजमा कर, आलोचना-क्षेत्र में आये थे। बख्शीजी स्वयं कवि रह चुके थे, इसीलिए कवि के व्यक्तित्व के प्रति उनकी वह असहानुभूति नहीं रही जो अन्यान्य आलोचकों में पायी आती है। सेन्ट ब्यो के बाद अनेक समालोचक कलाकार को उसकी कला में नहीं, प्रत्युत उसके जीवन में खोजते हैं। इस प्रकार की समीक्षण-पद्धति का एक परिणाम तो यह हुआ कि समालोचना में मानस-विश्लेषण का प्राधान्य हो गया। पेटर के 'कला कला के लिए', और आर्नल्ड के 'कला जीवन के लिए' की उभय सीमाओं के मध्य बख्शीजी को जो सिद्धान्त मान्य है, वह है 'कवि का जीवन काव्य नहीं, किन्तु काव्य ही उसका जीवन है', इसीलिए हम कवि को काव्य से पृथक् नहीं देख सकते।' बख्शीजी ने अपना यह मत काफ़ी प्रारम्भ में व्यक्त किया था, और बाद में अनुभव तथा अध्ययन ने उस सिद्धान्त में कुछ परिवर्तन कर दिया, और वे मानने लगे : 'काव्य के अन्तर्गत जो सत्य है वह भी तब उपलब्ध होता है जब हम उस कवि के जीवन तथा तत्कालीन इतिहास के साथ तुलना करके देखें।' डा० रामकुमार वर्मा ने कहा है : "हिन्दी-साहित्य के इतिहास को आलोचनात्मक ढंग से समझाने का श्रेय श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी को है जिन्होंने संवत् १९८० में 'हिन्दी साहित्य-विमर्श' नामक १९६ पृष्ठ की पुस्तक लिखी।"

वास्तव में नगेन्द्र को भी बख्शीजी का यह परिवर्तित मत मान्य है। कवि के विवेचन में नगेन्द्र भी काव्य में कवि द्वारा अभिव्यक्त सत्य के अन्वेषण का आग्रह करते हैं, तथा वह सत्य तभी प्राप्त हो सकता है जब कि कवि को परिस्थितियों के विकास-क्रम में रखकर उसका मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाये।

१. डा० रामकुमार वर्मा : हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृतीय संस्करण, १९५४, पृष्ठ ५

साहित्य-समीक्षा-क्षेत्र में व्यक्तित्व को महत्त्व देने का आग्रह सेण्ट ब्यो ने प्रस्तुत किया, तथा सेण्ट ब्यो के मत को मोरियो गेस्टन, बेचलर्ड तथा आन्द्रे जींद का समर्थन प्राप्त है। बख्शीजी और नगेन्द्र पर भी कुछ अंशों में इसका प्रभाव पाया जाता है। बख्शी में वह अधिक उभर आया है, नगेन्द्र में प्राचीन साहित्य-समीक्षा के संस्कारों के कारण वह कुछ दब-सा गया है। परन्तु आधुनिक कवियों और काव्य-मतों के विवेचन में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण प्राधान्य पा गया है।

आधुनिक समीक्षा-प्रणाली की एक प्रवृत्ति यह भी रही है, जिसमें आलोचक कवि की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर उसके साहित्यिक स्पन्दन का अनुभव करता है। वास्तव में तो यह रोमाण्टिक काव्य और समीक्षण-पद्धति का प्रभाव ही था; परन्तु आलोचक कवि के व्यक्तित्व-अन्वेषण और विश्लेषण में इतना तल्लीन न हो जाये कि वह कथ्य को विस्मृत ही कर बैठे; क्योंकि विवेचन का वास्तविक विषय कथ्य ही है। व्यक्तित्व का विवेचन तो हम उन्हीं अंशों में करते हैं, जिनमें वह कथ्य को प्रभावित करने में समर्थ रहता है। बख्शीजी का आलोचक व्यक्तित्व इसके प्रति हमेशा सतर्क रहता है। उनमें कवि के व्यक्तित्व में तन्मय होने की प्रवृत्ति तो है, परन्तु वे कवि की सफलताओं और असफलताओं की ओर निर्देश करना नहीं भूलते। इसी प्रकार नगेन्द्र भी पन्त के विवेचन में, पन्त की उपलब्धियों तथा सफलताओं की चर्चा करने के बाद, पन्त की परिसीमाओं तथा उनके काव्य-मोड़ों का मूल्यांकन करते समय, किसी को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान नहीं करते। बख्शीजी अपने साहित्यिक आदर्शों के अनुरूप कवि को देखना चाहते हैं। 'यथार्थ कवि का दर्शन' वे तभी करते हैं जब वह अपनी अन्तर्वेदना से पीड़ित होकर पुकार उठता है। लगता है 'बिहारी' के महत्त्व को वे इसीलिए स्वीकार नहीं कर पाए, और यही कारण है कि कबीर, सूर, तुलसी तथा कालिदास के विवेचन में उनकी वृत्ति अधिक रमी; क्योंकि इनके काव्य में उन्होंने 'कवि का यथार्थ दर्शन' किया।

कवि अथवा कलाकार को इस प्रकार अपने आदर्शों और व्यक्तिगत मानदण्डों में आबद्ध कर परखना, उसका समुचित मूल्यांकन नहीं कहा जा सकता। नगेन्द्र में और बख्शीजी में यहीं अन्तर आ जाता है। हजार व्यक्तिवाद का चोगा पहन लेने पर भी बख्शी, प्राचीन परम्परावादी समीक्षण-पद्धति को तिलांजलि दे सके; नगेन्द्र ने पश्चिमी और पूर्वी सिद्धान्तों के अध्ययन के पश्चात्, कवि के ऊपर पड़े सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और दार्शनिक प्रभावों की इयत्ता पर प्रकाश डालने के पश्चात् ही कवि को, उसी के मान से आँका, जिसका औचित्य और महत्त्व स्वयं-सिद्ध है।

बख्शीजी छायावाद के महत्त्व को स्वीकार नहीं कर सके। साहित्य को जन-साधारण के निकट लाने की चिंता उन्हें प्रारम्भ से रही। उनका अपना अभिमत है: “हमारा आधुनिक साहित्य जनसाधारण से दूर होता जा रहा है, जन-साधारण के भाव और विचारधारा से हमारे साहित्य-सेवियों के भाव और चित्रण का व्यवधान क्रमशः बढ़ता जा रहा है, इसीलिए आधुनिक साहित्य जातीय भाव, आदर्श और आकांक्षा को प्रकाशित करने पर भी वास्तव में जातीय नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि जाति कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखों में ही तो सीमित नहीं है, हिन्दू जाति की वास्तविक दशा जानने के लिए पर्णकुटीर में वास करने वाले अशिक्षित किसानों, जुलाहों, मजदूरों आदि के अभावों, आशाओं और आकांक्षाओं को जानना होगा।” बख्शीजी कला की उपयोगितावादी नीति के पक्षपाती हैं। वे ध्येयवादी हैं। विश्व के किसी भी साहित्य पर, जहाँ साहित्यकार का हृदय बोलता है, अपने हृदय के कोष को रिक्त कर देने के लिए वे तैयार हैं। इसके विपरीत नगेन्द्र युग की समस्त साहित्यधारा का विश्लेषण कर उनका मूल्यांकन करने के पक्षपाती हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी और नगेन्द्र

द्विवेदीजी प्रारम्भ से ही हिन्दी साहित्य की चिन्ता-धारा के मूल उत्स के उद्घाटन और महत्त्व के प्रतिपादन में लगे रहे। सम्प्रदायों, वादों, काव्यमतों और साहित्यिक व्यक्तित्वों के ऐतिहासिक पक्ष पर उन्होंने इतना अन्वेषण किया कि वे स्वतः ऐतिहासिक व्यक्ति बन गए। आचार्य शुक्ल की परिसीमाओं में आबद्ध साहित्य को द्विवेदीजी ने स्वस्थ वातावरण में प्रविष्ट करा दिया। द्विवेदी जी की समीक्षा-पद्धति तथा उसके मान ‘सूर-साहित्य’, ‘हिन्दी साहित्य की भूमिका’, ‘कबीर’, ‘विचार-वितर्क’, ‘अशोक के फूल’, ‘हिन्दी-साहित्य’, ‘हिन्दी साहित्य का आदिकाल’, ‘मध्यकालीन धर्म-साधना’—में बिखरे पड़े हैं। डा० रामकुमार वर्मा का अभिमत है कि “हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ‘हिन्दी-साहित्य की भूमिका’ में हिन्दी साहित्य को अखिल भारतीय साहित्य से सम्बद्ध कर देने की चेष्टा की है। पुस्तक अपने दृष्टिकोण में अत्यन्त मौलिक है। इसमें विद्वान् लेखक ने अपने विस्तृत अध्ययन और गम्भीर पांडित्य का पूर्ण परिचय दिया है। साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिए जिस अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता हुआ करती है, वही अन्तर्दृष्टि हमें पुस्तक के प्रत्येक प्रकरण में प्राप्त होती है।”^१ द्विवेदीजी का

१. सरस्वती, भाग २६, पृष्ठ ३६८

२. डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, तृतीय संस्करण, १९५४, पृष्ठ ११

आविर्भाव उस समय हुआ था, जब पुरातन समीक्षा-पद्धति के टूटने पर नवीन समीक्षा-पद्धति का निर्माण किया जा रहा था। समीक्षा के क्षेत्र में साहित्यकार की 'समानुभूति' की उपलब्धि अथवा उसके प्रति 'सहानुभूति' की चर्चा का वेग स्वच्छंदवादी युग में अधिक था और कुछ समीक्षकों ने तो कवियों की दिनचर्या तक की छानबीन की और उसी परिप्रेक्ष्य में उसके काव्य को रखकर समीक्षा की। आज सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर समीक्षा आधृत है, और इस भूमिका को तैयार कर 'समानुभूति वा सहानुभूतिपूर्वक' समीक्षा की जाती है। 'वाद' या प्रवृत्ति को विकास के क्रम में रख कर, उन पर युग-प्रवृत्तियों के प्रभाव को दिखाया जाता है। द्विवेदीजी 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' पर नहीं लिख सके, कारण कि वे साहित्य की अधिक सुस्पष्ट भूमिका तैयार करना चाहते थे। आलोचना में उन्होंने प्रभाव को, उसके महत्त्व को ग्रहण किया; प्रभावित की वे उपेक्षा कर गए। द्विवेदीजी सांस्कृतिक आलोचक अधिक हैं, वे विश्व-साहित्य को विकास-क्रम में आबद्ध कर रखना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में भारतीय-अभारतीय, आध्यात्मिक-भौतिक के भेद अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं। उनकी दृष्टि मंगल पर रहा करती है। द्विवेदीजी की समीक्षा का मूल मान मनुष्य है। उन्होंने स्वतः स्वीकार किया है कि "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का आदी हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता, परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजो-दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"^१ द्विवेदीजी साहित्य पर विचार करते समय साहित्येतर विभिन्न विषयों के बारे में भी अपनी मौलिक गवेषणा और धारणा व्यक्त करते चलते हैं। उन्होंने यत्र-तत्र साहित्य तथा भाषा-सम्बन्धी विभिन्न विषयों पर विचार प्रकट किये हैं। इन पर विचार करते समय हमें उनकी समीक्षा के मूल मान तथा आधार और साथ ही उनके सांस्कृतिक व्यक्तित्व की झलक मिलती है। द्विवेदीजी के लिए मनुष्य ही सबसे बड़ा तत्त्व है। उनका कथन है कि "साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतः अनादि काल-प्रवाह में निरन्तर प्रवहमान जीवित मानव-समाज की ही विकास-कथा है। ग्रंथ और ग्रंथकार, कवि और काव्य, सम्प्रदाय और उनके आचार्य, उस परम शक्तिशाली प्राण-धारा की ओर सिर्फ इशारा भर करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं; मुख्य है मनुष्य। जो प्राण-

धारा नाना अनुकूल-प्रतिकूल अवस्थाओं से बहती हुई हमारे भीतर प्रवाहित हो रही है उसको समझने के लिए ही हम साहित्य का इतिहास पढ़ते हैं।”

अलंकारों के विवेचन में अलंकारों को वे रस-बोध में सहायक मानते हैं। नगेन्द्र ने कहा कि काव्य में केवल शब्द और अर्थ हुआ करते हैं। अलंकार, दोनों अथवा एक के सौंदर्य की परिवृद्धि कर, रस-बोध में सहायक होते हैं। द्विवेदीजी रचयिता हैं, गवेषक हैं। इन सबका उनके आलोचक व्यवित्तव पर काफी प्रभाव पड़ा। अध्ययन उनका गम्भीर और प्रशस्त है, और इस कारण उनकी आलोचना-पद्धति सहज ही तुलनात्मक हो जाती है। द्विवेदीजी का आलोचनात्मक साहित्य प्रसार अधिक पा गया है, परन्तु नगेन्द्र के समान काव्यशास्त्र के गम्भीर अध्ययन की ओर उनकी अभिरुचि प्रारम्भ से ही नहीं रही। आलोचना-क्षेत्र उनका साहित्यिक विकास से सम्बद्ध ही रहा।

नन्ददुलारे वाजपेयी और नगेन्द्र

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और नगेन्द्र का आलोचनात्मक महत्त्व परस्पर सम्पूरक है। जिस गम्भीर और प्रशस्त अध्ययन की पृष्ठभूमि पर वाजपेयीजी की समालोचनाएँ अवस्थित हैं, उनका महत्त्व उस समय और अधिक बढ़ जाता है जब नगेन्द्र में भी हम उसी विषय का उच्च कोटि का शास्त्रीय विवेचन पाते हैं। वाजपेयीजी का पश्चिमी आलोचना का अध्ययन तो पर्याप्त गम्भीर और प्रशस्त है, परन्तु संस्कृत साहित्य-सम्बन्धी उनका ज्ञान, उनके पश्चिमी ज्ञान की परिसीमा तक कम ही पहुँचता दिखायी देता है। हाँ, रस-सम्बन्धी उनके मनो-वैज्ञानिक विवेचन का सामयिक महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है। नगेन्द्र का संस्कृत-साहित्य-सम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त ही उच्च कोटि का और वैज्ञानिक आधार पर अवस्थित है। संस्कृत-समीक्षा के सन्दर्भ में नगेन्द्र ने जिस वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया, वह उनके महत्त्व को बहुत बढ़ा देता है। अंग्रेजी साहित्य और समीक्षा का ज्ञान तो उनका स्वयं-सिद्ध है क्योंकि वे अंग्रेजी के स्नातक भी हैं; साथ ही हिन्दी-साहित्य के दीर्घकालीन अनुशीलन ने उनमें एक अभिनव स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष प्रतिभा का उद्भव कर दिया है। मुझे कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि नगेन्द्र के व्यक्तित्व जैसी विशेषताओं से समन्वित व्यक्तित्व अन्यत्र पाना कठिन है। नगेन्द्र एक जाग्रत कलाकार हैं। उन्हें समय की और सामयिक विश्व-साहित्य एवं आलोचना की गतिविधियों का अच्छा परिचय प्राप्त है। नगेन्द्र के योगदान से हिन्दी-साहित्य को जो सम्बृद्धि प्राप्त हुई, वह वर्णनातीत है।

वाजपेयीजी के विषय में डा० रामकुमार वर्मा ने ठीक ही कहा है, “‘हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी’ में लेखक ने कवि की अन्तर्वृत्तियों का अध्ययन, कवि का व्यक्तित्व जीवन और सृजन की लघुता-विशालता, रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्यांगों का अध्ययन, समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन, कवि की जीवनी तथा रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन, कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों का अध्ययन तथा काव्य के जीवन-सम्बन्धी सामंजस्य और सन्देश का अध्ययन प्रस्तुत किया है। संक्षेप में, साहित्य के (और आलोचना के भी) मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करना इन निबन्धों का उद्देश्य रहा है।”

आचार्य वाजपेयी ने ‘आधुनिक साहित्य’ में सामयिक गतिविधि का परिचय देने के साथ ही साथ उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन भी किया है। ‘नया साहित्य, नये प्रश्न’ को आधुनिक समीक्षा की बाइबिल कह दिया जाये तो अनुचित नहीं होगा। जितने विभिन्न दृष्टिकोणों से, साहित्य की विभिन्न धाराओं का प्रतिनिधित्व करनेवाले व्यक्तियों का, उनके महत्त्व का, साहित्य को उनके योगदान का, उनकी परिसीमाओं, स्थापनाओं और निष्पत्तियों का विवेचन वाजपेयीजी ने किया है, वह उनकी प्रतिभा का द्योतक है। ‘सूरदास’ पर लिखकर वाजपेयीजी ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वे समान गाम्भीर्य से मध्यकालीन साहित्य को भी आधुनिक दृष्टि से परख सकते हैं। प्रेमचन्द पर प्रकाशित आज तक की समस्त पुस्तकों में ‘प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व’ अपने ढंग की अकेली और निराली पुस्तक है। अभिव्यंजनावाद को हिन्दी-साहित्य में अवतरित कर, उसके मूल्यांकन, औचित्य और महत्त्व का वाजपेयीजी द्वारा प्रतिपादन उनकी प्रतिभा और गम्भीर अध्ययन-वृत्ति का परिचायक है।

आचार्य वाजपेयी के ‘अभिव्यंजनावाद’-सम्बन्धी विवेचन में दिशाविभ्रम है, वाद-सम्बन्धी हठ का आग्रह है, स्कॉट जेम्स की विश्लेषण-शैली का अभाव है। व्यक्ति की परिसीमाएँ हुआ करती हैं और इसी सिद्धान्त के अनुसार आचार्य वाजपेयी की भी कुछ परिसीमाएँ हैं। स्कॉट जेम्स ने क्राचे की त्रुटियों की ओर संकेत करते समय स्पष्ट संकेत किया है कि क्राचे दो बातों को भूल गया। एक तो सौन्दर्य और दूसरी संप्रेषणीयता। काव्य और कलाओं में सौन्दर्य हुआ करता है, तथा इसी सौन्दर्य को वे भावात्मक रूप में पाठकों तक प्रेषित करते हैं। यदि

वाजपेयीजी ने स्कॉट जेम्स के इस मत का प्रतिपादन कर स्पष्टीकरण कर दिया होता तो उन्हें क्रोचे की उन परिसीमाओं के काल्पनिक प्रश्नोत्तर के अंक में न फँसना पड़ता। परन्तु एक बात अवश्य है, आचार्य शुक्ल के समय से चले आ रहे, अभिव्यंजनावाद-सम्बन्धी भ्रान्त मत को स्पष्ट करने का श्रेय वाजपेयीजी को है।

छायावाद को एक दृढ़ आधार प्रदान करना वाजपेयीजी और नगेन्द्र का कार्य है। वास्तव में नगेन्द्र और वाजपेयी के पूर्व छायावाद को, उसके समर्थक के रूप में कोई भी आलोचक प्राप्त नहीं हुआ। जो आलोचना करते थे, उनमें साहित्यिक प्रतिभा का अभाव था। आचार्य वाजपेयी एक ऊँचे दर्जे की सौन्दर्य-संवेदना, सामाजिक चेतना और काव्य-विवेक से सम्पन्न हिन्दी के एक प्रमुख समीक्षक हैं। इतना ही नहीं, वे उन थोड़े-से विधायक आलोचकों में से हैं जो किसी साहित्यिक उत्थान में सतर्कतापूर्ण योग देते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्तियों, कृतियों और प्रवृत्तियों पर उपलब्ध उनकी आलोचनाओं का अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से अध्ययन करने के लिए न तो यहाँ अवकाश ही है और न यह मुझे अभीष्ट ही है। वाजपेयीजी ने साहित्य का सर्वेक्षण, सैद्धान्तिक चर्चा और व्यावहारिक आलोचनाएँ—सभी प्रकार के आलोचना-साहित्य से साहित्य को समृद्ध बनाने का प्रयास किया। वाजपेयीजी प्रगति और प्रयोगवाद के सम्बन्ध में न्याय नहीं कर सके, उसके लिए उनकी परिसीमाएँ उत्तरदायी हैं।

नगेन्द्र उन सभी स्थलों पर संयत और गम्भीर हैं जहाँ वाजपेयी धैर्य खो बैठे—प्रगतिवाद-प्रयोगवाद में, नयी कविता के सम्बन्ध में, संस्कृत काव्य-मतों के सम्बन्ध में नगेन्द्र समन्वयवादी आलोचक हैं। पश्चिमी और पूर्वी आलोचकों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के पश्चात् उनके मूल्यांकन के समय न तो उनमें हठवादिता रहती है और नहीं उनके मत एकांगी अथवा पाक्षिक ही हो पाते हैं। रीतिकाल को उन्होंने जो आधुनिक दृष्टि प्रदान की, रस-विवेचना में जो मनोवैज्ञानिकता आयी, छायावाद को उन्होंने जो दृढ़ आकार प्रदान किया, प्रगति-प्रयोगवाद और नई कविता को उन्होंने युग-चिन्तन धारा के सन्दर्भ में रखकर उसके स्पष्टीकरण और औचित्य-प्रतिपादन का जो प्रयास किया, वह उनके महत्त्व को बढ़ा देता है।

अज्ञेय और नगेन्द्र

परवर्ती समालोचकों और पूर्ववर्ती समालोचकों के विभेद के मूल में दृष्टिकोण और प्राप्य सामग्री का अन्तर सर्वप्रमुख है। अज्ञेय के व्यक्तित्व में सृजनकर्ता और आलोचक दोनों का व्यक्तित्व अन्तर्हित हो गया है। सहवर्ती देशी एवं विदेशी, प्राचीन एवं नवीन साहित्य के प्रभाव ने अज्ञेय को इतना प्रभावित किया है कि

उनका व्यक्तित्व अनेक विशेषताओं से सम्पृक्त हो गया है। प्रायः समस्त छायावादी कवियों के काव्य-सुरों में युगानुरूप परिवर्तन हुआ, परन्तु सामाजिक दायित्व एवं व्यक्तिगत-भावनाओं के अन्तःसंघर्ष ने अज्ञेय की स्वानुभूति को बिल्कुल परिवर्तित कर दिया। अपनी स्थिति को स्पष्ट करने का जैसा दायित्व छायावादी कवियों पर था, वैसा ही दायित्व प्रयोगवाद के सम्मुख भी है। फलतः अज्ञेय को स्वतः प्रयोग-शील कविता के गौरव-संस्थापन के हेतु आलोचक का कर्तव्य निबाहना पड़ रहा है।

अज्ञेय की आलोचना भी नगेन्द्र के समान पश्चिमी दर्शन एवं सहवर्ती पश्चिमी साहित्य की चेतना से अनुप्राणित है। आत्म-विश्लेषण के साथ-साथ स्वस्थापन की सूक्ष्म भावना से दोनों का व्यक्तित्व संयुक्त है। अज्ञेय में आग्रहग्रस्तता एवं साम्प्र-दायिकता की मात्रा अधिक है; इसके विपरीत, नगेन्द्र में साम्प्रदायिकता का अभाव है और साहित्य को वे सार्वयुगीन एवं सार्वजनीन चेतना से अनुप्राणित मान कर चलते हैं। अज्ञेय और नगेन्द्र दोनों समाज के उन सत्यांशों को स्वीकार करने के लिए तत्पर हैं जो कि आत्म-पीड़न और विद्वेष से विरहित हैं, तथा समाज-कल्याण और सत्साहित्य-निर्माण में जिनकी आवश्यकता है। हिन्दी-समीक्षा के विकास में इन दोनों व्यक्तियों का, जो दो भिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हुए भी सहयोगी हैं, पर्याप्त हाथ है; क्योंकि वे अनेक समीक्षकों के लिए एक प्रमुख प्रेरक शक्ति और चेतना-स्रोत के रूप में सामने आये। कभी-कभी उन्होंने भ्रान्त आलोचकों का पथ-प्रदर्शन भी किया है—विशेषकर पश्चिमी साहित्य के सम्बन्ध में। अंग्रेजी साहित्य-सम्बन्धी परिज्ञान दोनों का समस्तरीय है।

डा० नगेन्द्र के समान ही अज्ञेय भी समीक्षा के प्रतिमानों का, सब मूल्यों का स्रोत मानव के विवेक को ही स्वीकार करते हैं। यद्यपि अज्ञेय का अध्ययन विश्व-जनीन स्तर पर अधिक व्यापक हो गया है; परन्तु फिर भी, उन्होंने भारतीय आदर्शों की, नगेन्द्र के समान ही, पूर्ण प्रतिष्ठा की है। अज्ञेय, बुद्धि को—और जिस पर वह आधारित है उस अनुभव को—निरन्तर विकासशील और संस्कारशील मानते हैं। पुष्ट सौन्दर्य-बोध और पुष्ट नैतिक बोध, दोनों ही उनकी कविता में विद्यमान हैं। उनका मत है कि जैसे कृतिकार सुन्दर का स्रष्टा होकर, असुन्दर के चेष्टापूर्वक परित्याग के द्वारा सुन्दर की उपलब्धि नहीं करता; उसी तरह वह नैतिक द्रष्टा होकर सायास अनैतिक विरोध के द्वारा नैतिक को नहीं पाता। उसकी परि-पुष्ट समवेदना सहज भाव से दोनों को पाती है—इसलिए कला हमें आनन्द भी देती है। अज्ञेय की कविताओं का इससे अधिक सुस्पष्ट एवं संश्लिष्ट विवेचन और नहीं हो सकता। डा० नगेन्द्र ने भी कहा है कि आज का समालोचक इस बात को

(सौन्दर्य-बोध और नैतिक बोध) नाना वादों के आवरण में छिपा सकता है, पर इसे अमान्य नहीं कर सकता ।

डा० देवराज और नगेन्द्र

डा० देवराज ने अंग्रेजी साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है । अज्ञेय तथा नगेन्द्र को छोड़कर अन्य समकालीन साहित्यिकों का अंग्रेजी तथा अन्य सहवर्ती साहित्य का परिज्ञान डा० देवराज की सीमा तक कम ही पहुँचता है । डा० देवराज दर्शन के प्रोफेसर हैं और इसीलिए दार्शनिक चिन्तन एक विशेष अनुपात में उनके व्यक्तित्व में समाया हुआ है । साहित्य को दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि पर आधृत कर चिन्तन-शैली की व्यवस्था करना डा० देवराज और डा० नगेन्द्र में समान रूप से पाया जाता है । आधुनिक साहित्य के अभिनव छायावादी व्याख्याताओं के रूप में हमारे सम्मुख केवल दो ही व्यक्तियों के नाम आते हैं— डा० देवराज और डा० नगेन्द्र । डा० नगेन्द्र में पाश्चात्य एवं भारतीय, दोनों समीक्षा-दृष्टियों को गंभीरता से समझने की और उसके उत्स-निरूपण की क्षमता है एवं दोनों दृष्टियों के समन्वय से यथार्थ तत्त्व को ग्रहण करने की पर्याप्त शक्ति है । डा० देवराज में मौलिक प्रश्नों को नये रूप में तर्कपूर्ण ढंग से उठाने की अपूर्व क्षमता है । यह उनकी दार्शनिक वृत्ति का परिणाम है । प्रयोगवादी काव्य के शास्त्रीय आधार पर डा० नगेन्द्र ने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनकी उपेक्षा प्रयोगवादियों द्वारा भी संभव नहीं । नगेन्द्र के समान डा० देवराज ने भी मूल्यांकन की समस्या को नये सिरे से उठाने का प्रयत्न किया, और मुझे तो यहाँ दोनों पर इलियट का प्रभाव परिलक्षित होता है । विचारकों में ल्यूकाँक्स, शेक्सपियर, कालिदास, सूर और रवीन्द्र का उल्लेख डा० देवराज की बहुज्ञता को प्रकाशित करता है और इस क्षेत्र में भी वे डा० नगेन्द्र के साथ हैं । 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' डा० नगेन्द्र के 'पैटर्न' पर सैद्धान्तिक समीक्षा का स्वरूप प्रकट करती हैं ।

डा० रामविलास और नगेन्द्र

डा० जगदीशगुप्त का मत है कि "डा० रामविलास शर्मा मार्क्सवादी साहित्यिक सिद्धान्तों को सबसे अधिक समझने और बिल्कुल सही घटित करने के सबसे बड़े दावेदार हैं; परन्तु जितनी राग-द्वेष-निरपेक्ष दृष्टि वस्तुवादी समीक्षा में अनिवार्य रूप से आवश्यक है, वह उनमें नहीं दीखती ।" डा० गुप्त के मत में पूर्ण सत्य तो नहीं, सत्यांश अवश्य है; परन्तु यह शर्माजी का दोष न होकर, मार्क्सवादी

विचारधारा का दोष है जो व्यक्ति को इस प्रकार सोचने के लिए बाध्य कर देती है। जहाँ तक प्रगतिवादी आलोचना के औचित्य एवं प्रगतिवादी साहित्य के आधार का प्रश्न है, डा० शर्मा और डा० नगेन्द्र के मतों में साम्य है। दोनों वर्ग-संघर्ष और वर्ग-चेतना को प्रगतिवाद का उत्स निरूपित करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि नगेन्द्र फ्रायडीय 'अहं' को यहाँ भी नहीं छोड़ते। कहा जाता है कि शर्माजी ने प्रत्यालोचना और आत्म-विश्लेषण के रूप में जो विचार प्रकट किये हैं उनमें अस्थिरता, अन्तर्विरोध तथा क्षुब्धता स्पष्ट झलकती है। ऐसा कहने वालों से मेरा अनुरोध है कि वे 'नई समीक्षा' का पारायण करें और अपने मन्तव्य को दुरुस्त कर लें। नगेन्द्र का कथन वास्तव में सत्य है कि निबन्धों में विषय-वस्तु को अपेक्षाकृत अधिक तर्कसंगत एवं स्वतन्त्र दृष्टि से देखने का प्रयास किया जाता है, और यही डा० शर्मा में पाया जाता है। यूरोपीय दर्शन और साहित्यिक तत्त्व-चिन्तन पर आस्था, डा० शर्मा और डा० नगेन्द्र, दोनों में, एक-सी मात्रा में प्राप्य है। डा० नगेन्द्र प्रत्येक स्थल में अधिक [सुसंस्कृत और संयत रहे हैं, डा० शर्मा पूरे मार्क्स-वादी बन गए और साहित्य में संयुक्त मोर्चा के स्थान पर जीवन में और समाज में संयुक्त मोर्चा की बात करने लगे।

अष्टम उन्मेष

डा० नगेन्द्र का हिन्दी-साहित्य को योगदान

डा० नगेन्द्र का योगदान

नगेन्द्र का आविर्भाव हिन्दी-साहित्य के ऐसे काल में हुआ जबकि छाया-वाद अन्तिम निःश्वास भर रहा था और प्रगति का स्वर प्रखर हो चला था। द्वितीय महासमर की पूर्ववर्ती परिस्थितियों ने समाज के जीवन में एक विशेष प्रकार का शैथिल्य और पुरुषार्थहीनता का भाव भर दिया था। भारत में विशेष-कर स्वातन्त्र्य की लहर अधिक महत्त्व पा रही थी। राष्ट्रीय क्रान्ति और सामाजिक क्रान्ति एक दूसरे के साथ स्वर मिला रही थीं। साहित्य-सृजन कुछ मन्द अवश्य पड़ गया था, परन्तु पूर्ववर्ती साहित्य को परिपुष्ट बनाने के लिए समीक्षा-क्षेत्र में स्तुत्य कार्य हो रहा था। आचार्य शुक्ल का कार्य प्रायः समाप्त हो गया था। साहित्य का इतिहास, साहित्य की प्रवृत्तियों, चिन्ताधाराओं, स्वतन्त्र कवियों और संस्कृत काव्यशास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों आदि पर शुक्लजी की कलम चल चुकी थी। साहित्य का जो क्षेत्र अछूता छूट रहा था, उसका शुक्लजी की दृष्टि में महत्त्व न था।

द्विवेदी-युग पुनरुत्थानवादी युग था। 'प्राचीन युग की ओर लौटो'—यही उसका उद्घोष था। वास्तव में सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्र में आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द आदि ने प्राचीनता के पुनःसंस्थापन का ही प्रयास किया और यही कारण था कि संस्कृत-साहित्य का अध्ययन द्विवेदी-युग की मूल प्रवृत्ति बन गया। द्विवेदी-युग में जो सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा-साहित्य प्राप्य है, उसमें समीक्षा-मान संस्कृत-समीक्षा के ही हैं। इस युग में भक्ति और रीतिकाल के कतिपय कवियों के ग्रन्थों की टीकाओं तथा उनके संग्रहों की भूमिकाओं के रूप में ही यत्र-तत्र समीक्षा की प्रगति दिखायी पड़ती है। समीक्षा की प्रवृत्ति परिचयात्मक ही अधिक रही। तुलनात्मक समीक्षा का सूत्रपात भी इस युग में हो चुका था।

आचार्य शुक्ल के समीक्षा-कार्य प्रारम्भ करते समय उन्हें दो क्षेत्र प्राप्त हुए—एक तो साहित्य की प्रवृत्तियों का, और दूसरा स्वतन्त्र कवियों और सम्प्रदायों का। शुक्लजी ने समीक्षा को पर्याप्त समृद्ध बनाने में सफलता प्राप्त की। वास्तव में आधुनिक युग की समीक्षा को प्रौढ़ता प्रदान करने का कार्य उन्होंने ही किया। शुक्लजी ने सर्वत्र साहित्य का सरल, सुबोध और स्वाभाविक पक्ष ग्रहण न किया। उनके लिए गीति-काव्य की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य का

महत्त्व अधिक था। शुक्लजी स्वदेशी और विदेशी, प्राचीन और नवीन, संस्कृत और हिन्दी—सभी का समन्वय करते चले हैं।

शुक्लोत्तर-समीक्षा में आत्म-विश्लेषण का प्रवेश एक अभिनव कला है। ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय समालोचना-पद्धति का भी उनके पूर्व अभाव था। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रगतिशील साहित्य का प्रणेता बन गया, जिसका उन्नयन भी नवीन घटना थी। साहित्य के मूल्यांकन और समीक्षा के मान की समस्या को नये सिरे से उठाया गया और समसामयिक परिस्थितियों के आधार पर उनका समाधान प्रस्तुत किया गया। विदेशी साहित्य और काव्य-प्रवृत्तियों का अधिक गम्भीर एवं सहृदयतापूर्ण अध्ययन एवं अनुशीलन हुआ, और उसकी उपेक्षा भी कम की जाने लगी। शुक्लोत्तर-समीक्षा में एक अन्य दिशा में पर्याप्त प्रगति हुई है और वह है शोध की। यद्यपि हमने यह स्वीकार कर लिया है कि अधिकांश शोध-कार्य विशुद्ध 'खोज' है और समीक्षा से उसका सम्बन्ध नहीं है; तथापि प्राचीन एवं नवीन साहित्य के विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक प्रबन्ध भी प्रस्तुत किये गए हैं, जिनसे समीक्षा-क्षेत्र भी सम्बृद्ध हुआ है।

यूरोप में आधुनिक युग वैज्ञानिक उन्नति के साथ प्रारम्भ हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में भौतिक विज्ञान की आश्चर्यजनक उन्नति और सम्भावनाएँ देख यूरोप चकित हो गया। इसी समय औद्योगिक क्रान्ति के साथ पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म हुआ। तभी से व्यक्ति ने अपने-आप को प्रधानता देकर धर्म, दर्शन, समाज, संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में वैज्ञानिक अथवा तार्किक दृष्टि से विचार करना प्रारम्भ किया। जिस प्रकार उन्नीसवीं शती के यूरोप में बदलते हुए मूल्यों का युग प्रारम्भ हुआ था, जिसकी चरम परिणति बीसवीं शताब्दी में मूल्यगत संक्रान्ति में परिलक्षित हो रही है; उसी प्रकार यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य में और उसके समीक्षात्मक मानदण्डों में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए थे, उन सबके बीच साहित्य के समुचित आलोचनात्मक दृष्टिकोण की स्थापना के लिए वर्तमान युग आकुल हो उठा है। इसका स्पष्ट संकेत छायावादोत्तर साहित्य में और शुक्लोत्तर समीक्षा में दिखलायी पड़ रहा है।

रोमांस और रोमांटिक, मार्क्स और एंगेल्स, हाब्स और लॉक पुराने हो चुके हैं। साहित्य और समीक्षा नये मूल्यों और नयी मान्यताओं तथा नवीन परिसीमाओं में अपने-आपको बाँध रहे हैं। साहित्य केवल इंग्लैंड की ओर न देखकर ब्रिटेन, रेम्बो, मेलार्म प्रभृति के प्रतीकवादी फ्रैंच काव्य की शुद्ध अनुभूति, कल्पना और विचार के चरम संवेदक क्षणों में अपने-आप को केन्द्रित करने के प्रयास में भी सफलता प्राप्त कर रहा है। डा० नगेन्द्र ने प्रयोगवादी तथा नई कविता के

शास्त्रीय आधार के विवेचन में इसका समुचित विवेचन प्रस्तुत किया है। डा० नगेन्द्र का कहना उचित है कि चाहे बेअरलेन की निरुद्देश्य अनुभूति को कल्पना-बिम्बों में ग्रहण करने की बात हो, या रेम्बो द्वारा सागर की लहर के समान आकस्मिक अनुभूति को कल्पना-संकेतों में ग्रहण करने का प्रश्न हो, अथवा मेलामों के वैयक्तिक और मानसिक तीव्र संवेदनाओं के ध्वन्यात्मक चित्रों का प्रश्न हो, इतना निश्चित है कि प्रतीकवाद के मूल में युग का व्यक्तिवाद तथा तत्कालीन समस्या से पलायन की मनोवृत्ति परिलक्षित होती है।

इतना अवश्य निश्चित है, और वास्तव में ठीक भी है, कि १९३६ के बाद के साहित्य और समीक्षा को निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र रखकर नहीं समझा जा सकता; उसे देशी एवं विदेशी सहवर्ती साहित्य एवं आलोचना-शैलियों के सन्दर्भ में रखकर परखने और मूल्यांकन करने का प्रयास करना होगा। आज चर्चा करते समय किर्कगार्ड, हेडगर, सार्त्र, इलियट एवं पाउंड के साहित्य में दुरुहता एवं उलझाव की बात बड़ा तूल देकर कही जाती है। इस सम्बन्ध में मेरा केवल इतना निवेदन है कि जैसे आज का जीवन अपने मूल्यों की दिशा में अनिश्चित, अस्पष्ट और उलझा हुआ है, वैसे ही आज के साहित्य और समीक्षा की मान्यताएँ भी अनिश्चित हैं।

इस प्रकार के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संक्रान्ति-काल में डा० नगेन्द्र ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। इस परिवर्तित साहित्यिक वातावरण, एवं परिवर्तित जीवन-मूल्यों और साहित्य-मूल्यों तथा मान्यताओं के मध्य तारतम्य न बैठ पाने के कारण कतिपय पाठक एवं साहित्यिक नगेन्द्र के महत्त्व एवं योगदान को नहीं समझ पाये। यद्यपि आज का युग घोर व्यक्तिवादी युग है, परन्तु व्यक्तिवाद की पृष्ठभूमि में साहित्यकार का सामाजिक दायित्व भी अन्तर्निहित रहता है। चिन्तन के क्षणों में व्यक्तिवाद चिरन्तन मानव-इतिहास से असम्बद्ध नहीं रह सकता। यही कारण है कि सांस्कृतिक उपलब्धियों का महत्त्व बढ़ जाता है; क्योंकि उनका स्वरूप युगानुरूप नहीं बदलता। डा० नगेन्द्र सांस्कृतिक उपलब्धियों और इतिहास की प्रवहमान अविच्छन्न धारा के महत्त्व को अनेक स्थलों पर स्वीकार कर चुके हैं। यही आकर उनके मत से साहित्य की और संस्कृति की परिधि और मान्यताएँ समान हो जाती हैं।

साहित्यिक प्रवृत्ति और साहित्य-चिन्तन के प्रवाह के विवेचन में डा० नगेन्द्र इतिहास और मनोविज्ञान की समन्वित उपलब्धियों से लाभ उठाते चलते हैं। मध्यम मार्ग के पथिक होने के कारण, डा० नगेन्द्र में मत-आग्रह और पाक्षिक मत-प्रतिपादन का तो अभाव है, परन्तु जहाँ भी सामाजिक और सांस्कृतिक दायित्व को निबाहने का प्रश्न आ जाता है, वे किसी भी सीमा पर जाकर उसका विरोध

करने के लिए तत्पर रहते हैं। आचार्य शुक्ल के साथ उनका सम्बन्ध स्नेहपूर्ण ही बन्ना रहा; परन्तु जहाँ भी अवसर आया है, नगेन्द्र, आचार्य शुक्ल की परिसीमाओं और भ्रान्त मतवादों के खण्डन की प्रवृत्ति को रोक नहीं पाये।

स्वस्थ आलोचक के व्यक्तित्व में इतनी सामर्थ्य तो होनी चाहिए कि वह दुराग्रह और भ्रान्ति से वच सके। रीतिकाल को जो सांस्कृतिक एवं राजनीतिक महत्त्व उन्होंने प्रदान किया, वह उनकी अध्ययन-वृत्ति का परिचायक है। संस्कृत-साहित्य का सूक्ष्म अनुशीलन कर क्रम, व्यवस्था और प्रामाणिकता के प्रतिपादन का जैसा सफल प्रयास डा० नगेन्द्र ने किया, वह किसी भी साहित्य की अमूल्य निधि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। जिस सामाजिक एवं राजनीतिक वातावरण में उन काव्य-शास्त्रों का निर्माण हुआ, उसका व्यवस्थित एवं ऐतिहासिक विवेचन डा० नगेन्द्र ने किया। पाश्चात्य काव्यशास्त्रों के ऐतिहासिक विवेचन, उनके निर्माण-काल की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थिति का विवेचन, संस्कृत-सम्प्रदायों तथा मतवादों की पाश्चात्य सम्प्रदायों एवं मतवादों से तुलना, तथा साम्य और वैपम्य की प्रामाणिकता, उस प्रामाणिकता का आधार, काव्य के विभिन्न अंगों का विवेचन आदि ऐसे विषय हैं जिन पर शास्त्रीय रीति से प्रथम बार विचार करने का श्रेय डा० नगेन्द्र को ही प्राप्त है।

संस्कृत और पाश्चात्य काव्यशास्त्रों का तुलनात्मक विवेचन करते समय जिस विवेक, बुद्धि और असाधारण प्रतिभा का परिचय डा० नगेन्द्र ने दिया, वह श्लाघनीय एवं स्पृहणीय है। परन्तु इतना सब होने पर नगेन्द्र में एकांगिता नहीं आने पायी। इस प्रकार के विवेचन में साम्प्रदायिकता का आ जाना स्वाभाविक है, परन्तु नगेन्द्र में उसका एकान्त अभाव है। डा० नगेन्द्र ने जो मत स्थापित किये हैं, उन्हें केवल शास्त्रीय आधार ही प्रदान नहीं किया गया, प्रत्युत तर्कों द्वारा उन्हें परिपुष्ट भी किया गया है।

‘भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा’ में सम्पूर्ण संस्कृत एवं हिन्दी काव्य-सिद्धान्तों के प्रतिपादक आचार्यों के मतों को एक व्यवस्थित क्रम में रखा गया है। काव्य-शास्त्र के मूल को भी प्रकाशित कर दिया गया है। मतवादों एवं सम्प्रदायों के विवेचन में प्राचीनता की प्रतिष्ठा पूर्ण रीति से सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया है। अनेक स्थलों पर पश्चिमी एवं पूर्वी मतों के साम्य की चर्चा भी की गई है। जैसा कि मैंने अनेक स्थलों पर संकेत किया है कि नगेन्द्र समन्वयवादी आलोचक हैं। यही उनकी समीक्षा-शैली की विशेषता है कि प्रत्येक स्थल पर पूर्व और पश्चिम के आदर्शों की प्रतिष्ठा सुरक्षित रखने का सफल प्रयास उनके द्वारा किया गया है। शास्त्रीय आलोचना के सन्दर्भ में उनकी ‘रीतिकाव्य की

भूमिका' का अपना अलग स्थान है। काफ़ी अधिक समय तक रीतिकाल हिन्दी-साहित्य में उपेक्षित-सा ही रहा, और उसे वह गौरव तथा महत्त्व प्राप्त नहीं हो सका, जो भक्ति-काल आदि को प्राप्त था। डा० नगेन्द्र ने प्रथम बार साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए रीतिकाल की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों के आधार पर उसका विवेचन किया।

डा० नगेन्द्र ने पश्चिमी मतों पर भी स्वतन्त्र रीति से लिखा है जो पर्याप्त व्यवस्थित एवं विद्वत्तापूर्ण है। 'विचार और विवेचन' तथा 'विचार और विश्लेषण' में उनके ऐसे अनेक निबन्ध संकलित हैं। पश्चिमी साहित्य की चिन्ताधारा से भारतीय मस्तिष्क का परिचय कराना डा० नगेन्द्र और डा० देवराज का ही कार्य है। डा० नगेन्द्र के आलोचना-साहित्य में पश्चिमी काव्य-मतों को पर्याप्त स्पष्टता प्राप्त हुई।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर भी डा० नगेन्द्र के विचार उल्लेख-योग्य हैं। आधुनिक साहित्य की चिन्ताधारा और प्रेरणा-सूत्रों को ग्रहण करने के लिए, उन्होंने उसके उत्स का निरूपण किया। बादों की पृष्ठभूमि के निर्माण में सहवर्ती साहित्य और विदेशी प्रभाव के महत्त्व को भी उन्होंने स्वीकार किया और तभी उनका विवेचन सुस्पष्ट और तर्कपुष्ट है। अभिव्यञ्जनावाद के विवेचन में नगेन्द्र ने केवल ऋचे तक सीमित न रहकर, सम-सामयिक परिस्थितियों के आलोक में उसका विवेचन किया है जिससे वह सुन्दर बन गया है। 'छायावाद' पर तो उसके जन्म से प्रहार हो रहे थे; 'प्रसाद', पन्त और महादेवी के स्पष्टीकरण के बाद भी न तो सामान्य जनता और न समीक्षक ही उनके तर्कों से सहमति प्रकट कर रहे थे। 'छायावाद' की चेतना को वे विदेशी समझते थे, और इसी कारण वह हेय भी समझी जाती थी। सर्वप्रथम नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावाद की चेतना, और उसके चिन्तन-पक्ष, उसके दार्शनिक आधार और काव्य-प्रारूप, तथा उसके कल्पना-पक्ष आदि के विवेचन-विश्लेषण का सफल प्रयास किया। डा० नगेन्द्र ने 'छायावाद' पर जिन प्रभावों—भक्तिकालीन कविता (कबीर, सूफी, मीरा, घनानन्द आदि) अँग्रेजी रोमाण्टिक पोइट्री, उर्दू की कविता—की चर्चा की, उससे यह स्पष्ट हो गया कि 'छायावाद' विदेशी परिस्थितियों में पल्लवित न होकर, भारतीय काव्य-चेतना का क्रमिक विकसित रूप है। 'प्रगतिवाद' के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास भी स्तुत्य कहा जा सकता है। प्रयोगवाद को जो शास्त्रीय आधार डा० नगेन्द्र ने प्रदान किया, वह उचित ही है।

साहित्य, संस्कृति और सभ्यता जन-जीवन और समाज के विभिन्न तत्त्वों से

पृथक् नहीं है; अपितु वह मानव-विकास का सबसे उत्कृष्ट प्रारूप एवं समाज का मूल आधार है। डा० नगेन्द्र का स्पष्ट मत है कि किसी देश अथवा काल के विकास-स्तर का अंकन अथवा मूल्यांकन संस्कृति, सभ्यता और साहित्य द्वारा ही किया जा सकता है। क्या काव्य-शास्त्र, क्या संस्कृत-साहित्य के सम्प्रदाय, क्या पश्चिमी साहित्य के विभिन्न मतवाद और क्या मध्यकालीन अथवा आधुनिक हिन्दी-साहित्य—सभी को डा० नगेन्द्र ने सभ्यता, संस्कृति और साहित्य की प्रेरक मूल चेतना के विकास-क्रम में परखा है। इस प्रकार की विश्लेषण-पद्धति का पहला प्रभाव तो यह हुआ कि साहित्य प्रवहमान हो गया और उसकी गति एवं अवरोध का स्पष्ट आभास हमें प्राप्त होने लगा। आधुनिक युग में इस प्रकार की ऐतिहासिक विवेचना-पद्धति का आविर्भाव तो हो चुका था; परन्तु जो वैशिष्ट्य और महत्त्व डा० नगेन्द्र के आलोचना-साहित्य में इस पद्धति को प्राप्त हुआ, उसका अन्यत्र एकान्त अभाव रहा है।

डा० नगेन्द्र ने समीक्षा को नये मान दिये, साहित्य को परखने की नवीन दृष्टि प्रदान की; आनन्द और कल्याण, वर्ग-संघर्ष और वर्ग-चेतना, घटना और साहित्य को नयी परिभाषाएँ दीं तथा उनकी परिसीमाओं और कलागत विशेषताओं का उल्लेख करते हुए साहित्य और समीक्षा को एक नवीन क्रम में सँजोया।

परिशिष्ट

डा० नगेन्द्र की मौलिक एवं सम्पादित पुस्तकों की अनुक्रमणिका

मौलिक :

- १ सुमित्रानन्दन पन्त
- २ साकेत : एक अध्ययन
- ३ आधुनिक हिन्दी नाटक
- ४ विचार और अनुभूति
- ५ विचार और विवेचन
- ६ विचार और विश्लेषण
- ७ आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ
- ८ रीतिकाव्य की भूमिका
- ९ देव और उनकी कविता
- १० भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका—भाग २, ११
- ११ अरस्तू का काव्यशास्त्र
- १२ काव्य में उदात्त तत्त्व

सम्पादित :

- १ हिन्दी ध्वन्यालोक
- २ हिन्दी काव्यालंकारसूत्र
- ३ हिन्दी वक्रोक्तिजीवित
- ४ भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा
- ५ कवि-भारती
- ६ रीति-शृंगार
- ७ भारतीय नाट्य-साहित्य
- ८ भारतीय वाङ्मय
- ९ हिन्दी-साहित्य का बृहद् इतिहास : भाग ६
- १० हिन्दी काव्यप्रकाश

- ११ हिन्दी अभिनवभारती
 १२ हिन्दी नाट्यदर्पण
 १३ पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा
 १४ Indian Literature (अंग्रेजी), आदि

परिशीलित ग्रन्थावली

हिन्दी

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशक संस्करण
१ हिन्दी-साहित्य	डा० श्यामसुन्दरदास	दशम संस्करण, २०१३सं०, इण्डियन प्रेस, प्रयाग
२ हिन्दी-साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण सं० २००३ वि०, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी
३ हिन्दी-साहित्य	डा० हूजारीप्रसाद द्विवेदी	अतरचन्द कपूर एण्ड संस, देहली, सन् १९५२
४ विचार और वितर्क	„	द्वितीय संस्करण
५ अशोक के फूल	„	प्रथम संस्करण
६ विचार-प्रवाह	„	प्रथम संस्करण
७ सूफी मत और साहित्य	डा० विमलकुमार जैन	आत्माराम एण्ड संस, १९५५
८ संस्कृति के चार अध्याय	रामधारीसिंह 'दिनकर'	राजपाल एण्ड सन्स, १९५६
९ समीक्षाशास्त्र	सीताराम चतुर्वेदी	प्रथम संस्करण
१० हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डा० रामकुमार वर्मा	रामनारायणलाल, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, १९५४
११ हिन्दी-काव्य में प्रगतिवाद	प्रो० विजयशंकर मल्ल	संशोधित संस्करण, सरस्वती मन्दिर, जतनवर, बनारस

१२	हिन्दी के आलोचक	सं० शचीरानी गुटू	प्रथम संस्करण, आत्माराम एण्ड सन्स
१३	सिद्धान्त और अध्ययन	गुलाबराय	प्रथम संस्करण, ,,
१४	साहित्य-विवेचन	क्षेमचन्द्र सुमन और योगेन्द्रकुमार मलिक	प्रथम संस्करण, ,,
१५	आलोचना—इति- हास और सिद्धान्त	एस० पी० खत्री	प्र० सं०, राजकमल, दिल्ली
१६	नया साहित्य : नये नन्ददुलारे वाजपेयी प्रश्न		विद्यामन्दिर, ब्रह्मनाल, बनारस
१७	आधुनिक साहित्य	,,	प्र० सं०, भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद
१८	हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी	,,	प्रथम संस्करण, ,,
१९	आधुनिक हिन्दी- साहित्य का विकास	डा० श्रीकृष्णलाल	द्वि० संस्करण, हिन्दी- परिषद्, प्रयाग
२०	साहित्यानुशीलन	शिवदानसिंह चौहान	प्र० सं०, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
२१	आलोचना के सिद्धान्त	व्यौहार राजेन्द्रसिंह	तृतीय संस्करण,
२२	अनुसंधान का स्वरूप	डा० सावित्री सिन्हा	प्र० संस्करण,
२३	साहित्य-दर्शन	शचीरानी गुटू	प्र० संस्करण,
२४	हिन्दी साहित्य की कहानी	रामरतन भटनागर	द्वि० सं०, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
२५	रस-मीमांसा	आ० रामचन्द्र शुक्ल	प्रथम संस्करण
२६	काव्य-शास्त्र	डा० भगीरथ मिश्र	,, ,,
२७	साहित्यालोचन	डा० श्यामसुन्दर दास	,, ,,
२८	रूपक रहस्य	,,	,, ,,
२९	काव्य के रूप	बाबू गुलाबराय	,, ,,
३०	नवरस	बाबू गुलाबराय	,, ,,
३१	चिन्तामणि, भाग १	आ० रामचन्द्र शुक्ल	,, ,,

३२. संस्कृत-साहित्य का इतिहास	कन्हैयालाल पोद्दार	द्वि० सं०, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी
३३. भारतीय साहित्य-शास्त्र	बलदेव उपाध्याय	द्वि० सं०, प्रसाद-परिषद्, काशी
३४. सम आस्पेक्ट्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़म इन संस्कृत	डा० शंकरन्	प्रथम संस्करण
३५. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध	जयशंकर 'प्रसाद'	तृ० सं०, सं० २००५ भारती-भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग ।
३६. नई समीक्षा	अमृतराय	प्रथम संस्करण
३७. प्रगतिवाद की रूपरेखा	मन्मथनाथ गुप्त	प्र० सं०, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
३८. रोमाण्टिक साहित्य-शास्त्र	डा० देवराज	प्रथम संस्करण
३९. साहित्य की परख	शिवदानसिंह चौहान	प्रथम संस्करण
४०. हिन्दी-कविता में छायावाद	दीनानाथ 'शरण'	प्रथम संस्करण
४१. हिन्दी-कविता में युगान्तर	डा० सुधीन्द्र	—
४२. पन्त का आधुनिक कवि	फूलचन्द्र पाँडे	—
४३. छायावाद का पतन	डा० देवराज	—
४४. आधुनिक कवि, भाग २	पन्त	प्रथम संस्करण
४५. रश्मिबन्ध	पन्त	प्रथम संस्करण
४६. छायावाद और प्रगतिवाद	सं० देवेन्द्रनाथ	प्रथम संस्करण
४७. कवि सुमित्रानन्दन पंत और उनका प्रतिनिधि काव्य	प्रो० शिवनन्दन प्रसाद	
४८. साहित्य-मीमांसा	डा० सूर्यकान्त	प्रथम संस्करण

४६. महाकवि सूरदास	नन्ददुलारे वाजपेयी	प्रथम संस्करण
५०. आधुनिक कवि, भाग १	महादेवी वर्मा	प्रथम संस्करण
५१. छायावाद	डा० रामरत्न भटनागर	प्रथम संस्करण
५२. पाश्चात्य समीक्षा की आधुनिक प्रवृत्तियाँ	डा० जयकान्त मिश्र	प्रथम संस्करण
५३. जसवंतजसोभूषण	कविराजा मुरारिदान	प्र० सं०, १९५० वि०
५४. काव्यप्रभाकर	जगन्नाथप्रसाद 'भानु'	प्र०सं०, १९६६ वि०
५५. छन्दप्रभाकर	जगन्नाथप्रसाद 'भानु'	प्रथम संस्करण
५६. अलंकारमंजूषा	लाला भगवानदीन	प्र०सं०, १९७३ वि०
५७. भारतीभूषण	अर्जुनदास केडिया	प्र०सं०, १९८७ वि०
५८. अलंकारमंजरी	कन्हैयालाल पोद्दार	प्र०सं०, १९८० वि०
५९. काव्यदर्पण	रामदहिन मिश्र	—
६०. रस-कलश	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	प्र०सं०, १९३१ ई०
६१. समीक्षाशास्त्र	डा० दशरथ ओभा	प्रथम संस्करण
६२. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड	डा० रांगेय राघव	प्र०सं०, १९५४ ई०
६३. छायावाद-युग	शम्भूनाथसिंह	प्र०सं०, १९५२ ई० सरस्वती-मन्दिर, जतनवर, बनारस
६४. निबन्धिनी	गंगाप्रसाद पाण्डेय	राजकमल, दिल्ली
६५. विदेशों के महाकाव्य	गोपीकृष्ण	प्र० सं०, १९४६ ई० साहित्य-भवन, प्रयाग
६६. समीक्षा के सिद्धान्त	डा० सत्येन्द्र	प्र० सं०, १९५२, मेहरचन्द मुंशीराम, फैज बाजार, दिल्ली
६७. कला और सौन्दर्य	रामकृष्ण शुक्ल	आत्माराम एण्ड सन्स
६८. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त	डा० गोविन्द त्रिगुणायत	भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली

६६. हिन्दी-काव्य पर ग्रॉगल प्रभाव	डा० रवीन्द्र- सहाय वर्मा	प्र०सं०, २०११ वि० पद्मजा प्रकाशन, कानपुर
७०. कल्पलता	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	प्र०सं०, ज्ञानमण्डल, बनारस
७१. उच्च विषयक लेख माला	नलिनीमोहन सान्याल	प्र० सं०, रामनारायणलाल, इलाहाबाद
७२. मीमांसिका	शिवनाथ	प्र०सं०, १९५१ ई० किताबमहल
७३. अध्ययन	डा० भगीरथ मिश्र	प्रथम संस्करण
७४. संस्कृति और साहित्य	डा० रामविलास शर्मा	किताबमहल, इलाहाबाद
७५. हिन्दी-साहित्य : प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ	प्रो० शिवनन्दनप्रसाद	अजन्ता प्रेस, पटना

संस्कृत

१. अग्निपुराण
२. तैत्तिरीय उपनिषद्
३. छान्दोग्य उपनिषद्
४. अभिनवगुप्तपादाचार्य : ध्वन्यालोकलोचन
५. आनन्दवर्धनाचार्य : ध्वन्यालोक
६. उद्भट : काव्यालंकारसारसंग्रह
७. मम्मट : काव्यप्रकाश
८. दण्डी : काव्यादर्श
९. वाग्भट : काव्यानुशासन
१०. रुद्रट : काव्यालंकार
११. वामन : काव्यालंकारसूत्र
१२. भट्टनायक : हृदयदर्पण
१३. पण्डितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर
१४. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र
१५. भामह : काव्यालंकार
१६. भोजदेव : सरस्वतीकण्ठाभरण

१७. विश्वनाथ	: साहित्यदर्पण
१८. भोजदेव	: समरांगणसूत्र
१९. राजशेखर	: काव्यमीमांसा
२०. कुन्तक	: वक्रोक्तिजीवितम्
२१. क्षेमेन्द्र	: कविकण्ठाभरण
२२. रुय्यक	: अलंकारसर्वस्व

अंग्रेज़ी

1. A History of English — Crompton Ricket Literature
2. A History of English — Legious, Cazamian Literature
3. Culture of Man — Lewis Humford
4. Culture of Cities — Lewis Humford
5. Guide to the Modern — C. M. Joad Thought
6. Surr Realism — Herbert Read
7. The Tenth Muse — Herbert Read
8. New Realism — Stephen Spender
9. English Literature — G. M. Mair, A. C. Ward
10. A History of English — Ifor Evans Literature
11. The Beginnings of the — Phelps Romantic Movement
12. Victorian Age in Litera- — G. K. C' ture
13. The Making of Litera- — Sco ture
14. Greek Literary Criticism — Atkil tion.
15. The use of Poetry — T. S. Elio

- | | | | |
|-----|---------------------------------------|---|---|
| 16. | The Sacred Wood | — | T. S. Eliot—1st edition |
| 17. | Selected Essays | — | T. S. Eliot—Revised edition |
| 18. | The Poetics | — | Aristotle |
| 19. | The Poetics & the Theory of Fine Arts | — | Butcher. |
| 20. | The Poetics | — | John Drinkwater—Revised Edition. |
| 21. | Aristotle's Poetics | — | Humphry House 1st edition. |
| 22. | Apology for Poetry | — | Philip Sidney |
| 23. | Essay on Dramatic Poesy. | — | Dryden |
| 24. | Aesthetics | — | B. Croce. |
| 25. | Philosophy of Mind or Spirit | — | Benedetto Croce |
| 26. | Philosophy of Benedetto Croce | — | — |
| 27. | The Republic | — | Plato |
| 28. | Poems. | — | John Donne, Herbert, Crosha, Vaughan, Cowley. |
| | Tracts on Marriage | — | John Milton |
| | Lives of Poets | — | Dr. Johnson |
| | Avant Omar | — | — |
| | Literaria | — | S. T. Coleridge. |
| | Lyrical | — | William Wordsworth |
| | 10 Poems | — | Matthew Arnold |
| | in Criticism | — | Matthew Arnold |
| | | — | De Queney |

- | | | |
|---|---|--------------------|
| 37. Greek Literary Criticism | — | W. Roberts |
| 38. Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit | — | Dr. Sankaran |
| 39. What is Art & other Essays | — | Leo Tolstoy |
| 40. Principles of Literary Criticism | — | I. A. Richards |
| 41. Practical Criticism | — | I. A. Richards |
| 42. Reading & Discrimination | — | Denys Thompson |
| 43. Origin and the Growth of Species | — | Charles Darwin |
| 44. Towards the 20th Century | — | H. V. Routh |
| 45. Twentieth Century Literature | — | A. C. Ward |
| 46. English Poets—IV and V Volume | — | T. H. Ward |
| 47. World Classics | — | — |
| 48. The Romantic Theory of Poetry : An Examination in the light of Croce's Aesthetics | — | Miss Powell |
| 49. Principles of Literary Criticism—Creative imagination | — | Downe |
| 50. Drama | — | Ashley Duekes |
| 51. Elements of Psychology. | — | Mellone & Drummond |
| 52. Essays & Studies | — | Swinburn |

पत्र-पत्रिकाएँ

१. माधुरी, लखनऊ
२. वीणा
३. चाँद, इलाहाबाद
४. कल्पना—हैदराबाद
५. सरस्वती—प्रयाग
६. अवन्तिका—पटना
७. पारिजात—पटना
८. आलोचना—दिल्ली
९. साहित्य-सन्देश—आगरा
१०. ज्ञानोदय—कलकत्ता
११. सरिता—दिल्ली
१२. नवनीत—बम्बई
१३. निकष—दिल्ली
१४. आकाशवाणी विविधा—दिल्ली
१५. सुप्रभात—प्रयाग
१६. विशाल भारत—कलकत्ता
१७. आजकल—दिल्ली
१८. मुक्ता—प्रयाग
१९. प्रेमा—जबलपुर
२०. साप्ताहिक हिन्दुस्तान—दिल्ली
२१. धर्मयुग—बम्बई
२२. संगम—प्रयाग
२३. वसुधा—जबलपुर
२४. नई कहानियाँ

